अदिति

सम्पादक
आचार्य अभयदेव जी विद्यालंकार

प्रकाशक
श्रीअरविंद निकेतन
कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया।

२४ नवम्बर १९४३ के
श्रीअरविन्द-दर्शन
के उपलक्ष मे
भेंट

विषय-सू॰

प्रार्थना व ध्यान

(१)

हे प्रभु ! हे अद्वितीय सद्वस्तु ! हे ज्योतिकी ज्योति और जीवन का जीवन ! हे संसाररक्षक परम प्रेम ! ऐसी कृपा कर कि हम तेरी अविच्छिन्न उपस्थितिकी सचेतनतामें अधिकाधिक पूर्णता के साथ जागृत हो सकें, जिसमें हमारे सारे कर्म तेरे विधानके अनुकूल हो जाय तथा हमारी इच्छा और तेरी इच्छाके बीच कोई भेद न रह जाय। हे प्रभु ! हम इस भ्रमात्मिका चेतना से बाहर निकलना चाहते हैं, इस छाया-दृश्य वाले जगत से मुक्त होना चाहते हैं, जिसमें हमारी चेतना उस निर्विशेष चेतना के साथ, जो कि तू है, एकात्मता प्राप्त कर ले।

हे प्रभु ! लक्ष्य प्राप्त करने के हमारे संकल्प को स्थायित्व प्रदान कर, दृढता और शक्ति प्रदान कर तथा वह साहस प्रदान कर जो समस्त निर्बलता और शिथिलता को एकदम दूर कर दे।

हे प्रभु ! मैं तुझ से प्रार्थना कर रही हूँ, ऐसी कृपा कर कि मेरी सत्ताके सभी अंग तेरे साथ एक हो जाय और अब मैं तेरी परम क्रियाशीलताके प्रति पूर्ण जागृत प्रेमकी एक ज्योतिशिखा मात्र रह जाऊं।

१५ फरवरी १९१४

(२)

दिव्य प्रेम बन जाना, शक्तिमान्, अनन्त, अगाध दिव्य प्रेम बन जाना अपनी सत्ता की सभी क्रियाओं में और सभी लोकों में यही वह चीज है, नाथ, जिसके लिये मैं तुझ से याचना कर रही हूँ, ऐसी कृपा कर कि मैं एकदम प्रज्वलित हो उठूं उस दिव्य प्रेमसे, शक्तिमान, अनन्त, अगाध दिव्य प्रेम से अपनी सत्ता की सभी क्रियाओं में और सभी लोकों में, मुझे परिणत करदे उस उद्दीप्त अग्निकुंड के रूपमें, जिसमें समस्त पृथ्वी का वातावरण विशुद्ध हो जाय।

ओ ! तेरा प्रेम बन जाना अनन्त रूपमें ।

२७ अगस्त १९१४

—मूल फ्रेंचसे अनूदित

माताजी के वचन

जगत् की वर्तमान अवस्थामें यह अपरिहार्य आवश्यकता हो गई है कि हम भगवान् के प्रति सर्वथा सच्चे और निष्ठावान हों।

यदि तुम भगवान् के, और उन गुरु के जो भगवान को अभिव्यक्त करते हैं, विधेय तथा समर्पित सेवक बनने से इन्कार करते हो तो इसका मतलब यह है कि तुम अपने अहंकार, अपने घमण्ड, अपनी उद्धत महत्त्वाकांक्षा के दास बने रहोगे और उन राक्षसों के हाथमें खिलौने बने रहोगे जो कि तुम पर अपना कब्जा जमा लेने के यत्न में—जो उनका यत्न सदा असफल नहीं होता—तुम्हें चमकीली आकृतियों द्वारा प्रलोभित किया करते हैं।

सन्देह कोई खेल नहीं है जिसमें कि बिना हानि उठाये रत रहा जा सके, यह एक विष है जो कि बूंद बूंद करके आत्मा को क्षीण कर देता है।

(ये वचन माताजी ने अभी इस नवम्बर दर्शन पर आरम्भ होने वाले Advent पत्र के लिये दिये हैं, इन्हें हम हिन्दी में अग्निशिखा के पाठकों को भी सुना रहे हैं।)

बलिदान या समर्पण ?

"क्या समर्पण वही वस्तु नहीं है जो कि बलिदान है ?"

हमारे योगमे बलिदान के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि तुम बलिदान शब्द का क्या अर्थ लगाते हो। इसका जो विशुद्ध भाव है उसके अनुसार इस शब्द का अर्थ है उत्सर्गपूत दान, भगवानके अर्पण द्वारा पवित्रीकरण। परन्तु इसका जो प्रचलित अर्थ आजकल है उसके अनुसार बलिदान कुछ ऐसी वस्तु है जो विनाशके लिए प्रवृत्त है, यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिए हुए है। इस प्रकार का बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्म वंचन है, आत्म-वध है। तुम किस चीजका बलिदान करते हो ? तुम अपनी सभावनाओं का, अपने व्यक्तित्व की अत्यत जडप्राकृतिक भूमिकासे लेकर अत्यत आध्यात्मिक भूमिकाओंतक की सभावनाओं और सिद्धियोंका बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ताको क्षीण करता है। भौतिक रूपसे, यदि तुम अपने जीवनका, अपने शरीरका बलिदान करते हो, तो इस कार्यद्वारा तुम पार्थिव भूमिकापर की अपनी समस्त सम्भावनाओंको त्याग देते हो तुम अपने पार्थिव जीवनकी सफलताओंसे हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टिसे तुम अपने जीवनकी बलि दे सकते हो, और तब तुम अपने आतरिक जीवनकी विशालता और स्वतन्त्र चरितार्थता को त्याग देते हो। आत्म-बलिकी इस भावनाके अन्दर सदा ही एक प्रकार के बलात्कार का, किसी तरह की बनावटका, किसी अध्यारोपित आत्म-त्यागका भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जिस मे आत्माकी गभीरतर और विशालतर स्वतःस्फूर्तियोंके लिए कोई स्थान नहीं होता।

समर्पणसे हमारा आशय यह नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त आत्म दान है; भगवान को, किसी महत्तर चेतनाको जिसके कि तुम एक अग ही हो, दे देना है। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि वह तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्वको घटावेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा न उसका नाश करेगा, बल्कि वह उसको मजबूत

और सुरक्षित बनायेगा, उसको उन्नत करेगा। समर्पण का अर्थ है दानके पूर्ण आनंद के साथ मुक्त भावसे और पूर्णरूप से दे देना, इसके अन्दर बलिदान का कोई भाव नहीं है। यदि तुममें जरासा भी ऐसा भाव होता है कि तुम कोई बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। कारण इस बात का तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाकर रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अपने दानको अनिच्छासे या कष्ट और संघर्ष के साथ करने की चेष्टा कर रहे हो और तुम अपने दानसे प्रसन्न नहीं हो, शायद तुम में यह भाव भी न हो कि तुम दान कर रहे हो। जब कभी तुम किसी कामको अपने जी को भींचकर करते होओ तभी तुम्हें यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिए कि तुम उस कामको गलत तरीके पर कर रहे हो।

सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता की वृद्धि करता है, तुम्हारे गुण और मात्राको इतने अधिक परिमाणमें बढ़ाता है जितना कि तुम स्वयं नहीं बढ़ा सकते थे। और गुण और मात्रा की यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सके होगे उससे भिन्न प्रकार की होती है। अब तुम किसी दूसरे ही जगत् में, किसी विशालता में प्रवेश कर जाते हो, जिसके अन्दर तुम समर्पण किए बिना नहीं पहुच सकते थे। इस बातको ऐसा ही समझो, जैसे कि समुद्रमें गिरी हुई जल की एक बूंद। यदि वहां भी वह बूंद अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखे तो वह जल की एक छोटीसी बूंद ही बनी रहेगी, इससे अधिक और कुछ नहीं बन सकेगी, एक छोटीसी बूंद जिसे इर्द गिर्दकी अपार विशालता कुचल रही होगी, कारण उसने समर्पण नहीं किया है। परन्तु समर्पण करने द्वारा वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालताका अंग बन जाती है।

इस समर्पणसम्बन्धी गति में किसी तरह की भी सन्दिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट होती है बलवान होती है और निश्चित होती है। यदि कोई छोटासा मानव मन भागवत विराट् मन के सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्व से चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटासा परिसीमित पदार्थ जो उसतर सद्वस्तु के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसकी स्वर्ग तक को नहीं पा सकता। ये दोनों एक दूसरे से अलग बने रहते हैं और गुणरूप में सदा

मात्रारूप से भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हैं। परन्तु यदि वह छोटासा मानव-मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मन में निमग्न हो जायगा, गुण और मात्रामें भी उस के साथ एक हो जायगा। और इस कार्य में यदि वह कुछ खोवेगा तो केवल अपनी सीमाओं को और अपनी विकृतियों को और इस से पा लेगा अपनी विशालता को और प्रकाशमान विमलता को। उस के इस छोटे से अस्तित्वका अपना स्वभाव बदल जायगा और जिस महत्तर सत्य को वह समर्पण करता है उस के स्वभाव को वह धारण कर लेगा। परन्तु यदि वह विराट् मन का प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उसके विरुद्ध विप्लव करे, तो इस का तो यही परिणाम होगा कि इन दोनों के बीच एक लडाई छिड जायगी और विराट् मन का मानव मन पर दबाव पडेगा और इस संग्राम में जो निर्बल और छोटा है वह बलवान और बडेकी शक्तिमत्ता और अमिततामें समा जाय, इस के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यदि वह समर्पण नहीं करता तो फिर उसकी दूसरी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाय और उसका अन्त हो जाय।

जो मानव प्राणी भागवत मन के संस्पर्श में आवेगा और समर्पण करेगा वह यह पावेगा कि उस का अपना मन उस के जो अपने अज्ञान और अन्धकार हैं उन से तुरन्त शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मन की शक्ति और ज्ञान में भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने खडा रहे, किंतु पृथक् भाव से, बिना किसी संस्पर्श के, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालता में एक जल की बूंद। और यदि वह विप्लव करे तो वह अपने मन को गवा देगा, उस की शक्तियां क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायगी।

यह बात जैसे मन के लिये सत्य है वैसे ही प्रकृति के अन्य सब भागों के लिये भी सत्य है। यों समझो कि यदि तुम किसी ऐसे मनुष्य के साथ लड़ो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा पड़ता है, तो ऐसी लड़ाई का फल यही होगा कि तुम अपना सिर फूटा हुआ पाओगे। उस चीज से तुम क्योंकर लड़ सकते हो जो तुम से लाखों गुनी बलवान् है? प्रत्येक बार जब तुम विप्लव करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुंचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्ति के एक भाग को हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसी कि उस समय होती है जब कोई अपने से बहुत अधिक बलवान प्रतिद्वन्द्वी के साथ मुष्टियुद्ध में उतरता है, वह घूसे पर घूसा खाता है और हरेक

और सुरक्षित बनावेगा, उसको बृहत करेगा। समर्पण का अर्थ है दानके पूर्ण आनन्द के साथ मुक्त भावसे और पर्णरूप से दे देना, इसके अन्दर बलिदान का कोई भाव नहीं है। यदि तुममे जरासा भी ऐसा भाव होता है कि तुम कोई बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। कारण इस बात का तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाकर रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अपने दानको अनिच्छासे या कष्ट और संघर्ष के साथ करने की चेष्टा कर रहे हो और तुम अपने दानसे प्रसन्न नहीं हो, शायद तुम मे यह भाव भी न हो कि तुम दान कर रहे हो। जब कभी तुम किसी कामको अपने जी को भींचकर करते होओ तभी तुम्हे यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिए कि तुम उस कामको गलत तरीके पर कर रहे हो।

सच्चा समर्पण तुम्हे विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता की वृद्धि करता है, तुम्हारे गुण और मात्राको इतने अधिक परिमाणमे बढाता है जितना कि तुम स्वय नहीं बढा सकते थे। और गुण और मात्रा की यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सके होगे उससे भिन्न प्रकार की होती है। अब तुम किसी दूसरे ही जगत में, किसी विशालता मे प्रवेश कर जाते हो, जिसके अन्दर तुम समर्पण किए बिना नहीं पहुच सकते थे। इस बातको ऐसा ही समझो, जैसे कि समुद्रमें गिरी हुइ जल की एक बूद। यदि वहा भी वह बूद अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखे तो वह जल की एक छोटीसी बूद ही बनी रहेगी, इससे अधिक और कुछ नहीं बन सकेगी, एक छोटीसी बूद जिसे इर्द गिर्दकी अपार विशालता कुचल रही होगी, कारण उसने समर्पण नहीं किया है। परन्तु समर्पण करने द्वारा वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालताका अग बन जाती है।

इस समर्पणसम्बन्धी गति मे किसी तरह की भी सन्दिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट होती है, बलवान् होती है और निश्चित होती है। यदि कोई छोटासा मानव मन भागवत विराट मन के सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्व से चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटासा परिसीमित पदार्थ जो उच्चतर सद्वस्तु के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसके स्पर्श तक को नहीं पा सकता। ये दोनों एक दूसरे से अलग बने रहते हैं और गुणरूप से तथा

मात्रारूप से भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हैं। परन्तु यदि वह छोटासा मानव-मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मन मे निमग्न हो जायगा, गुण और मात्रामे भी उस के साथ एक हो जायगा। और इस कार्य मे यदि वह कुछ खोवेगा तो केवल अपनी सीमाओं को और अपनी विकृतियों को और इस से पा लेगा अपनी विशालता को और प्रकाशमान विमलता को। उस के इस छोटे से अस्तित्वका अपना स्वभाव बदल जायगा और जिस महत्तर सत्य को वह समर्पण करता है उस के स्वभाव को वह धारण कर लेगा। परन्तु यदि वह विराट् मन का प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उस के विरुद्ध विप्लव करे, तो इस का तो यही परिणाम होगा कि इन दोनों के बीच एक लड़ाई छिड़ जायगी और विराट् मन का मानव मन पर दबाव पड़ेगा और इस संग्राम मे जो निर्बल और छोटा है वह बलवान और बड़ेकी शक्तिमत्ता और अमिततामे समा जाय, इस के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यदि वह समर्पण नहीं करता तो फिर उसकी दूसरी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाय और उसका अन्त हो जाय।

जो मानव प्राणी भागवत मन के संस्पर्श मे आवेगा और समर्पण करेगा वह यह पावेगा कि उस का अपना मन उस के जो अपने अज्ञान और अन्धकार हैं उन से तुरन्त शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मन की शक्ति और ज्ञान मे भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने खडा रहे, किंतु पृथक् भाव से, विना किसी संस्पर्श के, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालता मे एक जल की बूंद। और यदि वह विप्लव करे तो वह अपने मन को गवा देगा, उस की शक्तिया क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायगी।

यह बात जैसे मन के लिये सत्य है वैसे ही प्रकृति के अन्य सब भागों के लिये भी सत्य है। यों समझो कि यदि तुम किसी ऐसे मनुष्य के साथ लडो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा पड़ता है, तो ऐसी लड़ाई का फल यही होगा कि तुम अपना सिर फूटा हुआ पाओगे। उस चीज से तुम क्योंकर लड़ सकते हो जो तुम से लाखों गुनी बलवान है? प्रत्येक बार जब तुम विप्लव करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्ति के एक भाग को हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसी कि उस समय होती है जब कोई अपने से बहुत अधिक बलवान प्रतिद्वन्द्वी के साथ मुष्टियुद्ध में उतरता है, वह घूसे पर घूसा खाता है और हरेक

घर्षण उसको अधिकाधिक कमजोर बनाता जाता है और अन्त में वह मैदान से भगा दिया जाता है। ऐसा करने के लिये किसी सचेतनशक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती, यह काम आप-से-आप हो जाता है। यदि तुम विशालता के विरुद्ध विप्लव कर के उस से टकराओ तो सिवाय इस के और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता।

जब तक तुम अपने ही कोने में पड़े रहते और साधारण जीवन बिताते रहते हो तब तक तुम्हें कोई नहीं छूता या कोई तुम पर चोट नहीं करता, किंतु जहां तुम भगवान् के सम्पर्क में आये कि तुम्हारे लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं। या तो यह कि तुम समर्पण करो और उस में अपने-आप को घुला दो—तो तुम्हारा समर्पण तुम्हें विशाल करेगा और तुम्हें महिमान्वित करेगा, या फिर तुम विद्रोह करो—तो तुम्हारी सब सम्भावनाएं समाप्त हो जायगी और तुम्हारी शक्तियां क्षीण होकर नष्ट होने लगेंगी और तुममें से खिंचकर उस देव में समा जायगी जिस का कि तुम विरोध कर रहे हो।

समर्पण के विषय में बहुत से भ्रांत विचार फैले हुए हैं। अधिकांश लोग ऐसा समझते दीखते हैं कि समर्पण करने का अर्थ है व्यक्तित्व का विसर्जन, किंतु यह एक गहरी भूल है, कारण व्यक्ति के अस्तित्व का प्रयोजन यह है कि वह भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति करे और इस पहलू के स्वभावगत धर्म का प्रकाशन होना ही वह वस्तु है जिस से कि उस के व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिये भगवान् की ओर उचित भाव रखने से व्यक्तित्व तो उस को धूमिल और विकृत करनेवाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और वह एक ऐसा सच्चा व्यक्तित्व बन जाता है जो अधिक शक्तिसम्पन्न होता है, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण होता है। अब उस के व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगता है, उस का चरित्र अधिक यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय सम्भव नहीं होता जब कि वह सारे अज्ञान और अन्धकार से, निम्न प्रकृति की सारी गन्दगी और खोट से मिला हुआ होता है। अब उस का व्यक्तित्व ऊंचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है,

उस की क्षमता मे वृद्धि हो जाती है तथा उस की अधिकांश सम्भावनाए सिद्ध होने लगती हैं। परन्तु जिस से कि उस मे यह उत्कृष्टतादायक परिवर्तन हो सके इस के लिये व्यक्तित्व को पहले उस सब कुछ का त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करने के द्वारा उस के सच्चे व्यक्तित्व को बधन मे डालता, नीचे की ओर गिराता तथा विरूप बनाता है; उस को अपने-आप मे से उन सब को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमय निम्न क्रियाओं से तथा उस के अधे-लगडे साधारण जीवन से सबन्ध रखते हैं। और सब से पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा, कारण कामना निम्न प्रकृति की सब से अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न करती है। कामनाए दुर्बलता और अज्ञानकी गतियों से उत्पन्न होती हैं और ये तुममे जो कुछ दुर्बलता है, तथा तुमम जो कुछ अज्ञान है उससे तुम्हे बाधे रखती हैं। लोगोंकी धारणा ऐसी है कि कामनाए उनके अपने अन्दर उत्पन्न होती है, वे ऐसा महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आपमेसे पैदा होती है या उन के अपने अ दरसे उठती हैं, किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। कामनाए अन्धकार-ग्रस्त निम्न प्रकृतिके विशाल समुद्र की लहरें हैं और ये एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिमे पहुचती रहती है। मनुष्य कामना को अपने आप मे से पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उनपर चढ आया करती हैं और जो कोई भी इनके लिए खुला हुआ होता है या जिस ने अपने बचाव का प्रबन्ध नहीं किया होता, वह इन की पकड़ मे आ जाता है और इन के थपेड़ों को खाता हुआ इधर से उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्य को अभिभूत करके और उसपर अधिकार करके उसे विवेक करने लायक नहीं रहने देती और उसमे ऐसी धारणा जमा देती है कि इस (कामना) की अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभावका एक अग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्यके सत्य स्वभावके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगों के सबन्धमे यही समझना चाहिए। ये भी वे गतिया हैं जो तुम्हे अपने कब्जे मे कर लेती है, वे लहरें है जो तुमपर चढ आती और आक्रमण करती हैं, इनका सत्य चरित्र या सत्य स्वभावसे कोई सबन्ध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बनाती हैं। ये तुम्हारा

वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि निम्न प्रकृतिकी शक्तियां जिसमें विचरण करती हैं उस इर्द-गिर्दके अन्धकारमय समुद्रमेंसे पैदा होती हैं। इन कामनाओंमें, इन आवेशोंमें व्यक्तित्वसंबंधी कुछ नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओंमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो तुम्हारे लिए खास हो, ये तो इसी रूपमें सभी किसीके अन्दर प्रकट होती हैं।

—मातृवाणी से

श्रीअरविन्द-वाणी—

विचार और झांकियां

कुछ लोग इसे धृष्टता समझते हैं कि किसी विशेष **ईश्वरीय विधान** में विश्वास किया जाय या अपने आप को **भगवान्** के हाथों में एक उपकरण समझा जाय। पर मैं देखता हूं कि प्रत्येक मनुष्य को **ईश्वर-विहित** विशेष रक्षण प्राप्त है और साथ ही यह भी देखता हूं कि **भगवान्** मजदूर के कुदाल को चलाता है और वही एक नन्हें बालक के मुंह में तुतलाता है।

ईश्वर-विहित रक्षण वही नहीं है जो कि टूटी हुई नैया से जिस में कि और सब डूब जाते हैं मुझे बचा लेता है, वह भी **ईश्वरीय रक्षण** है जो मेरी सुरक्षा के अन्तिम तख्ते को मुझ से छीन लेता है और मुझे जनशून्य महासागर में डुबो देता है जब कि और सब बच जाते हैं।

संघर्ष और कष्टसहन के प्रति आकर्षण की अपेक्षा कभी कभी विजय का आनन्द कम होता है। तो भी विजय के लिये अग्रसर हुई माननीय आत्मा का लक्ष्य विजयमाल होनी चाहिये न कि सूली।

वे आत्मायें जो ऊंचे उठने की कोई विशेष अभीप्सा नहीं करतीं **परमेश्वर** की असफल कृति हैं। पर **प्रकृति** उन से प्रसन्न होती है

और उनकी संख्या-वृद्धि करना चाहती हैं क्योंकि वे उसे उसकी स्थायिता का भरोसा बंधाते हैं और उस के साम्राज्य को दीर्घायु करते हैं।

वे जो कि दरिद्र हैं, अज्ञानी हैं, अकुलीन हैं, विनयशिक्षारहित हैं, जनसाधारण नहीं हैं, बल्कि जनसाधारण वे सब हैं जो क्षुद्रता में और साधारण मानवीयता में संतुष्ट रहते हैं।

मनुष्यों की सहायता करो, पर उन्हें उन की शक्ति से वञ्चित मत कर दो। मनुष्यों का पथप्रदर्शन करो और उन्हें शिक्षित करो, लेकिन ध्यान रखो कि उनकी उपक्रम-शक्ति और उनकी मौलिकता अक्षुण्ण बनी रहें। दूसरों को अपने में ले लो, मिला लो, पर बदले में उन्हें उन के अपने अपने स्वभाव का पूर्ण दिव्यत्व प्रदान करो। वही जो यह सब कर सकता है नेता और गुरु है।

परमेश्वर ने संसार को एक युद्ध का क्षेत्र बनाया है जिसमें प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं और जिसमें बड़ी पकड़-धकड़ और संघर्ष की पुकारें उठ रही हैं। क्या तुम **ईश्वरीय** शान्ति को यहीं अपहरण कर लेना चाहते हो, इसके उस मूल्य के बिना चुकाये ही जो **उसने** इसके लिए निश्चित किया है?

पूर्ण प्रतीत होने वाली सफलता पर मत विश्वास करो, किन्तु सफल हो चुकने के बाद भी जब तुम देखो कि अब भी बहुत कुछ करने को बाकी है तो प्रसन्न होओ और आगे बढ़ते चलो, क्योंकि इससे पहले कि तुम वास्तविक पूर्णता को प्राप्त करो तुम्हें दीर्घकाल तक परिश्रम करना होगा।

तुम्हारी प्राणशक्ति को जड करने वाली इससे बडी भूल और क्या होगी कि तुम मंजिल को ही लक्ष्य समझ बैठो या किसी विश्राम-स्थान पर आवश्यकता से अधिक ठहरे रहो ।

*　　*　　*

जहां कहीं तुम महान् अन्त को देखो तो विश्वास रखो कि महान् आरम्भ होने वाला है । जहां कोई विकराल और दु खपूर्ण विनाश तुम्हारे मन को संत्रस्त करता हो तो इसे सान्त्वना दो कि यह निश्चित है कि एक बृहत् और महान् रचना होने वाली है । **परमेश्वर** केवल छोटी, धीमी अन्दर की आवाज मे ही नहीं है, बल्कि वह अग्नि मे और तूफान में भी है ।

जितना ही बडा विनाश होगा उतने ही अधिक रचना के खुले अवसर होंगे । पर विनाश प्रायः दीर्घकालिक, धीमा और पीडा पहुचाने वाला होता है और रचना के आने में देर लगती है या इसकी विजय म विघ्न पड़ते है । रात्रि फिर-फिर लौट कर आती है और दिन आने म देरी करता है या वह एक झूठी उषा का आभासमात्र सिद्ध होता है । पर इसके कारण निराश मत हो, किन्तु जागरूक होकर काम करते जाओ । वे जो तीव्र आशा लगाते है जल्दी निराश होते है । न आशा लगाओ और नाहीं भयभीत हो । परन्तु **परमेश्वर** के प्रयोजन में और अपने सकल्प के पूरे होने में निश्चित विश्वास रखो ।

उस दिव्य **कलाकार** का हाथ बहुधा इस तरह काम करता है मानो वह अपनी प्रतिभा और अपनी सामग्री के बारे म अनिश्चित

हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वह छूता है, परखता है और छोड देता है, वह उठाता है, फेंकता है और फिर उठा लेता है, वह परिश्रम करता है, असफल हो जाता है, कुछ इधर उधर गडबड़ करके सुधारने की चेष्टा करता है और फिर जोड़ देता है। अप्रत्याशित घटनाएं और निराशाय प्राय: उसके काम में देखने म आती है जब तक कि सब वस्तुएं तैयार नहीं हो जाती। पहले जिसे चुना था अब उसे गहिवता के अतल गढे में फेंक देता है और जिसे पहले रद कर दिया था वह अब उसके विशाल भवन की एक प्रधान शिला बनता है। परन्तु इस सबके पीछे ज्ञान की एक सुनिश्चित दिव्य-चक्षु है जिसका पार हमारी बुद्धि नहीं पा सकती और अनन्त कुशलता की मन्द मुसकान है।

परमेश्वर के सामने सपूर्ण काल पडा है और उसे हमेशा जल्दी में रहने की आवश्यकता नहीं है। **वह** अपने उद्देश्य और सफलता के विषय म निश्चित है और उसे कुछ परवाह नहीं है यदि अपने कार्य को पूर्णता के अधिक समीप लाने के लिए उसे उसको सैंकड़ों बार भी तोडना पड़े। धैर्य हमारे लिये सबसे पहला महान् आवश्यक पाठ है। किन्तु जो डरपोक है, जो सन्देहशील है, श्रान्त है, सुस्त है, महत्त्वाकांक्षा-रहित या मरियल व्यक्ति है उनकी सी गतिके प्रति तामसिक मन्दता का नाम धैर्य नहीं है। धैर्य वह है जो शान्ति और बढ़ते हुए बल से भरपूर है, जो जागरूक होकर देखता है और उन तीव्र महान् प्रहारों के अवसर के लिये अपने आप को तैयार करता है जो प्रहार थोड़े होते हुए भी भाग्य को पलट देने के लिये पर्याप्त होते हैं।

किसलिये **परमेश्वर** ऐसी उग्रता से संसार को कूटता है, कुचलता है, आटे की तरह गूदता है, बार बार इसे रुधिर की नदी में नहलाता है और भट्टी की धधकती हुई लाल-लाल नारकी आग में झोंकता है? क्योंकि सामान्य लोगों में मनुष्यता अब भी एक कठोर, असंस्कृत और मलिन कच्ची धातु के रूप में है जो किसी और तरीके से पिघलाई या दूसरे रूप में ढाली नहीं जा सकती है। जैसी उसकी सामग्री है वैसी ही उसकी कार्य-प्रणाली है। यदि यह सामग्री अधिक उत्तम और शुद्ध धातु के रूप में परिणत हो जाने को तैय्यार हो जाय तो इसके साथ बरतने की उसकी प्रणाली भी अधिक कोमल और मधुर हो जायगी, और इसके उपयोग बहुत उच्चतर और सुन्दरतर हो जायँगे।

किसलिये उसने ऐसी सामग्री को पसंद किया या बनाया जब कि उसके सामने छाँट कर चुन लेने के लिये अनन्त सम्भावनायें थीं? क्योंकि उसकी दिव्य **कल्पना** ऐसी थी जिसने अपने सामने केवल सौन्दर्य, मधुरता और पवित्रता को ही नहीं बल्कि शक्ति, संकल्प और महानता को भी देखा था। शक्ति की अवगणना मत करो, नाहीं इसकी कुछ आकृतियों की कुरूपता के कारण इससे घृणा करो। यह भी मत समझो कि केवल प्रेम ही परमेश्वर है। सम्पूर्ण पूर्णता में कुछ अंश बीभत्स का, बल्कि **दैत्यत्व** तक का होना चाहिये। लेकिन बड़ी से बड़ी शक्ति बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में से ही पैदा होती है।

* * *

सब कुछ बदल जाये यदि मनुष्य एक बार अपने आप को अध्यात्ममय बनाने के लिये राजी हो सके। परन्तु उसकी प्रकृति,

मानसिक, प्राणमय और भौतिक प्रकृति इस ऊंचे नियम के प्रति विद्रोह करती है। उसे अपनी अपूर्णता प्रिय है।

आत्मा हमारी सत्ता का असली स्वरूप है। मन, प्राण और शरीर अपनी अपूर्णता मे इसके ढकने वाले कोश हैं, परन्तु अपनी पूर्णता मे इस के ढालने वाले साचे होने चाहिये। केवल आध्यात्मिक होना ही पर्याप्त नहीं है। इससे कुछ आत्माएं बेशक स्वर्ग के लिये तैयार हो जाती है पर यह भूलोक तो जहा यह था बहुत कुछ वहीं रहता है। और नाहीं कोई समझौता कर लेना निस्तार पाने का तरीका है।

संसार तीन प्रकार की क्रान्तियों से परिचित है। स्थूल, भौतिक क्रान्ति प्रबल परिणामों को पैदा करती है। नैतिक और बौद्धिक क्रान्ति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और अपने फलों की दृष्टि से यह बहुत ही समृद्ध है। परन्तु आध्यात्मिक क्रान्ति महान् बीजों का बोना है।

यदि इस त्रिविध परिवर्तन का परस्पर पूर्ण अनुकूलता मे एकीकरण हो सके तो कार्य बिलकुल निर्दोष रूप मे होने लगे। लेकिन मानवजाति के मन और शरीर आते हुए आध्यात्मिकता के प्रबल प्रवाह को पूर्णतया अपने मे समा नहीं सकते। उस मे से बहुत कुछ बिखर जाता है और शेष का बहुत सा भाग विकृत हो जाता है। महान् आध्यात्मिक बीजों को बोकर एक छोटा सा फल निकालने के लिये हमारे क्षेत्र की बहुत सी बौद्धिक और शारीरिक उलट-पुलट की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक धर्म ने मानवजाति की सहायता पहुंचाई है। पैगनिज्म (एक प्राचीन बहुदेवपूजक धर्म) ने मनुष्य में सुन्दर सौन्दर्य के प्रकाश

को विकसित किया है, उसके जीवन की विशालता और उच्चता को बढ़ाया है और बहुमुखी पूर्णता के उसके उद्देश्य को उन्नत किया है। ईसाइयत ने उसे दिव्य प्रेम और दयालुता व सहृदयता का कुछ दर्शन कराया है। बौद्धधर्म ने उसे अधिक ज्ञानी, अधिक विनीत और अधिक पवित्र होने का एक उत्कृष्ट मार्ग दिखाया है। यहूदी धर्म और इस्लाम ने उसे धार्मिक भाव से क्रिया में सच्चे होना और ईश्वर के प्रति उत्कट भक्ति वाला होना सिखाया है। हिंदूधर्म ने उसके आगे बड़ी से बडी और गहरी से गहरी आध्यात्मिक संभावनाओं को खोल दिया है। एक बड़ा काम सिद्ध हो जाता यदि ये सब ईश्वर-दर्शन आपस में प्रेम से मिल जाते और अपने आप को एक-दूसरे के प्रतिरूप कर लेते। पर बौद्धिक सिद्धान्तवादिता और साम्प्रदायिक अहंकार मार्ग में बाधक है।

सभी धर्मों ने बहुत सी आत्माओं को बचाया है, पर समग्र मनुष्यजाति को अध्यात्ममय बनाने में अभी तक कोई समर्थ नहीं हो सका। इसके लिये तो किसी सम्प्रदाय या मत की आवश्यकता नहीं, बल्कि आध्यात्मिक दिशा में आत्म-विकास प्राप्त करने को एक स्थिर, सतत और सर्वाङ्गीण प्रयत्न की अपेक्षा है।

आज हमें समाज में जो परिवर्तन दिखायी देते हैं वे अपने आदर्श और उद्देश्य में बौद्धिक, नैतिक और भौतिक हैं। आध्यात्मिक क्रान्ति अपने अवसर की प्रतीक्षा में है और इस बीच में वह केवल कहीं-कहीं अपनी लहरों को उछालती है। जब तक वह नहीं आ जाती, इसरी क्रान्तियों का मतलब समझ में नहीं आ सकता और तब तक वर्तमान की

मानसिक, प्राणमय और भौतिक प्रकृति इस ऊंचे नियम के प्रति विद्रोह करती है। उसे अपनी अपूर्णता प्रिय है।

आत्मा हमारी सत्ता का असली स्वरूप है। मन, प्राण और शरीर अपनी अपूर्णता मे इसके ढकने वाले कोश हैं, परन्तु अपनी पूर्णता मे इस के ढालने वाले साचे होने चाहिये। केवल आध्यात्मिक होना ही पर्याप्त नहीं है। इससे कुछ आत्माए बेशक स्वर्ग के लिये तैयार हो जाती ह पर यह भूलोक तो जहा यह था बहुत कुछ वहीं रहता है। ओर नाहीं कोई समझौता कर लेना निस्तार पाने का तरीका है।

ससार तीन प्रकार की क्रान्तियों से परिचित है। स्थूल, भौतिक क्रान्ति प्रबल परिणामों को पैदा करती है। नैतिक और बौद्धिक क्रान्ति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और अपने फलों की दृष्टि से यह बहुत ही समृद्ध है। परन्तु आध्यात्मिक क्रान्ति महान् बीजो का बोना है।

यदि इस त्रिविध परिवर्तन का परस्पर पूर्ण अनुकूलता मे एकीकरण हो सके तो कार्य बिलकुल निर्दोष रूप म होने लगे। लेकिन मानवजाति के मन और शरीर आते हुए आध्यात्मिकता के प्रबल प्रवाह को पूर्णतया अपने मे समा नहीं सकते। उस म से बहुत कुछ बिखर जाता है ओर शेष का बहुत सा भाग विकृत हो जाता है। महान् आध्यात्मिक बीजों को बोकर एक छोटा सा फल निकालने के लिये हमारे क्षेत्र की बहुत सी बौद्धिक और शारीरिक उलट-पुलट की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक धर्म ने मानवजाति को सहायता पहुंचायी है। पैगनिज्म (एक प्राचीन बहुदेवपूजक धर्म) ने मनुष्य के अन्दर सौन्दर्य के प्रकाश

को विकसित किया है, उसके जीवन की विशालता और उच्चता को बढ़ाया है और बहुमुखी पूर्णता के उसके उद्देश्य को उन्नत किया है। ईसाइयत ने उसे दिव्य प्रेम और दयालुता व सहृदयता का कुछ दर्शन कराया है। बौद्धधर्म ने उसे अधिक ज्ञानी, अधिक विनीत और अधिक पवित्र होने का एक उत्कृष्ट मार्ग दिखाया है। यहूदी धर्म और इस्लाम ने उसे धार्मिक भाव से क्रिया में सच्चे होना और ईश्वर के प्रति उत्कट भक्ति वाला होना सिखाया है। हिंदूधर्म ने उसके आगे बड़ी से बड़ी और गहरी से गहरी आध्यात्मिक संभावनाओं को खोल दिया है। एक बड़ा काम सिद्ध हो जाता यदि ये सब ईश्वर-दर्शन आपस में प्रेम से मिल जाते और अपने आप को एक-दूसरे के प्रतिरूप कर लेते। पर बौद्धिक सिद्धान्तवादिता और साम्प्रदायिक अहंकार मार्ग में बाधक हैं।

सभी धर्मों ने बहुत सी आत्माओं को बचाया है, पर समग्र मनुष्यजाति को अध्यात्ममय बनाने में अभी तक कोई समर्थ नहीं हो सका। इसके लिये तो किसी सम्प्रदाय या मत की आवश्यकता नहीं, बल्कि आध्यात्मिक दिशा में आत्म विकास प्राप्त करने की एक स्थिर, सतत और सर्वाङ्गीण प्रयत्न की अपेक्षा है।

आज हमें संसार में जो परिवर्तन दिखायी देते हैं वे अपने आदर्श और उद्देश्य में बौद्धिक, नैतिक और भौतिक हैं। आध्यात्मिक क्रान्ति अपने अवसर की प्रतीक्षा में है और इस बीच में वह केवल कहीं-कहीं अपनी लहरों को उछालती है। जब तक वह नहीं आ जाती, दूसरी क्रान्तियों का मतलब समझ में नहीं आ सकता और तब तक वर्तमान की

घटनाओं की सब व्याख्यायें और मनुष्य के भविष्य-दर्शन के सब प्रयत्न व्यर्थ की चीजें हैं। क्योंकि उस आध्यात्मिक क्रान्ति का स्वरूप, शक्ति और परिणाम ही है जो कि हमारी मानव-जाति के अग्रिम चक्र को निश्चित करेंगे।

युद्ध का मिट जाना ?

(लेखक—श्रीअरविन्द)

[आजकल जो महाभयंकर युद्ध पृथ्वी पर चल रहा है उसके क्लेश, संहार, बर्बादी आदि को देखकर बहुधा विचारकों के मन में आता होगा कि युद्ध हमेशा के लिए पृथ्वी पर से मिट जाय तभी ठीक हो। पर युद्ध पृथ्वी पर से कब, कैसे मिट सकता है यह श्रीअरविंद के शब्दों में ही पाठक निम्न लेख में पढ़ें। यह लेख यद्यपि उन्होंने गत महायुद्ध के प्रारम्भ में १९१४ में लिखा था, पर यह आज २६ वर्ष बाद भी नया है। जो जगह जहां खास गत युद्ध का जिक्र है टिप्पणी दे दी गयी है। स० अ०]

मानवजाति की प्रगति उन कल्पनाओं की शृङ्खला के द्वारा होती चली जाती है जिन्हें कि जाति में विद्यमान संकल्पशक्ति सिद्ध तथ्यों में परिणत कर देती है और उन भ्रमों की श्रेणी के द्वारा जिनमें से कि प्रत्येक में कोई अवश्यम्भावी सत्य होता है। वह सत्य उस गुप्त सकल्प और ज्ञान में रहता है जो कि दोनों हमारे लिये हमारे कार्यों को संचालित कर रहे होते हैं और वह अपने आपको मनुष्य जाति के आत्मा में प्रतिबिम्बित करता है, भ्रम उस आकृति में है जो कि हम उस प्रतिबिम्ब को देते हैं, समय, स्थान और परिस्थिति को अपने मन से निश्चित करने के उस पर्दे में है जिसे कि ज्ञान का वह पच्चीकारी साधन, मानवीय बुद्धि, उस सत्य के मुख पर बुनती है। मानवीय कल्पनायें प्राय: अक्षरश: पूरी होती हैं, इसके विपरीत हमारे भ्रम अपने पीछे विद्यमान सत्य को अत्यन्त अप्रत्याशित तरीके से, एक ऐसे समय पर, ऐसे तरीकों से, ऐसी परिस्थितियों में सिद्ध हुआ पाते हैं जो (समय आदि) कि उनसे बिल्कुल ही और होते हैं जिनको कि हमने उनके लिये निश्चित किया था।

मनुष्य के भ्रम सब प्रकार के होते हैं, उनमें से कुछ तुच्छ होते हैं यद्यपि अनावश्यक नहीं होते,—क्योंकि संसार में कुछ भी अनावश्यक नहीं है,—दूसरे विस्तृत और विशाल। उन सब में सब से बड़े वे हैं जो कि पूर्णताप्राप्त समाज, पूर्णताप्राप्त जाति, पृथ्वी पर राम राज्य की आशा के इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं।

प्रत्येक नयी धारणा को,—वह चाहे धार्मिक हो या सामाजिक, जो युग को अपने अधिकार में कर लेती है और मनुष्य के विस्तृत समूहों को अपने कब्जे में ले लेती है,—अपने समय पर इन उपर्युक्त पूर्णताप्राप्त अवस्थाओं की सिद्धि का साधन बनना पड़ता है, ऐसी प्रत्येक धारणा अपनी बारी पर उस आशा के चिन्ह दिखाती है जिसके कि कारण इसमें विजय करने की शक्ति आयी होती है। और इसका कारण, जो कोई भी देखना चाहे उसके लिये, पर्याप्त स्पष्ट है; वह यह है कि विचारों का या जीवन को देखने की बौद्धिक बाह्य दृष्टि का कोई भी परिवर्तन, ईश्वर या अवतार या पैगम्बर में कोई भी विश्वास, कोई भी विजयशाली विज्ञान या मोक्ष जनक दर्शन, कोई भी सामाजिक योजना या पद्धति, अर्थात् किसी भी प्रकार की यन्त्रसामग्री, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य, जाति के अन्दर गड़ी हुई महान् इच्छा को वास्तव में फलीभूत नहीं कर सकती, चाहे वह इच्छा अपने आप में सच्ची हो और उस लक्ष्य की सूचक हो जिसकी कि ओर हम ले जाये जा रहे हैं। क्योंकि मनुष्य स्वयं न तो कोई मैशीन है और न ही उपाय-योजना, परन्तु एक जैव सत्ता है और उस पर भी एक अत्यधिक जटिल सत्ता, इसलिये उसे यन्त्र-सामग्री द्वारा नहीं बचाया जा सकता, उसे तो केवल उस समग्र परिवर्तन के द्वारा जो कि उसकी सत्ता के सभी अङ्गों को प्रभावान्वित कर दे, अपनी प्रस्तुत विरोध विषमताओं और अपूर्णताओं से मुक्त किया जा सकता है।

इस महान आशा के आनुषङ्गिक भ्रमों म से एक है युद्ध के मिट जाने की आशामय प्रतीक्षा। मानवीय प्रगति में होने वाली इस महान् घटना की सदा से ही विश्वासपूर्वक प्रतीक्षा की जा रही है और क्योंकि अब हम सब ही वैज्ञानिक मन वाले और तर्कबुद्धियुक्त प्राणी हैं, अतः हम अब दिव्य हस्तक्षेप के द्वारा तो इसकी आशा नहीं रखते, परन्तु उस विश्वास के लिये जो कि हम में है कुछ ठीक जंचने वाली भौतिक और आर्थिक युक्तियां प्रस्तुत करते हैं। सब से पहला रूप जो इस नवीन श्रुति ने धारण किया वह था "यह आशा और भविष्यवाणी कि व्यापार का विस्तार युद्ध का निर्वाण कर देने वाला होगा"। व्यापारवाद सैनिकतावाद का स्वाभाविक शत्रु है और वह इसे भूतल से निकाल भगायेगा। बढ़ती हुई और सार्व भौम धन की तृष्णा और आरामतलबी की आदत और बढ़ी हुई उत्पत्ति तथा जटिल परस्परविनिमय की आवश्यकतायें—ये सब मिल कर शक्ति और राज्य और कीर्ति

और युद्ध की तृष्णा को कुचल डालेंगे। सुवर्ण की भूख या पण्यवस्तु की भूख पृथ्वी की भूख को बाहर निकाल देगी, वैश्य का धर्म क्षत्रिय के धर्म को पैरों तले रौंद देगा और उसे उसकी पीड़ारहित मौत दे देगा। पर देवताओं के व्यङ्गयपूर्ण उत्तर के आने मे देर नहीं लगी। असल मे व्यापारवाद का ठीक यह ही आधिपत्य, उत्पत्ति और परस्परविनिमय की यही वृद्धि, पण्यवस्तुओं और मण्डियों की यही तृष्णा और अनावश्यक आवश्यकताओं के बडे भारी भार का यही चयन उन युद्धों मे से आधे युद्धों का कारण बना है जिन्होंने कि तब से मानवजाति को पीडित किया है। और इस समय हम युद्ध प्रियता और व्यापारवाद को, प्रेममय आलिङ्गन मे मिले हुए, राष्ट्रीय जीवन और देशभक्ति-सम्बन्धी अभिकाङ्क्षा के पवित्र उभय निष्ठ युगल में इकट्ठे होकर एक बने हुए, सब से अधिक अयुक्तियुक्त, सब से अधिक राक्षसी और केवल महाप्रलयकर, आधुनिक और निःसदेह सारे ऐतिहासिक कालों के बृहत्तम युद्ध को पैदा करते हुए और अपनी शक्ति से इसे चलाते हुए देख रहे हैं।

एक और भ्रम यह था कि जनतन्त्र की वृद्धि का अभिप्राय होगा शान्तिवाद की वृद्धि और युद्ध का अन्त। यह शौक से समझा जाता था कि युद्ध अपने स्वरूप मे राजवशगत और अमीर उमराओं के बीच होते हैं, पृथ्वी की तृष्णा और युद्धतृष्णा से प्रेरित लोभी राजा और युद्धप्रिय नवाब, मनुष्यों के जीवनों और राष्ट्रों के भाग्यों के साथ शतरञ्ज का खेल खेलते हुए कूटराजनीतिज्ञ, ये युद्ध के अपराधी कारण हैं जो कि अभागे हथियारबन्द किये गये लोगों को युद्धक्षेत्र मे इस प्रकार धकेल ले जाते हैं जैसे कि भेडों को कसाईखाने मे। इन श्रमजीवी वर्ग के लोगों को, जनसाधारण को, जो बारूद के लिये ईंधनमात्ररूप होते हैं, जिन का न कोई स्वार्थ होता है, न कोई इच्छा, न कोई युद्धतृष्णा जो कि उनको सशस्त्र संघर्ष के लिये प्रेरित करे, इन्हें यदि केवल एक दूसरे का और सारे ससार का स्वतन्त्र और भ्रातृभावभरी मैत्री के साथ आलिङ्गन करने के लिए शिक्षित किया जासके और प्रबल बनाया जासके तो सब ठीक हो जायगा। मनुष्य उस इतिहास से शिक्षा लेने से इन्कार करता है जिस के पाठों मे से बुद्धिमान् व्यक्ति हमे कितनी ही बातें बताया करते हैं; नहीं तो पुराने जनतन्त्र राज्यों की कहानी इस विशेष भ्रम को हटाने के लिये काफी होनी चाहिये थी। कुछ भी हो, देवताओं का उत्तर यहा भी काफी व्यङ्गयपूर्ण रहा। अगर

राजे और कूटनीतिज्ञ अब भी बहुधा युद्ध के प्रेरक होते हैं, तो अपने आप को उन का उत्साही और हल्लेबाज पापसहायक बनाने के लिये आधुनिक जनतन्त्र राज्य से बढ़ कर अधिक तैयार और कोई नहीं है, और हम सरकारों और कूटनीतिज्ञों का आधुनिक यह दृश्य भी देखते हैं कि वे तो मुहबाये कोलाहलपूर्ण युद्ध के अतल गर्त मे पड़ने से शका या भय के साथ पीछे हटते हैं, उधर जाने की अनिच्छा प्रकट करते हैं, जब कि कोपाविष्ट चिल्लाती हुई प्रजाएं उन्हें इस गर्त के किनारे पर आ जाने के लिये बाधित कर देती हैं। घबराये हुए शान्तिवादियों को जो अब तक भी अपने सिद्धान्तों और भ्रमों से चिमटे हुए हैं, लोग तानेबाजी के साथ खिल्ली उड़ाते हुए नीचा दिखाते हैं और, और मजेदार बात यह कि उन के अपने हाल के साथी और नेता भी। हम देखते हैं कि कल का साम्यवादी, श्रमिक-आधिपत्यवादी, अन्त राष्ट्रीयतावादी महान् पारस्परिक सहार मे ध्वजाधारी के रूप मे आगे खड़ा है और लड़ाई के कुत्तों को शाबाशी देने के लिये उसकी आवाज सब से बुलन्द है।

एक अन्य ताजा भ्रम था पचायती न्यायालयों और यूरोपीय राष्ट्रों के सघ की युद्ध को रोकने की शक्ति। यह फिर घटनाओं ने तुरन्त ही जिस मार्ग का अवलम्बन किया वह काफी व्यङ्ग्यपूर्ण था; क्यों कि महान् अन्तर्राष्ट्रीय पचायती न्यायालय की स्थापना के बाद ही उन छोटे और बड़े युद्धों का तांता बध गया जो कि, अविचल तर्कसम्मत शृङ्खला के द्वारा, चिरकाल से आशङ्कित यूरोपीय सघर्ष का कारण बने और वह राजा जो सर्वप्रथम इस विचार को अपने मन मे लाया था इस सघर्ष में अपनी तलवार को म्यानसे बाहर निकालने मे भी सर्वप्रथम था। और यह सघर्ष ऐसा था जो कि दोनों ही ओर से अधिक से अधिक अन्यायपूर्ण लोभ और आक्रमणा के भाव से अधिकृत रूप से प्रारभ किया गया था। सचमुच युद्धों की इस शृङ्खला मे, चाहे वे युद्ध उत्तरी या दक्षिणी अफ्रीका मे, मनचूरिया या बल्कान के इलाकों मे लड़े गये हों, वह भावना अत्यधिक प्रधानतया लक्षित होती थी जो कि स्वभावसिद्ध और विद्यमान अधिकारों के ठीक उस विचार की, कानून और न्याय के उस सतुलन की जिस पर ही कि केवल पंचायत को आधारित किया जा सकता है, उपहासपूर्वक अवहेलना करती थी। रही यूरोपीय राष्ट्रों के सघ या सम्मेलन की बात, सो वह सम्मेलन तो अब हमसे पर्याप्त दूर प्रतीत होता है, अपनी प्राचीनता में लगभग प्रागाप्लाविक काल का,—क्योंकि यह निसदेह प्रसिद्ध जलप्रलय से

पहले के युग से सबन्ध रखता है; परन्तु हम काफी अच्छी तरह से स्मरण कर सकते है कि यह कैसा बेसुरा और असामञ्जस्यपूर्ण सघ था, भारी स्खलनों और प्रमादों का कैसा समुदाय था और किस प्रकार इस की कूटनीति हमे घातक ढग से उस अनिवार्य घटना की ओर ले गयी जिस के विरुद्ध इसने कशमकश प्रारभ की थी। अब बहुत लोग यह सुझाते है कि मृत सघ के स्थान पर यूरोप के सयुक्त राष्ट्र की स्थापना की जाय और बेचारी असहाय हेग–परिषद् के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उस प्रभावक्षम न्यायालय की जिस के पीछे कि अपने निर्णयों को बलात लागू करने की शक्ति हो। परन्तु जब तक कि मनुष्य यन्त्र–योजना की सर्वोपरि शक्ति मे विश्वास रखे चले जाते हैं, तब तक यह सभव नहीं है कि देवता भी अपने पूर्वचिन्तित व्यङ्ग्य से बाज आ जायँ।

अन्य विचार–विमर्श और तर्कणाए भी की गई हैं, चतुर मन वालों ने विश्वास के दृढतर और अधिक तर्क–संगत आधार के लिए अन्वेषणा की। इन मे से सब से पहले विचार को एक रूसी लेखक ने एक पुस्तक में प्रतिपादित किया था, जिस पुस्तक को कि अपने समय मे बडी भारी सफलता मिली परन्तु जो कि अब नीरवता मे विलीन हो गई है। विज्ञान (सायस) युद्ध को भौतिक तौर पर असभव बना कर इस का अन्त कर देने वाला था। गणित के हिसाब से यह सिद्ध कर दिया गया था कि दो तुल्य सेनाए आधुनिक शस्त्रास्त्रों के द्वारा एक दूसरे के साथ लडती हुई ऐसी हालत मे पहुच जायेंगी कि आगे बढने मे असमर्थ हो जायेंगी, आक्रमण असभव हो जायगा सिवाय उस अवस्था के जब कि आक्रमणकारी आत्मरक्षा करने वालों से तिगुनी सख्या मे हों, और अत एव युद्ध कोई सैनिक परिणाम नहीं उत्पन्न करेगा किन्तु राष्ट्रों के व्यवस्थित जीवन में केवल निरर्थक उथलपुथल और हलचल मात्र पैदा करेगा। जब रूस–जापानी युद्ध ने लगभग तुरन्त ही सिद्ध कर दिया कि आक्रमण और विजय अभी भी सभव हैं और मनुष्य का युद्ध–आवेश उस के मृत्यु व्यापार–परायण इजिनों के आवेश से उत्कृष्टतर है, तब एक और पुस्तक, जिसका कि नाम 'The Great Illusion (महान् भ्रम)' रखा गया, जो नाम कि पीछे लेखक के साथ किये जाने वाले मजाक के रूप मे बदल गया, प्रकाशित की गई, यह सिद्ध करने के लिये कि यह धारणा कि युद्ध और विजय से व्यापारिक लाभ प्राप्त होता है एक भ्रम है और कि ज्यों ही यह बात समझ ली जायगी और शान्तिपूर्ण

परस्परविनिमय का एकमात्र लाभ अनुभव कर लिया जायगा, त्योंही लोग फैसला करने के उस लडाकू तरीके को त्याग देंगे जिसे कि व्यापारिक विस्तार के प्रेरक भावों से ही अब मुख्यतया अपनाया जाता है, पर तो भी जिसका अनर्थकारक परिणाम होता है उस व्यापारिक समृद्धि को, जिस की कि सेवा करने की यह चेष्टा करता है, घातक तरीके से केवल नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाना। वर्त्तमान * युद्ध इस गंभीर और युक्तियुक्त स्थापना के देवताओं द्वारा तत्काल दिये गये उत्तर के तौर पर घटित हुआ है। यह विजय और व्यापारिक विस्तार के लिये लडा गया है और यह प्रस्ताव किया जाता है कि, जब यह मैदान में लड़ा जा चुके, उसके बाद भी इसे युद्धयमान राष्ट्रों के बीच व्यापारिक संघर्ष द्वारा जारी रखा जाय।

वे लोग जिन्होंने ये किताबें लिखीं योग्य विचारक थे किन्तु उन्होंने उस एक चीज की उपेक्षा की जो कि वस्तुतः महत्त्व की है, अर्थात मानव प्रकृति की। वर्तमान † युद्ध ने रूसी लेखक को कुछ हद तक सच्चा ठहराया है यद्यपि उन घटनाक्रमों के द्वारा जिन्हें कि वह पहले से नहीं देख पाया था; वैज्ञानिक युद्धप्रणाली ने सैनिक हलचल को विरत कर दिया था और व्यूहरचना विशारद और कूटनीतिविशारद को चकरा दिया था, इसने निर्णायक विजय को असम्भव ही बना दिया था यदि एक तरफ से योद्धाओं की अति गुरुतर संख्या या तोप खानों का अत्यन्त गुरुतर दबाव न लगा दिया गया होता। पर इसने युद्ध को असम्भव नहीं बना दिया, इसने केवल इसके स्वरूप को बदल दिया, इसने अधिक से अधिक यह किया कि सैनिकों पर निर्भर निर्णयों वाले युद्ध को ऐसे युद्ध मे बदल दिया जो कि दुर्भिक्ष के भीषण हथियार की मदद से युक्त सैनिक और आर्थिक क्षय करने वाला युद्ध था। दूसरी तरफ अङ्गरेज लेखक ने यह गलती की कि आर्थिक प्रेरक भाव को ही अकेले करके प्रस्तुत किया मानो यही एकमात्र चीज है जो वजन रखती है। उसने मनुष्य की उस आधिपत्यसम्बन्धी तृष्णा को भुला दिया जिसका कि अर्थ, व्यापारवाद की परिभाषाओं मे प्रकट किये जाने पर, होता है मण्डियों का प्रतिद्वन्द्विरहित नियन्त्रण और असहाय जनता का शोषण। फिर, व्यवस्थित राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में होने वाली गड़बड पर जब हम इस रूप में भरोसा कर लेते हैं कि इसके कारण युद्ध को रोकने की प्रवृत्ति होगी, तब हम

---

* १९१४ का महायुद्ध † १९१४ का महायुद्ध

आत्म-अनुकूलीकरण की जिस असीम शक्ति को मनुष्य रखता है उसे भूल जाते हैं। वह शक्ति काफी आश्चर्यजनक ढङ्ग से प्रकट हो गयी है जब कि हम देखते हैं कि कितनी चतुराई और सुगमता के साथ शान्ति के समय के सगठन और अर्थ-व्यवस्था को वर्तमान सकटकाल मे युद्धसम्बन्धी सगठन और अर्थ-व्यवस्था मे बदल दिया गया है। और जब हम विज्ञान पर युद्ध को असम्भव बना डालने के मामले में विश्वास करते हैं, तब हम भल जाते हैं कि विज्ञान की उन्नति का अर्थ होता है अप्रत्याशित आश्चर्यों की शृङ्खला और यह भी भल जाते हैं कि असम्भवताओं को जीतने और हमारी धारणाओं, इच्छाओं और अन्धप्रवृत्तियों को तृप्त करने के नये साधन मालूम करने के लिये मानवीय कौशल का सतत प्रयत्न भी इसका अर्थ होता है। विज्ञान तोप और बन्दूक और सुरगों और लडाकू जहाजों के द्वारा होने वाले आधुनिक ढंग के युद्ध को भले ही एक असम्भव चीज बना सकता है और तो भी उनके स्थान पर उन दूसरे और अधिक सादे साधनों को विकसित कर सकता या रहने दे सकता है जो कि प्राचीन युद्धक्रिया के नमूने को वापिस ले आ सकते हैं।

जब तक कि युद्ध मनोवैज्ञानिक तौर पर असम्भव नहीं हो जाता, तब तक वह कायम रहेगा या, यदि कुछ समय के लिये निर्वासित भी कर दिया जाय, तो फिर लौट आयेगा। यह आशा की जाती है कि स्वय युद्ध ही युद्ध का अन्त करेगा, व्यय, त्रास, घोर सहार, शान्त जीवन मे विक्षोभ, इस कार्य का सारे का सारा अन्धाधुन्ध रक्तपातयुक्त उन्माद ही ऐसी अति बृहत मात्रा तक पहुच गया है या पहुच जायगा कि मानवजाति इस राक्षसपन को ग्लानि और घृणा के साथ परे फेंक देगी। परन्तु ग्लानि और घृणा, भय और करुणा, बल्कि मानवीय जीवन और शक्ति के व्यर्थ विनाश एव क्षति और अपव्यय के व्यवहारसिद्ध तथ्यों द्वारा आखों का तर्क के प्रति खुल जाना भी स्थायी वस्तुए नहीं हैं, वे केवल तभी रहती हैं जब कि पाठ अभी ताजा ही होता है। पीछे से विस्मृति छा जाती है; मानव प्रकृति पुन अपनी प्रकृति को प्राप्त कर लेती है और उन अन्धप्रवृत्तियों को फिर से अधिगत कर लेती है जो अस्थायी तौर पर वश मे कर ली गई थीं। एक दीर्घकाला वस्थायी शान्ति, शान्ति का एक विशेष प्रकार का सगठन तक भी, चिन्तनीय सीमा तक, फलित हो सकता है, परन्तु जब तक कि मनुष्य का हृदय वही रहता है जो

कुछ कि वह है, तब तक यह शान्ति समाप्त हो जाने वाली रहेगी, मानवीय आवेगों के दवाव के नीचे यह शान्ति का सगठन चकनाचूर हो जाया करेगा। युद्ध, शायद अब और आगे के लिये, जीवनविज्ञानानुमोदित (Biological) आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह अब तक भी एक मनोवैज्ञानिक (Psychological) आवश्यकता है, जो कुछ हमारे भीतर है, वह अवश्य अपने आपको बाहर प्रकट करेगा।

इस बीच मे यह ठीक ही है कि देवताओं के व्यङ्ग्यपूर्ण उत्तर प्रत्येक झूठी आशा और विश्वासपूर्ण भविष्यवाणी को जितने उचित तौर से जल्दी हो सकें मिलते रहने चाहियें, क्योंकि केवल इस प्रकार ही हम असली इलाज के ज्ञान की ओर ले जाये जा सकते हैं। केवल तभी जब कि मनुष्य ने सब मनुष्यों के साथ न केवल भाईचारे के भाव को, बल्कि प्रधानभूत एकता और सर्वसाधारणता के भाव को भी विकसित कर लिया हो, केवल तभी जब कि वह उनको न केवल भाइयों के तौर पर,—वह एक भँगुर सम्बन्ध है,—बल्कि अपने अङ्गों, अवयवों के तौर पर पहचानता हो, केवल तभी जब कि वह अपने पृथक् वैयक्तिक और साधिक अहभाव मे नहीं, किन्तु विस्तीर्णतर विश्व-चेतना मे रहना सीख चुका हो, युद्ध की घटना, चाहे किन्हीं भी हथियारों से युक्त, उसके जीवन मे से मिट सकती है बिना वापिस लौटने की सम्भावना के। इस बीच मे यह भी एक अत्युत्तम चिन्ह है कि वह भ्रमों के द्वारा भी उस लक्ष्य की ओर जाने के लिये कशमकश कर रहा है, क्योंकि यह इस बात को प्रकट करता है कि भ्रम के पीछे विद्यमान सत्य उस समय को लाने के लिये दवाव डाल रहा है जब कि वह वास्तविकता के रूप में अभिव्यक्त हो सकेगा।

— ० —

चमा का आदर्श

(लेखक—श्रीअरविन्द)

आकाश में चाद धीरे-धीरे बादलों की गोद से होकर बहता जा रहा था। नीचे नदी अपने कलकल शब्द से हवा के साथ सुर मिला कर नाचती हुई वह रही थी। आधी चादनी और आधे अन्धकार के मिलने से पृथ्वी की सुन्दरता अपूर्व दिखाई दे रही थी। चारों ओर ऋषियों के आश्रम थे। एक एक आश्रम नन्दनवन को लज्जित कर रहा था। ऋषियों की प्रत्येक कुटी फल, फूल, वृक्ष, लतादि से सुशोभित हो अपूर्व सौंदर्य को प्राप्त हो रही थी। एक दिन ऐसी ही ज्योत्स्ना पुलकित रात्रि के समय ब्रह्मर्षि वशिष्ठदेव ने अपनी सहधर्मिणी अरुन्धती देवी से कहा, "देवि, ऋषि विश्वामित्र के यहा से थोडा-सा नमक तो माग लाओ"। इस बात से विस्मित होकर अरुन्धती देवी ने पूछा, "प्रभु। आप यह क्या आज्ञा दे रहे हैं ? मैं तो कुछ भी नहीं समझ रही हूँ। जिसने मुझे सौ पुत्रों से वचित किया है—" यह कहते-कहते देवी का गला भर आया, सारी पुरानी स्मृति जग उठी, उनका अपूर्व शान्ति का घर गम्भीर हृदय व्यथित हो उठा, वह कहने लगीं, "मेरे सौ पुत्र ऐसी सुदर चादनी रात में वेदगान करते हुए घूमा करते, मेरे सौ के सौ पुत्र वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ थे, मेरे ऐसे सौ पुत्रों को विश्वामित्र ने मार डाला है, क्या उसके आश्रम से आप मुझे नमक माग लाने को कह रहे हैं ? मैं तो किंकर्तव्यविमूढ हो रही हूँ"।

धीरे धीरे ऋषि का मुखमडल ज्योतिपूर्ण हो उठा, धीरे-धीरे उनके हृदय-सागर से ये शब्द बाहर निकले—"देवि, मैं उसे प्यार करता हूँ"। अरुन्धती का आश्चर्य और भी अधिक बढ़ गया। उन्होंने कहा, 'यदि आप उसे प्यार करते हैं तो उसे 'ब्रह्मर्षि' कह देने से ही तो सारी झझट दूर हो जाती और मुझे भी सौ पुत्रों से वचित न होना पड़ता"। ऋषि के चेहरे पर अपूर्व शोभा छा गयी। उन्होंने कहा, "मैं उसे प्यार करता हूँ इसी कारण तो मैं उसे ब्रह्मर्षि नहीं कहता, मैं उसे ब्रह्मर्षि नहीं कहता इसी कारण तो उसके ब्रह्मर्षि होने की आशा है"।

आज विश्वामित्र क्रोध से ज्ञानशून्य हो रहे हैं। आज तपस्या में उनका मन एकाग्र नहीं हो रहा है। उन्होंने संकल्प किया है कि यदि आज वशिष्ठ उन्हें ब्रह्मर्षि न कहें तो वह उन्हें ही जान से मार डालेंगे। अपने संकल्प को कार्य में परिणत करने के लिये वह हाथ में तलवार लेकर अपनी कुटी से बाहर निकले। धीरे-धीरे वशिष्ठदेव की कुटी की बगल में आ खड़े हुए। खड़े-खड़े उन्होंने वशिष्ठदेव की सारी बात सुनी। मुट्ठी की तलवार ढीली पड़ गयी, सोचने लगे, "मैंने यह क्या किया है, बिना जाने कैसा अन्याय किया है, बिना जाने किसके निर्विकार चित्त को दुःख पहुचाने की कोशिश की है"? उनके हृदय में सौ बिच्छुओं के डंक मारने की सी यन्त्रणा मालूम हुई। पश्चात्ताप से उनका हृदय जलने लगा। वह दौड़ कर वशिष्ठ के पैरों पर गिर पड़े। कुछ क्षण उनके मुह से कोई शब्द न निकला, फिर उन्होंने कहा, "क्षमा कीजिये मुझे, यद्यपि मैं क्षमायाचना के भी योग्य नहीं हूँ"। उनका गर्वित हृदय और कुछ न कह सका। किन्तु वशिष्ठ ने क्या किया? दोनों हाथों से उन्हें उठा कर वशिष्ठ ने कहा, "उठो ब्रह्मर्षि, उठो"। दूना लज्जित होकर विश्वामित्र ने कहा, "प्रभो, क्यों लज्जित कर रहे हैं"? वशिष्ठ ने उत्तर दिया, 'मैं कभी झूठ नहीं बोलता—आज तुम ब्रह्मर्षि बन गये, आज तुमने अभिमान का त्याग किया है, आज तुमने ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त किया है"। विश्वामित्र ने कहा, "मुझे आप ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिये"। वशिष्ठदेव ने उत्तर दिया, "अनन्त-देव के पास जाओ, वही तुम्हें ब्रह्मज्ञान सिखायेंगे"।

जहा अनन्तदेव पृथ्वी को मस्तक पर लिये हुए रहते हैं वहा विश्वामित्र उपस्थित हुए। अनन्तदेव ने कहा, 'मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दे सकता हूँ यदि तुम पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण कर सको"। तपस्या के गर्व से भरे हुए विश्वामित्र ने कहा, "आप पृथ्वी को सिर से उतार दीजिये, मैं उसे अपने सिर पर धारण करता हूँ"। अनन्तदेव ने कहा, "धारण करो, मैंने छोड़ दिया"। शून्य में चक्कर काटती हुई पृथ्वी नीचे गिरने लगी। विश्वामित्र ने चिल्ला कर कहा, "मैं अपनी सारी तपस्या का फल अर्पण करता हूँ, पृथ्वी स्थिर हो जाय"। तथापि पृथ्वी स्थिर न हुई। अनन्तदेव ने ऊचे स्वर से कहा, "विश्वामित्र, इतनी तपस्या तुमने नहीं की है कि पृथ्वी को धारण कर सको। क्या तुमने कभी साधु-संग किया है"? यदि किया हो तो उसी का फल अर्पण करो"। विश्वामित्र ने कहा, "मैंने एक मुहूर्त

वशिष्ठदेव का सत्सग किया है"। अनन्तदेव ने कहा, "तब उसी का फल अर्पण करो"। विश्वामित्र ने कहा, "मैं उसी का फल अर्पण करता हूँ"। इस पर धीरे-धीरे पृथ्वी स्थिर हो गयी। तब विश्वामित्र ने कहा, "अब मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये"। अनन्तदेव ने कहा, "मूर्ख विश्वामित्र, जिसके एक मुहूर्त के सग के फल से पृथ्वी स्थिर हो गयी उसको छोड़कर मुझ से ब्रह्मज्ञान सीखना चाहते हो"?

यह सुन कर विश्वामित्र को क्रोध हुआ। उन्होंने सोचा, वशिष्ठदेव ने तब उनके साथ छल किया है। शीघ्र ही उनके पास जाकर वह बोले, "आपने मेरे साथ छल क्यों किया"? वशिष्ठदेव ने अत्यन्त धीरे-धीरे गम्भीर स्वर मे उत्तर दिया, "अगर मैं उस समय तुमको ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देता तो उसमे तुम्हे विश्वास न होता। अब तुम्हें विश्वास होगा"। विश्वामित्र न वशिष्ठ के निकट ब्रह्मज्ञान की शिक्षा ग्रहण की।

भारतवर्ष मे ऐसे ऋषि थे, ऐसे साधु थे, ऐसा क्षमाका आदर्श था। ऐसा तपस्या का बल था जिससे पृथ्वी को भी धारण किया जा सके। भारत मे फिर से ऐसे ऋषि जन्म ग्रहण कर रहे हैं जिनकी ज्योति के सामने पहले के ऋषियों की ज्योति भी फीकी पड जायगी और जो फिर से भारत को पूर्वकाल के गौरव से भी कहीं बढ़ कर गौरव प्रदान करेंगे।

['धर्म' नामक एक बगला साप्ताहिक पत्र १६०६ म श्रीअरविन्द निकालते रहे हैं। उसमें से यह लेख लिया गया है। आगे भी उससे तथा उनके अग्रेजी 'कर्मयोगी' पत्र से हम कभी कभी पाठकों को श्रीअरविन्दके लेख हिन्दी में देने की आशा करते हैं। स० अ०]

— ० —

हमारी दृष्टि

(लेखक—श्री नलिनीकांत जी)

श्रीअरविन्द की साधना जगत् का, जीवन का, मानवसमाज का त्याग करके नहीं, बल्कि इन सब को स्वीकार करके ही अग्रसर होती है। श्रीअरविन्द की साधना यह चाहती है कि मनुष्य का इहलौकिक सामाजिक जीवन आध्यात्मिक सत्य के द्वारा गठित, रूपांतरित हो जाय। साधारण रूप में यही इस साधना का लक्ष्य है। परन्तु इस विषय में कुछ भ्रम भी उत्पन्न हुआ है। चूंकि हम लोग आध्यात्मिक साधना चाहते हैं, भगवान् का साक्षात्कार चाहते हैं, इसलिये साधारण संसारी लोग हमारी गणना संसार-त्यागी सन्यासियों में ही करते हैं। और दूसरी ओर, चूंकि हम लोग जागतिक विषयों का त्याग नहीं करते, यहां तक कि युद्ध विग्रह के विषय में भी उत्सुकता दिखलाते हैं, इसलिये सन्यासी अध्यात्मसाधक हमें बहुत कुछ प्रच्छन्न संसारी ही समझते हैं। और अगर हम इस बात पर ध्यान न भी दें कि दूसरों की धारणा या सिद्धान्त हमारे विषय में क्या है, तो भी इस विषय में हम लोगों के अन्दर भी कुछ-कुछ गड़बड़ी दिखाई देती है। हम स्वयं भी यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाते कि इस विषय में हमारी दृष्टि क्या है, आखिर सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच की सीमा ठीक किस स्थान पर है—कहां तक सांसारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन के अन्दर स्थान पा सकता है और कहां तक आध्यात्मिक जीवन सांसारिक जीवन का रूप ग्रहण कर सकता है।

कारण, साधारण तौर पर कहा यही जाता है कि हमारी साधना जगत् का या मनुष्य का कुछ भी त्याग नहीं करती, हमारी साधना सब कुछ स्वीकार करती है—अवश्य ही उस 'सब कुछ' को भगवन्मुखी बनाना होगा, भगवान् की सेवा में नियुक्त करना होगा, भागवत प्रेरणा के द्वारा अनुप्राणित करना होगा। हमारे साधारण सामाजिक नित्य-नैमित्तिक जीवन के जो सब कर्म या वृत्तियां हैं, हमारे व्यक्तिगत जीवन की जो सब प्रवृत्तियां हैं उन सब को त्याग देने या उनका मूलोच्छेद करने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल उन सब के अन्दर

एक प्रकार के संयम और सात्त्विकता को प्रतिष्ठित करने की, अनासक्त होकर, भगवत्प्रीत्यर्थ, भगवद्भाव के द्वारा चालित होकर उन सब वृत्तियों और प्रवृत्तियों को सार्थक करने की, जैसा कि गीता में अर्जुन को समृद्ध राज्य भोग करने को कहा गया है—भाई-बन्धु, परिजन, पुत्र-कलत्र कुछ भी परित्याग करने की बात नहीं कही गयी है। अर्जुन को सब कुछ करने, सब कुछ रखने को कहा गया है "निराशी-र्निर्ममो भूत्वा"। उपनिषद् में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य स्त्री-पुत्रादि को त्याग देने की बात नहीं कहते, वह कहते हैं कि वे रहेंगे सभी किन्तु उनके अन्दर देखना होगा अपने-आपको—आत्मा को, और प्यार करना होगा उसी अपने-आपको—आत्मा को। क्या हमारा भी लक्ष्य और मार्ग बहुत-कुछ इसी प्रकार का नहीं है? अर्थात् स्पष्ट रूप में अगर कहा जाय तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि पिता-माता, दारा या पति-पुत्र आदि किसी का भी त्याग करने की आवश्यकता नहीं, केवल इनके अन्दर देखना होगा भगवान को, इन सब सम्बन्धों को अनुभव करना होगा भागवत भाव के द्वारा उद्बुद्ध होकर? इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि केवल पारिवारिक सम्बन्ध ही नहीं, अन्यान्य सामाजिक सम्बन्ध और क्रिया-कर्म भी—जीविका, व्यवसाय-वाणिज्य, जन-सेवा, देश-सेवा इत्यादि भी—अखण्ड सर्वाङ्गीण भागवत जीवन के अन्तर्गत स्थान पा सकते हैं।

तो क्या पूर्ण भागवत जीवन इसी प्रकार की कोई चीज है? दुःख के साथ (अर्थात मानव भाव की दृष्टि से) स्पष्ट रूप में कहना पड़ता है कि नहीं, ऐसी कोई चीज नहीं है।

जब श्रीअरविंद यह कहते हैं कि उनकी साधना जगत को, मानवजाति को, मानव समाज को छोड़ कर नहीं, बल्कि उनको ग्रहण करके ही अग्रसर होती है तब इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल जगतमें, जीवनमें, समाज में जो कुछ उपादान या व्यवस्था विद्यमान है—भले ही वह सब बुरा ही न हो, बल्कि सब भला ही हो, सुंदर और उत्तम ही हो—वह सबका सब रहेगा या उन सब को रखना ही होगा, यह सभी भागवत जीवन का उपादान या व्यवस्था बन सकेगा। इस स्वतःसिद्ध सत्यको कभी भूलने से काम नहीं चलेगा कि मनुष्यका वर्तमान जीवन और समाज (व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों रूपोंमें ही) सब प्रकार से अज्ञानके द्वारा, अ भागवत शक्तिके द्वारा गठित और परिचालित हो रहा

है। वर्तमान समयमे मनुष्यको जो स्वभाव प्राप्त हुआ है, समाज को जो व्यवस्था प्राप्त हुई है, वह मनुष्य के अशुद्ध अध शरीर-प्राण मनकी आवश्यकता और माग के दवाव से उत्पन्न हुई है। आत्मा की आवश्यकता और माग (इसी का नाम तो आध्यात्मिकता है)—जिसे भगवान् की एषणा कहते हैं—अभी भी पीछे पड़ी हुई है, उसका दवाव अभी तक बाहरी आधार और क्षेत्र पे ऊपर नहीं पड़ा है, वह अभीतक "गुप्त भागीदार" है। हमारी साधना यही निर्देश करती है कि जिस चीजका हमे त्याग नहीं करना है, जिसे दूर नहीं करना है, जिसे विलुप्त नहीं करना है वह है इस देह, प्राण और मनका मूल सत्य और सत्ता, उनका स्वरूप—किन्तु हमे त्याग करना होगा, निर्मूल करना होगा उन सभी भावों, सारे रूपों और समस्त क्रिया-कलापों को जो वर्तमान समयमे रचित और गठित हुए हैं। मनुष्य के सामाजिक और पारिवारिक सवन्ध और व्यवस्था के विषयमे भी वस यही एक वात कही जा सकती है। मनुष्य का पारस्परिक संवन्ध तो रहेगा, मनुष्य का समष्टिगत जीवन तो रहेगा, परन्तु वर्तमान समयकी कोई भी धारा, कोई भी रूप या साचा नहीं रहेगा—क्योंकि वर्तमान सवन्ध रक्त के सवन्ध के द्वारा, देह के आकर्षण के द्वारा गठित हुआ है परन्तु भागवत समाज आत्मा के सम्बन्ध के द्वारा सगठित होगा। आजकल का जो कुछ है वह सव है वाह्य, स्थूल, शारीर; किन्तु दिव्य जीवन का मूल अधोभाग में नहीं, वल्कि ऊर्ध्व में है—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः।

जीवन के वाह्य स्वरूप के सम्वन्ध में, जिन वृत्तियों और प्रवृत्तियों ने उस स्वरूप को उत्पन्न किया है उन सव के सम्वन्ध मे संन्यास अर्थात् सम्यक् न्यास या त्याग का आदर्श ही हमे ग्रहण करना होगा। इस विषय मे ईसामसीह का उपदेश और आचरण अत्यन्त सरल और स्पष्ट है तथा सव की समझ मे आने योग्य है। इसलिये यहा पर हम उस कहानी का उल्लेख करते हैं।

एक दिन ईसामसीह सवको अपनी वात सुना रहे थे, उसी समय एक आदमी ने आकर उनसे कहा कि उनकी मा और उनके भाई वाहर खडे हैं, उनसे मुलाकात करना चाहते हैं। इस पर ईसा ने उत्तर दिया, "कौन मेरी मा है? कौन मेरे भाई हैं"? इसके वाद उन्होंने अपने शिष्यों की ओर हाथ उठा कर कहा, "ये ही मेरी मा है, ये ही मेरे भाई हैं। जो मेरे भगवान् की इच्छा का पालन करता है वही

मेरा भाई है, वही मेरी बहन है, वही मेरी मा है"। (बाइबिल, सेंट मैथ्यू अ० १२।४७–५०)

एक दूसरे दिन की बात है। एक भक्त से उन्होंने कहा, "चलो मेरे साथ"। भक्त ने उत्तर दिया, "प्रभो। मैं चलूगा तो परन्तु पहले मैं अपने बाप को कब्र दे आऊँ"। इस पर ईसा ने कहा, "मरा हुआ मरे को कब्र दे, तुम चले आओ, भगवद्राज्य के सदेश का प्रचार करो"। एक दूसरे भक्त ने कहा, "प्रभु। मैं आपके साथ चलूगा अवश्य, मगर घर जाकर सब से अन्तिम विदाई ले आऊँ"। इस पर ईसा ने कहा, "कार्य मे एक बार उतर जाने पर जो पीछे मुड कर देखता है वह भगवद्राज्य का अधिकारी नहीं"। (सेंट ल्यूक ९।५९–६२)

असल बात तो यह है—आदि-उपनिषद जिसे कहता है, "तेन त्यक्तेन भुजीथा", अर्थात पहले त्याग करना होगा, सर्वस्व और सम्पूर्ण त्याग करना होगा और फिर उसी त्याग के ऊपर, उसी त्याग का आश्रय लेकर भोग को सगठित करना होगा। भागवत जीवन किसी प्रकार का पौराणिक स्वर्ग नहीं है—पौराणिक स्वर्ग तो वह लोक है यह व्यवस्था है जहा हम लोगों की पृथ्वी की अतृप्ति तृप्त होती है, पृथ्वी का आकाश-कुसुम फलित होता है। यह स्वर्ग मानो पृथ्वी का ही एक मार्जित, सशोधित राजसस्करण है—पृथ्वी के सभी धनों का बाकी रोकड हम वहा के खाते मे खींच ले जाना चाहते है। परलोक मे बहुत से लोग पृथ्वी की फटी-पुरानी गन्दी पोटली तक को ले जाना चाहते है, बहुत से लोग तो वहा टेनिस फुटबाल, गाल्फ इत्यादि खेल और जुआ तक खेलते है, शेयर खरीदते बेचते हैं। इसी तरह बहुत लोगों का विश्वास है कि आध्यात्मिक जीवन के विशाल लोक मे वे 'सपरिवार' निमन्त्रित होकर आये हैं, और जो लोग परिवार की सीमा तोड कर कुछ अधिक उदार और वृहत आदर्शप्रिय बन सके है उनमे से बहुत से लोग यह भी समझ सकते है कि भागवत जीवन मे वे समान रूप से देशोद्धारक बन कर, राष्ट्र या समाज सस्कारक बन कर अथवा दरिद्रनारायण की सेवा करते हुए अग्रसर हो सकते हैं।

परन्तु यहा पर यह कहना अत्यत आवश्यक मालूम होता है कि आध्यात्मिक जीवन—सच्चा आध्यात्मिक जीवन—इन सब मकडी के जालों को झाड-पोंछ कर साफ कर देता है। आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ ही तब होता है जब शरीर,

प्राण और मन को मनुष्य 'श्वेत पट' या 'शून्य पट' के जैसा बना लेता है। जब मनुष्य पुराने सभी संस्कारों, सभी सम्बन्धों को निर्मूल कर देता है, खेत की निरर्थक घास की तरह इन सब को जब उखाड़ फेंकता है तभी नयी वृत्तियों, नये सम्बन्धों का बीज अंकुरित होता है—और यह बीज है भगवदिच्छा। अगर संस्कारों का, पुराने स्वभाव का, सांसारिक सम्बन्धों का जंगल चारों ओर से घेरे रहे तो भगवदिच्छा कभी विकसित, प्रस्फुटित नहीं हो सकती।

प्राचीन सन्यास मार्ग की कमी यही है कि उसने संस्कारों को दूर करने के साथ-साथ आधार तक को दूर कर दिया है; निरर्थक घास-पात को समूल उखाड़ने के साथ-साथ क्षेत्र तक को उखाड़ कर प्रलय की अग्नि में झोंक दिया है। हम लोग अवश्य ही यह भूल नहीं करेंगे। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम 'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि' के आदर्श का अनुसरण करेंगे। हम आत्मा की रक्षा करेंगे उसके स्वरूप की सत्य-वाहिनी के द्वारा।

जगत् को, जीवन को, समाज को नये सिरे से गढ़ना होगा, एकदम नये साँचे में ढालना होगा; परन्तु वह साँचा ऐहिक के, इस शरीर, प्राण और मन के कारखाने में नहीं मिल सकता; वह साँचा तो है मानसोत्तर लोक में। उसी मानसोत्तर लोक में, भगवान् की आत्मसंवित के अन्दर हमें पहले ऊपर उठना होगा और फिर वहाँ से अमृतमय साँचा नीचे उतार लाना होगा। वर्तमान समय का कोई भी साँचा रखने से काम नहीं चलेगा। निर्मम होकर उन सब साँचों को तोड़-फोड़ देना होगा और फिर उन्हें भागवत चेतना के अग्निकुण्ड में स्वाहा कर देना होगा। भविष्य की वृत्तियाँ, भविष्य के रूप, भविष्य के सम्बन्ध सभी उस ऊर्ध्वतम चेतना के द्वारा सृष्ट होंगे, उसी में से निःसृत होंगे। इस बीच हमें सदा स्मरण रखना होगा कि अभी हम जिन सब चीजों की पूजा करते हैं वे ही वह चीज नहीं हैं, नहीं हैं—नेदं यदिदमुपासते।

—०—

गीता में अनासक्ति-योग

(लेखक—श्री अनिलवरण जी)

(शेष भाग)

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि युद्ध कभी भी मानवसमाज के अन्दर से दूर न होगा अथवा गीता मनुष्य को सर्वदा युद्ध करने की ही शिक्षा देती है। युद्ध अत्यन्त घोर कर्म है, पर जब तक जगत में आसुरिक भाव वाले मनुष्यों का अत्याचार रहेगा तब तक धर्मप्राण मनुष्यों को युद्ध करना ही पड़ेगा। गीताकार ने केवल यही दिखाने के लिये युद्ध का उदाहरण ग्रहण किया है कि संसार के सभी आवश्यक कर्म, यहा तक कि युद्ध जैसा अत्यन्त घोर कर्म भी फलकामना से रहित होकर, अनासक्त भाव से, भगवत्प्रेरित कर्त्तव्य कर्म समझते हुए किया जा सकता है और इस प्रकार युद्ध करने से कोई पाप या बन्धन तो होता ही नहीं, अपितु इस प्रकार के निष्काम अनासक्त कर्म के द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि और पूर्णता भी प्राप्त कर सकता है।

दूसरी ओर जिन सब कर्मों को लोग साधारणत अच्छा कर्म, धर्ममय कर्म कहते हैं उन सब कर्मों में भी आसक्ति हो सकती है और साधारणत मनुष्य उन सब कर्मों को वासना और आसक्ति के साथ ही करते हैं और इस कारण आध्यात्मिक जीवन में वे कुछ भी उन्नति नहीं कर पाते। कर्म में होने वाली यह आसक्ति रजोगुण से उत्पन्न होती है। पाश्चात्य देशों का कर्मवाद (Activism) वास्तव में रजोगुणात्मक है। उसके अन्दर अहंभाव और आसक्ति मौजूद है और इस प्रकार का कर्म मनुष्य को दुःख से दुःख में ही ले जाता है इसका उद्देश्य ऊपर से मनुष्यसमाज का हित करना होने पर भी इसके द्वारा वास्तव में वह हित सिद्ध नहीं होता। बल्कि यह राजसिक प्रेरणा जब प्रबल होती है तब मनुष्य असुरभावापन्न हो जाता है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक जर्मनी है। जर्मन जाति ने कर्मशक्तिका जैसा विकास किया है वैसा संसारमें और कहींभी नहीं देखा जाता। परन्तु इसके पीछे अध्यात्म ज्ञान और प्रेरणा न होने के कारण यह विराट् कर्मशक्ति जगत

का ध्वस करने में नियोजित हुई है। जर्मनी ने इस फलाकाङ्क्षा से विश्वव्यापी महायुद्ध आरम्भ कर दिया है कि समस्त पृथ्वी को जर्मन जाति के वासस्थान के रूप में परिणत कर देना होगा, अन्यान्य सभी जातियों को दास-जाति बना कर जर्मन जाति की सेवा के लिये बोझ ढोने वाले पशुओं के कार्य में लगा देना होगा। अहंभावमूलक फलकामनामूलक राजसिक कर्म की यही चरम परिणति है। हम आशा करते हैं कि इस चरम दृष्टान्त को देखकर मनुष्य की आंख खुलेगी, अब मनुष्य गीता की अध्यात्म-शिक्षा का प्रकृत मर्म उपलब्ध करके उसके अनुसार जीवन को गठित करने के लिये, जगत में एक वास्तविक नवीन सत्ययुग की प्रतिष्ठा करने के लिये अग्रसर होगा।

मनुष्य केवल असत-कर्म ही आसक्ति के साथ नहीं करता, सत-कर्म में भी उसकी आसक्ति होती है और उसे दूर करना और भी कठिन होता है। देश सेवा, समाजसेवा तथा साधारण लोकहितकारी कर्म मनुष्यको नशेकी तरह अभिभूत कर डालता है, मनुष्य इच्छा होने पर भी उसे छोड नहीं सकता। क्योंकि उन सब कर्मों के पीछे उसका अहंभाव रहता है, यह भाव रहता है कि 'मैं देश की सेवा करता हूँ', तथा साथ ही सूक्ष्म रूप से यश, मान, प्रभाव, अधिकार की कामना भी रहती है। स्वार्थत्यागी महामान्य नेता तक भी ऐसी आसक्ति के वश में आ जाते हैं, बहुत बार वे स्वयं उसे नहीं समझ पाते, परन्तु इस प्रकार राजसिक भाव से अभिभूत होने के कारण उन्हें उचित मार्ग ठीक ठीक नहीं दिखाई देता, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करनेमें वे पग पग पर भूल करते हैं और इस कारण हितसाधनकी चेष्टा करने पर भी असंख्य प्राणियों के असीम अमंगल का कारण बन जाते हैं। गीता ने राजसी बुद्धि के विषय में कहा है—

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ १८।३१

इस प्रकार अज्ञान से अन्ध होकर आसक्ति के वश कर्म करने की शिक्षा गीता नहीं देती, गीता जो कर्म करने को कहती है वह ज्ञानी का कर्म है, योगी का कर्म है, उसे करने के लिये पर्याप्त साधना करने की आवश्यकता होती है। दुख तो इस बात का है कि ये सब तथाकथित नेता लोग राजसिक अहंकार के वश तथा अज्ञान के अधीन होने पर भी अपने को खूब ज्ञानी समझते हैं, स्वयं अन्धे होकर

भी दूसरों को रास्ता दिखाने चलते हैं और फलस्वरूप मनुष्य जाति का दुःख-क्लेश बढ़ता ही जाता है। उपनिषद् ऐसे लोगों के विषय में कहती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मुण्डकोपनिषद् १।२।८

साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, जो लोग बड़े यत्न के साथ योग-साधना, अध्यात्मसाधना करते हैं, वे भी ऐसे राजसिक अहंकार और आसक्ति के शिकार बन जाते हैं। निम्न प्रकृति की त्रिगुणमयी माया को अतिक्रम करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अध्यात्म के साधक भी ऐसा समझने लगते हैं कि "मैं इतना बड़ा साधक हूँ, मैं इतना आगे बढ़ चुका हूँ, भगवान ने अपना महान कार्य सिद्ध करने के लिये मुझे अपना यन्त्र बना लिया है"। जिसे वे भगवान का कार्य समझते हैं उसी में वे आसक्त हो जाते हैं, उसे करने के लिये उनकी व्यग्रता और व्यस्तता का अन्त नहीं होता, परन्तु इस प्रकार भगवान् का कार्य करना भी गीता की शिक्षा नहीं है—गीता का योगी तो शान्त, समाहित होगा, वह कभी व्यस्त नहीं होगा, उसे यह मालूम होगा कि भगवान स्वयं अपना काम पूरा कर लेंगे, किसी तरह उसमें व्यतिक्रम न होगा, उसे स्वयं जो कुछ करना है, भगवान् उसके द्वारा जो कुछ कराना चाहते हैं उसे वह शान्त बुद्धि के द्वारा जान कर धीरता और शान्ति के साथ करेगा। बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो अपने मन के आदर्श और धारणा के अनुसार अथवा प्राणों की नाना वासना-कामना के अनुसार कर्म करते हैं और समझते यह हैं कि भगवान उनके द्वारा यह कर्म करा रहे हैं, इसमें उनका अपना कोई हाथ नहीं। ऐसी भूल होने का कारण यह है कि इन लोगों ने भगवान् का यन्त्र बन कर निष्काम भाव से, अनासक्ति के साथ कर्म करने का आदर्श केवल मन द्वारा ही समझा है और ग्रहण किया है, उन्होंने अपने समग्र मन, प्राण और चेतना को उसके लिये तैयार नहीं किया है। जब तक हमारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हो जाता तब तक उसके अन्दर, सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, व्यक्तिगत कामना-वासना का लेश अवश्य रहेगा और हम अपनी समस्त व्यक्तिगत प्रेरणाओं को भगवान की वाणी, भगवान् की प्रेरणा समझने की भूल भी करेंगे। हमें सदा सर्वदा और सर्वत्र भगवान् को स्मरण करना चाहिये, सब प्रकार की कामनाओं और वासनाओं को, यश, मान, प्रभाव, अधिकार आदि की कामना को दूर हट

कर अपने आधार से दूर करना चाहिये, अपने भीतर प्रकृति के तीनों गुणों की क्रिया को सदा बड़े ध्यान से देखते रहना चाहिये और एकान्त निष्ठा के साथ इस साधना को तब तक चलाते रहना चाहिये जब तक भगवान् भीतर से आत्मज्ञान की पूर्ण ज्योति से, ज्ञानदीपेन भास्वता, समस्त भ्रांति और आत्मप्रतारणा की सम्भावना को दूर न कर दें।

गीता ने कहा है कि जिस व्यक्ति ने समस्त संकल्प का त्याग कर दिया है, समस्त आसक्ति को दूर कर दिया है वही सच्चा योगारूढ़ है। शंकर ने इसकी व्याख्या की है कि संकल्प का त्याग करने पर कोई कर्म नहीं हो सकता, 'नहि सर्वसंकल्पसन्यासे कश्चित् स्पन्दितुमपि शक्त', अतएव गीता ने जो सर्वसंकल्पत्याग की बात कही है उसका अर्थ सर्वकर्मत्याग ही समझना चाहिये। पर यदि ऐसा ही मतलब था तो फिर गीता ने इसे स्पष्ट ही क्यों नहीं कहा? वास्तव में गीता की शिक्षा ही यह है कि संकल्प का त्याग तो करना चाहिये, परन्तु कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, अवश्य ही लोग साधारणत संकल्प के वश होकर ही कर्म करते हैं, परन्तु योगारूढ़ व्यक्ति की कर्म की प्रेरणा ऊर्ध्वतर मूल से आती है; समस्त संकल्प और व्यक्तिगत कामना-वासना का त्याग करने पर, सन्यास करने पर ही उस मूल का पता मिलता है—इसी कारण योगी होने के लिये सन्यासी होना पड़ता है। सन्यास और कर्मयोग मूलत एक ही हैं—यही बात गीता ने बार-बार कही है, फिर भी शङ्कर ने अपने मत को चलाने के लिये नाना प्रकार से इस बात को उड़ा देने की चेष्टा की है। शङ्कर की युक्ति यह है कि संकल्प से सभी कामनाओं की उत्पत्ति होती है, कामना के बिना कोई कर्म करना सम्भव नहीं, 'सर्वकामपरित्यागे सर्वकर्मसन्यास सिद्धो भवति', अतएव समस्त संकल्प का त्याग करने पर सभी कर्म अपने-आप बन्द हो जायेंगे। किन्तु छठे अध्याय के पहले श्लोक की व्याख्या करते हुए स्वयं शङ्कर ने भी यह स्वीकार किया है कि फलकामनाशून्य होकर कर्तव्य कर्म किया जा सकता है। कामना का त्याग करने से कर्म का त्याग हो जाता है, इस युक्ति की दुर्बलता को समझ कर ही शङ्कर ने कर्मत्याग का समर्थन करने के लिये अन्यान्य शास्त्रवाक्यों को उद्धृत किया है। जैसे महाभारत से यह व्यास-वाक्य लिया है—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व १७५।३७

अर्थात् "ऐक्यानुभूति, समता, सत्यव्यवहार, शील, स्थिरता, अहिंसा, सरलता तथा क्रमशः क्रियाओं से उपरति—इन सब के जैसा ब्राह्मण के लिये कोई दूसरा धन नहीं है"। यह कहना न होगा कि आधुनिक मनुष्य की तरह राजसिकता के वशीभूत होकर एक कर्म के बाद दूसरा कर्म बढाते चलना भारत का आध्यात्मिक आदर्श नहीं है और इस विषय मे बहुतेरे शास्त्रवाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। स्वयं गीता ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि को आदर्श कहा है तथा स्पष्ट रूप मे यह कहा है कि मनुष्य के अन्दर वर्तमान कर्मप्रवर्त्तक रजोगुण को अत्यधिक प्रश्रय देने से मनुष्य असुर बन जाता है उग्रकर्मा बन कर जगत् का अत्यन्त अहित करता है (१६।६)। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्मका त्याग करना होगा, भगवान् ने गीता मे कहा है कि अगर वह स्वयं आलस्यहीन होकर कर्म न करें तो लोग उनका दृष्टान्त देखकर कर्म बन्द कर देंगे, तामसिकता के कवल मे पड़ कर समाज उत्सन्न हो जायगा। गीता की शिक्षा का यह जो दूसरा पहलू है इसको शङ्कर ने दबा दिया था और इसके फलस्वरूप सारा भारत आज इस प्रकार तामसिकता से आच्छन्न हो गया है कि आत्मरक्षा करने की शक्ति भी वह खो बैठा है। इस तामसिकता से भारत को मुक्त कर आसन्न मृत्यु से उसकी रक्षा करने के लिये व्यापक रूप से राजसिकता के प्रचार की बहुत अधिक सार्थकता है, इसमे सन्देह नहीं और स्वामी विवेकानन्द ने किया भी यही था। परन्तु इस राजसिक कर्म को ही यदि हम पाश्चात्यमतानुयायी हो मानवता का चरम आदर्श स्वीकार कर लें तो संसार को जो प्रकाश देने के लिये भारत युग युगान्तर से प्रस्तुत हो रहा है वह बुझ जायगा, भारत धर्मच्युत होकर विनाश को प्राप्त होगा। गीता मे इसी आदर्श का जो सुस्पष्ट संकेत विद्यमान है वह एक ओर तो शङ्कर की मायावादमूलक व्याख्या के कारण और दूसरी ओर आधुनिक व्याख्याकारों की पाश्चात्यभावमूलक व्याख्या के कारण नष्ट ही हो रहा था, श्रीअरविन्द ने अपूर्व साधनलब्ध दिव्य दृष्टि के द्वारा गीता की उसी अमृतमयी शिक्षा को फिर से जगत के सामने उपस्थित किया है और अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि की ज्योति के द्वारा गीता की शिक्षा को और भी अधिक गभीर और पूर्ण रूप प्रदान किया है।

महाभारत मे जिस प्रकार कर्मत्याग की प्रशसा है उसी प्रकार फिर कर्म की भी प्रशसा है। महाभारत ने स्वय इस द्वन्द्व की मीमासा भी कर दी है—

तद्दिदं वेदवचन कुरु कर्म त्यजेति च।
तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात समाचरेत्॥

अर्थात "कर्म करो, कर्म का त्याग करो, दोनों ही वेदाज्ञा हैं। अतएव कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर समस्त कर्म करना चाहिये'।

तस्मात कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिन । अश्वमेधपर्व ५१। ३२॥

"अतएव जो लोग पारदर्शी हैं वे आसक्ति का त्याग कर कर्म करते हैं"।

भारत के इसी सनातन कर्मयोग के आदर्श को गीता ने जिस रूप मे प्रकट किया है वैसा और कहीं भी नहीं देखा जाता। आसक्ति का त्याग करने से ही कर्म का त्याग हो जाता है—ऐसा गीता ने कहीं भी नहीं कहा है, बल्कि गीता मे बार बार यह कहा है कि आसक्ति का त्याग कर ससार के आवश्यकीय सभी कर्म करने होंगे (जैसे—२।४८, ३।७, ६, १६ ४।१८—२३, १८।६, ११, २३, २६ इत्यादि)।

किन्तु इस प्रकार आसक्ति का त्याग करना सहज नहीं है, इसके लिये साधना की आवश्यकता होती है। बहुत से लोग ससार धर्म का पालन करते हुए यह समझते हैं कि वे अनासक्त भाव से जनक राजा की तरह संसार में जीवन बिता रहे हैं। परन्तु ज्योंही कोई विपत्ति, शोक, पराजय, अपमान इत्यादि आ जाता है त्योंही उनकी परीक्षा हो जाती है। श्री रामकृष्ण की यह बात याद रखनी होगी कि "चटसे जनक राजा नहीं हुआ जा सकता। जनक राजा ने बहुत दिनों तक निर्जन स्थान मे तपस्या की थी"। फिर दूसरी तरह के कुछ लोग यह समझते हैं कि जनसाधारण का कार्य करना, राजनीतिक कार्य करना, समाजसेवा करना—यही सब गीता का कर्मयोग है। परन्तु वास्तव में इन सब कर्मों के पीछे रहती है घोर आसक्ति, और इसी कारण यह देखा जाता है कि बहुत से लोग इच्छा होने पर भी राजनीतिक या उसी तरह के अन्य कार्य छोड़ नहीं पाते। मनुष्य का अहं जिन चीजों की खूब तीव्र आकांक्षा करता है—जैसे यश, मान, प्रभाव, अधिकार इत्यादि—वे सब चीजें राजनीतिक कार्य के द्वारा जितनी प्राप्त होती हैं उतनी अन्य

किसी क्षेत्र में पाना सम्भव नहीं, यही कारण है कि राजसिक प्रकृति के लोग इन्हीं सब कार्यों में आबद्ध हो जाते हैं। वास्तव में इस प्रकार के कर्म को कर्मयोग कहना अपने को धोखा देने के सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस तरह हमारी प्रकृति में इन्द्रियभोग्य विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति बद्धमूल है उसी तरह कर्म के प्रति होने वाली आसक्ति भी राजसिक प्रकृति में बद्धमूल है। स्व० रासविहारी घोष वृद्धावस्था में भी वकालत करते थे। एक दिन उनके एक मित्र ने उनसे कहा, "आपको तो यश, मान, धन किसी का भी अभाव नहीं है, अब कार्य से छुट्टी क्यों नहीं ले लेते"? इस पर उन्होंने उत्तर दिया था—"इतनी शक्ति मुझ में नहीं—I work chained like a galley slave"। प्राचीन कालमे क्रीतदासों को जिस प्रकार जजीरसे बाधकर डाड चलवाया जाता था, इच्छा होने पर भी वे वह कार्य नहीं छोड सकते थे, उसी प्रकार रजोगुण भी मनुष्य को दृढ़ता के साथ बाध रखता है। इसी कारण जो मनुष्य इस बन्धन को काट देता है उसे गीता योगारूढ़ कहती है। आरम्भ में इच्छाशक्ति का प्रयोग कर सब प्रकार की आसक्ति का त्याग करने का अभ्यास करना होता है, परन्तु योगसाधना के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना यह कभी पूरा नहीं होता। इन्द्रियभोग्य विषयों में आसक्ति का त्याग, कर्म में आसक्ति का त्याग तथा समस्त सकल्प का त्याग—ये गीता ने योगारूढ के लक्षण कहे हैं। शङ्कर ने कहा है कि इस योगारूढ अवस्था मे कर्म नहीं रहता, कर्म का रहना सभव नहीं। साधारणत समाधि का जो अर्थ समझा जाता है, बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाना, शरीर और इन्द्रियों की सभी क्रियाओं का बन्द हो जाना इत्यादि—उसी को शङ्कर ने योगारूढ अवस्था समझा है। परन्तु गीता समाधि का अर्थ ऐसी निष्क्रिय, निस्तब्ध अवस्था नहीं मानती। द्वितीय अध्याय के ५५ वें श्लोक से लेकर ७२ वें श्लोक तक स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ व्यक्ति के लक्षणोंका वर्णन किया गया है, वे सब लक्षण भीतरी हैं, बाहरी नहीं। वह व्यक्ति समस्त मनोगत कामनाओं से दूर होता है, वह आत्मामें ही तुष्ट होता है, बाह्य किसी विषय में आसक्त नहीं होता, साक्षी स्थिति की गभीरतम शान्तिमे प्रतिष्ठित रहकर, निर्मम निरहकार निःस्पृह होकर ससार में विचरण करता है, कर्म करता है। शकर ने जो यह कहा है कि ऐसे व्यक्ति के लिये स्पन्दित होना, जरासा भी हाथ पैर हिलाना सभव नहीं यह निश्चय ही गीता की शिक्षा नहीं है—

विहाय कामान य सर्वान् पुमाश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥ २।७१

योगारूढ़ व्यक्ति बाह्य इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विषयमे आनन्द नहीं पाता या विषयके आनन्द का त्याग करता है। तब वह किसी बाह्य वस्तु से जो आनन्द पाता है वह उस वस्तु के कारण नहीं पाता, इस कारण भी वह नहीं पाता कि वह वस्तु उसके किसी अभाव या आकांक्षा को पूरी करती है, बल्कि उस वस्तु मे जो आत्मा विद्यमान है उसके कारण वह उस वस्तु मे आनन्द पाता है। वह अपने सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप की उपलब्धि करता है, आत्मानन्द मे सर्वदा मग्न रहता है और फिर सब मनुष्यों, सब वस्तुओं में उसी एक सच्चिदानन्द आत्मा को देखकर सर्वत्र उसी आनन्द को प्राप्त करता है। कोई वस्तु न पानेपर भी उसके आत्मानन्द मे कोई कमी नहीं आती, इसी कारण वह राजसिक आकांक्षा के वश किसी बाह्य वस्तुको पकड़ना नहीं चाहता, किसी वस्तुके प्रति आसक्त नहीं होता, यदृच्छालाभसंतुष्ट ।

उसी तरह किसी कर्म मे भी उसे आसक्ति नहीं होती, वह जानता है कि भगवान का कार्य भगवान कर ही लेंगे, उसके लिये उसे व्यग्र या व्यस्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अर्जुन यदि कुरुक्षेत्र का युद्ध न करते तो भी भीष्म, द्रोण कोई भी नहीं बचता, भगवान ने पहले ही उन सबको मार डाला था। अर्जुन यदि तामसिक अहंकार के वश मे होकर युद्ध न करते तो दूसरे लोगों को निमित्त बनाकर भगवान् वह कार्य पूरा कर लेते। वह भगवत्प्रेरणा से जो कार्य करता है उसमें उसका कोई अहभाव नहीं रहता—वह जानता है कि भगवान ही उसके सब कर्म पूरे कर देते हैं। यह करना होगा, वह करना होगा—इस तरह वह कोई सकल्प नहीं करता, वह केवल ऊपर से आने वाली भगवान की प्रेरणाकी प्रतीक्षा करता है और भागवत शक्तिको अपने हाथ-पैरके द्वारा कार्य करने देता है। अतएव एक दृष्टिसे वह सर्वकर्मत्यागी होता है, क्योंकि उसका न तो अपना कोई सकल्प ही होता है और न कर्म ही—उसके द्वारा होनेवाले सभी कर्म होते हैं भगवान के कर्म।

अतएव जो लोग राजसिकता के वशीभूत हो देश के कार्य, समाज के कार्य मे सर्वदा तल्लीन रहते हैं, "यह करना होगा, वह नहीं करना होगा"—इस प्रकार

मनमे सकल्प-विकल्प किया करते हैं, वे जड़, अकर्मण्य अथवा सकीर्ण स्वार्थपरायण व्यक्तियों से श्रेष्ठ होने पर भी कर्मयोगी या योगारूढ़ नहीं हैं। गीता ने राजस कर्मी के लक्षण इस प्रकार कहे हैं—वह रागी अर्थात आसक्ति के वशमे होता है, अशान्त, कर्मफलाकाक्षी, लोभी, हिंसापरायण, शौचाचारहीन, सिद्धिप्राप्ति से हर्षान्वित और असिद्धि से शोकान्वित होता है। इस अवस्था से ऊपर उठकर कर्मयोगी होनेके लिये पहले सत्त्वगुणको प्रश्रय देकर सात्त्विक कर्मी होना होगा। सात्त्विक कर्मी के लक्षण हैं—वह अनहंकारी, मुक्तसग, सिद्धि और असिद्धिमे निर्विकार होता है। पाश्चात्य आदर्शके अनुसार जो लोग कर्तव्यके लिये कर्तव्य करते हैं, Duty for the sake of duty, वे लोग भी ठीक सात्त्विक कर्मी नहीं हैं, उनके अन्दर भी साधारणत राजसिकता का प्राधान्य रहता है, फिर भी यहा सत्त्वगुण की क्रिया भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक कही जा सकती है। कारण, ड्यूटी (Duty) का आखिर अर्थ क्या है? जो सत्कर्म के नाम से समाज में प्रचलित है, जो मनुष्य के विवेक द्वारा अनुमोदित है, जिसके द्वारा समाज का, देश का, सारी मनुष्यजाति का मगल होने की सम्भावना मालूम होती है इत्यादि ऐसे कर्मों को ही Duty या कर्त्तव्य कहा जाता है। इस प्रकार के कर्तव्यबोध के वश जो लोग कार्य करते हैं वे अपनी व्यक्तिगत सकीर्ण स्वार्थपरता तथा क्षुद्र भोगवासना को तो एक हद तक सयत करते हैं, परन्तु उनके अन्दर भी अहभाव, कर्त्ता होने का भाव रहता ही है। उस अवस्था मे सूक्ष्म रूप मे वासना की क्रिया भी चलती रहती है, केवल एक प्रकार की वासना के बदले वे दूसरे प्रकार की वासना का अनुसरण करते हैं; उनमे कर्म के प्रति आसक्ति और व्यग्रता साधारण स्वार्थपर कर्मी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है—परार्थपरता के नशे के समान तीव्र नशा और कोई नहीं है। फलाफल की ओर अगर दृष्टि न भी हो तो भी कर्म के प्रति तीव्र आसक्ति होती है, उसे सम्पन्न करने के लिये बहुत अधिक व्यग्रता और चेष्टा होती है,—और ये सब हैं राजसिकता के लक्षण—इससे शक्ति का अपव्यय होता है, इसकी प्रतिक्रिया अवसन्नता प्रदान करती है। ऐसे व्यक्ति साधु माने जा सकते हैं, किन्तु वे योगी नहीं हैं। यहा तक कि सात्त्विक कर्मी भी योगी नहीं हैं, क्योंकि सत्त्वगुण का भी बन्धन होता है। सत्त्वगुण के प्रभाव से मनुष्य पाप पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी अपनी व्यक्तिगत धारणा मे आसक्त हो जाता है, भगवान् की इच्छा के सामने अपने-आपको पूर्ण

रूप से समर्पण नहीं कर सकता। सात्त्विक गुण के अभ्यास के द्वारा मनुष्य जब पूर्णरूपेण समस्त अहभाव और आसक्ति से मुक्त हो जाता है, अपने को सम्पूर्ण रूप से भगवान् के निकट समर्पण कर देता है तभी वह वास्तव में योगारूढ होता है, त्रिगुणातीत होता है, गीता के आदर्शानुसार कर्मयोगी होता है।

—'वर्त्तिका' से

चालीस साल का बच्चा

(लेखक—डा० इन्द्रसेन जी)

'आह। बिल्कुल बच्चा। एक चालीस सालका बच्चा'। कुछ दबी-सी आवाज मे अनायास ही ये शब्द डा० गहनस्वरूप के मुख से निकल गये। वास्तव मे उस स्थिति मे उन्होंने एक विशेष मनोवैज्ञानिक सत्य का अनुभव किया था, पर उसको प्रकट करने का आशय उनका जरा भी न था।

समर्थसहाय अपने स्त्री बच्चों के साथ बैठे सायकाल का जल-पान कर रहे थे। डा० गहनस्वरूप उधर से जा रहे थे। अचानक अन्दर चले आये कि बहुत दिनों से मित्र को देखा नहीं, देखता चल। पर थे वे जल्दी मे, दो-चार मिनिट ही वहा ठहरे होंगे। सामान्य हाल-चाल पूछा या वे अनायास दबे से ये शब्द निकल गये जो सबने शायद सुने भी न थे। परन्तु डा० महोदयने उनका समर्थसहाय पर तुरन्त प्रभाव देखा। उनको कुछ खेद हुआ और वे जल्दी ही आज्ञा लेकर चले गये।

(२)

समर्थसहाय की दशा बड़ी विचित्र और गम्भीर देखने मे आने लगी। मुख पर कभी २ अचानक मानो गहरी वेदना की धारिया खिंच जाती हों। सीधे हृदय के कोमल स्थल पर ही किसी ने चुटकी भर रक्खी हो और अब वह छुटाये छूट न रही हो। वेदना के साथ खोज का भाव भी प्रकट होता था। कोई अन्धेरे मे जैसे कहीं किसी कोने से रगड खा जाने पर छिली जगह टटोल रहा हो।

अब भी घर मे वे कभी हसते बराबर दिख पडे गे पर उस हसी पर एक प्रत्यक्ष बोझा दीखता था। सिर पर मन भर का भार उठाये मानो कोई जबर्दस्ती कुछ उछल-कूद दिखलानेका यत्न कर रहा हो। समर्थसहाय को देखकर कोई प्रत्यक्ष ही यह अनुभव करता कि उसके लिये उसका सजीव, सबल शरीर ही इतना बडा और भारी बोझा बन रहा था। उनका चलना फिरना इस बात का साफ प्रमाण था। शायद इसी लिये ही बिना काम के भी वे थके-थके प्रतीत होते थे। सारे शरीर

मे सिर उनके लिये विशेष भारी हो गया था। यहा तो वे अन्दरसे भाप का सा प्रबल दबाव अनुभव करते थे। सिर फटता मालूम पड़ता और अब तो आधा शीशी का दर्द भी सताने लगा था।

डा० गहनस्वरूप के वे शब्द 'आह! बिल्कुल बच्चा, एक चालीस साल का बच्चा'। समर्थसहाय के अन्दर विचित्र पकड़ कर गये। किसी को जैसे अपने घर में ही चोर की चेतावनी दे गये हों।

बार-बार चिन्ता और भय के साथ वे मन ही मन यह स्वीकार कर रहे थे। हा। मैं बच्चा हूँ, बिल्कुल बच्चा हूँ, मैं बात बात से डरता हूँ। उनके हृदय पर हर क्षण ही एक असमर्थ और असहाय भाव का चित्र खिंचा हुआ था और उसी में ही वे न चाहते हुए भी लीन रहते थे।

(३)

कलावती की चिन्ता अपने पति के लिये दिनों दिन बढ़ती जाती थी। पिछले कई महीनों से जब से उसके पति मे यह अज्ञेय प्रकार की अन्तर्मुखता पैदा हो गयी थी वह हर सम्भव तरीके से उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करती। कभी कोई घर का दुख कष्ट उनसे न कहती। बच्चोंके किसी भी झगडेकी चर्चा न करती। उसे खूब पता था कि ऐसी बातें पहले सामान्य अवस्था मे ही उन्हें अत्यधिक चिन्ता शील बना देती थीं। जरा असाधारण तरीके से ही वे लगभग हर एक कष्ट को अनुभव करते थे।

एक घटना तो उसे बहुत ही याद थी। दो बडे लड़कों में एक दिन पैन्सिल के लेने देने पर झगड़ा हो गया। मार-पीट भी हो गई। शाम को उस ऊधम का बच्चों के पिता से भी जिक्र कर दिया। तब जो उनकी दशा हो गई थी, वह कलावती के मन पर आज भी अंकित है। वे बच्चों के झगडे की निन्दा करते हुए—क्या करूं, ये बच्चे आठ-आठ दस-दस साल के हो गये, परन्तु मानते ही नहीं, क्या करू, हाय क्या करूं—कहते-कहते उनकी आखों मे आसू आ गये और रोने से लग गये।

तब से ही कलावती ने यह नियम बना लिया था कि घर के ऐसे झगड़े उनसे कहने ही नहीं। उसने सोचा उनके लिये दफ्तर का काम ही काफी है। क्यों

की बातें तो मैं भी निपटा सकती हूँ। घर के दुःख से दफ्तर के काम में विघ्न नहीं होना चाहिये। इस विचारशीलता के भाव से उसने घर में माता के साथ पिता होने का निश्चय पहले से कर रक्खा था।

परन्तु अपने पति की वर्तमान अवस्था उससे किसी प्रकार भी सम्भाले नहीं सम्भल रही थी। समर्थसहाय के मन की चिन्ता सारे घर का चित्र बनती चली जा रही थी। कलावती अनुभव कर रही थी कि उनकी गृहस्थ-नौका बड़े निरकुश भाव से अज्ञात गहरे भाव में डगमगा रही है। हर क्षण ही भय था।

(४)

"बड़ा विचित्र स्वप्न। बहुत ही विचित्र। सुन्दर पर बड़ा भयङ्कर"। कुछ ऐसे से शब्द कलावती ने सवेरे कमरे की सफ़ाई करते हुए बिस्तरे पर से अपने पति को कहते हुए सुने। कुछ उत्साहित और कुतूहल भाव में वह तुरन्त ही उनके पास जा बैठी। थोड़ी देर बाद जब उन्होंने मुह पर से चादर हटा कर आखें खोलीं तो उसने कहा, 'अभी आप कुछ कह रहे थे न'।

'क्या ? मैं तो उठ ही अब रहा हूँ'।

'कुछ स्वप्न देखे की बात थी। क्या कोई अभी स्वप्न आ रहा था' ?

थोड़ी देर बाद वे बोले—'हा, था क्या मैं अभी कुछ बड़बड़ाया था' ?

"हा तो, पर स्वप्न था क्या" ?

"बड़ा डरावना था"।

'कैसे'

'मैंने बहुत ही डर अनुभव किया था'।

'किस से' ?

'पता नहीं, न शेर था न चीता। कोई सांप या अजगर भी नहीं था। मैं देखता क्या हूँ कि एक बहुत बड़ा कमरा है, उसमें मैं बैठा हूँ। फिर फिर जो मैंने देखा, वह अब भी सोचने से मन, शरीर और आत्मा काप उठते हैं। एकदम चारों तरफ की दीवारें अपनी-अपनी जगह छोड़ कर मानो मेरे ऊपर टूट पड़ी हों। मैं भयभीत हुआ अपनी माता की गोदी में छुप गया। मुख को हाथों से ढक कर सारे सिर को गोदी में छुपा लिया। वहा मैंने सुख और सात्वना अनुभव की। मानो

सारे संसार से भयभीत हुए को एक शिशु की तरह माता के आंचल के नीचे ठौर मिली हो। था नहीं भयङ्कर, पर सुन्दर भी' ?

'हां, था था'।

कलावती सोच में पड़ गई। लो—स्वप्न में भी वही बात है। पर तुरत ही पतिदेव के भाव को बदलने के आशय से बोल उठी, 'उठिये, उठिये, तैय्यार हो जाइये, चाय पी लीजिये'।

(४)

सत्यसहाय का मन उत्तरोत्तर चिन्ताग्रस्त होता गया। सब काम-काज से वे पीछे हटते हुए साफ ही दिखने लगे। जरा से काम में भारी उत्तरदायित्व अनुभव करते। हर स्थिति में उनका भाव एक ही होता था 'न, मैं यह न कर सकूंगा, बड़ी जिम्मेवारी की बात है'। किसी काम के उपस्थित होने पर उनका दिल डरता, मन पीछे हटता और शरीर कांपने लगता।

घर के कामों से तो वे मुक्त थे ही, अब दफ्तर भी निभाये न निभता था। यह भी एक कठिन समस्या बनता जा रहा था। दफ्तर वे अब भी पहले की तरह जाते, जैसे कोई बच्चा न चाहते हुए स्कूल जाता है। नहाते, तैय्यार होते देर तो जरूर ही हो जाती। फिर अत्यन्त दुःखी भाव से घर से निकलते।

कलावती के यह सोचे न बनता था कि यह अवस्था बिगड़ कैसे गई। कठिन काम वा स्थिति से घबराने का स्वभाव तो कुछ अंश में इनमें पुराना है, पर अब वे कुछ भी कर सकने का साहस क्यों खो बैठे हैं। 'बिल्कुल बच्चा, चालीस साल का बच्चा', ये शब्द उन्हें कई बार बड़बड़ाते देखा है। ये शब्द शायद डा० गहनरूप ने, पर बड़े हल्के भाव से, कहे थे। उनमें दोषारोपण अथवा कटुता न थी। पर ये कुछ इनके अन्दर गड़-से गये हैं, या यूं कहिये इन्होंने ही पकड़ लिये हैं। इन शब्दों ने इनके भीतर कुछ ऐसी चाबी-सी चला दी है कि जो ये पहले कुछ अंशों में थे अब पूरे के पूरे होते जा रहे हैं या हो गये हैं। पता नहीं कैसे इनके चित्त की अवस्था सुधरेगी।

(६)

'बाबू जी, साहब ने आपको याद फरमाया है' चपड़ासी ने समर्थसहाय से कहा।

समर्थसहाय के रोंगटे खड़े हो गये। वे जानते थे कैसे उन्हें दफ्तर के एक-एक काम से भारी भय रहता था। जरूर कोई गलती हो गई है।

कांपते-कांपते वे साहब के पेश हुए।

साहब बड़े सहृदय व्यक्ति थे। मनुष्य प्रकृति के हेर-फेर को खूब समझते थे। समर्थसहायके कष्टको बहुत पहलेसे भाप चुके थे। उन्होंने समर्थसहायसे कहा—

'देखो समर्थसहाय, तुम्हें छुट्टी की जरूरत है। छः महीने की पूरे वेतन पर मिल जायेगी, फिर छः महीने आधे पर। उसके बाद यदि और की जरूरत होगी, तो भी तुम्हारा पद पर अधिकार बना रहेगा। मैं तुम्हें जल्दी स्वस्थ हुआ देखना चाहता हूँ।

समर्थसहाय ने सालभर की छुट्टी ले ली।

(७)

समर्थसहाय अब हरिद्वार मे एक सुन्दर स्थान पर रह रहे है। रमणीक गगा का तट है। दो-तीन आदमी और भी वहा हैं। उनके साथ समर्थसहाय ने नहाने और तैरने का प्रोग्राम बना लिया। सारा समय मन-बहलाव के नये नये तरीकों से बिताने का प्रयत्न करने लगे। मित्रों ने जैसे सलाह दी वैसे ही वे अपने आपको प्रसन्नता के साधनों मे लगा कर प्रसन्न रहने की कोशिश करने लगे। काम काज की जिम्मेवारियों से छुट्टी थी ही, घर के झगड़ों से भी दूर थे, क्योंकि स्त्री बच्चों को पिता के यहा छोड़ आये थे। वर्तमान स्थान और खाना-पीना आदि सब उनके अनुकूल थे। सत्सङ्ग की उन्हें कुछ रुचि थी, अब दुख में कुछ और बढ गई थी, यह भी सहज पूरी हो जाती थी। यहीं एक अच्छे महात्मा रहते थे, उनके पास वे रोज कुछ समय के लिये चले जाते थे।

परन्तु उनका चित्त, इन सब अनुकूल साधनों के होते हुए भी, बार-बार कुछ गिर जाता था। वह घबराहट और चिन्ता उन्हें छोड़ती न थी।

एक दिन उन्होंने उन महात्मा से कहा, 'महाराज, मुझे बडा कष्ट है, कृपा करके कुछ उपाय बतलाइये'। समर्थसहाय के इन शब्दों के पीछे उस समय एक अपूर्व गम्भीर जिज्ञासा की प्रेरणा थी। पता नहीं उन्हें अब तक उस दुःख का पूरा अनुभव हो गया था और अब वह उनके लिये निश्चित असह्य हो गया था। महात्मा उसकी जिज्ञासा के भाव से बड़े प्रभावित हुए और अत्यन्त वात्सल्य भाव में बोले, 'कुछ बात नहीं, कष्ट निश्चित दूर हो जावेगा। तुम्हें एक अभ्यास बतलायें, क्या उसका पालन कर सकोगे'?

'जी, जरूर'। एक नये जीवन से चमकती हुई आंखों और गद्गद हृदय से समर्थसहाय ने तुरन्त उत्तर दिया।

'इस भाव को तुम उत्तरोत्तर दृढ करते जावो कि ईश्वर जिस का यह जगत बनाया हुआ है और जो इस की एक एक क्रिया को प्रेरित करता है, माता स्वरूप है। वैसे यह परमात्मा माता ही नहीं पिता, बन्धु सखादि अनेक प्रकार के सम्बन्धों से कल्पना मे लाया जाता है। परन्तु माता की भावना में एक विशेषता है। परमेश्वर को माता मानो और अपने आप को उसका एक छोटा बच्चा, और निश्चिन्त हो जावो। बस यही एक साधना है जो मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। इस का फल तुम्हें अपने आप दीखने लगेगा'।

समर्थसहाय प्रणाम कर चला आया। यह क्या? 'बच्चे बन जाओ',— 'तुम बच्चे हो'—डा० सहजस्वरूप के इसी बाण रूपी वाक्य ने तो मेरे अन्दर उथल पुथल छेड़ दी थी, हालांकि हुआ यह सब अनजान मे ही था। पर आज आज मन कुछ शंकायान अवश्य है पर फिर भी चित्त में एक अपूर्व आनन्द और प्रकाश प्रतीत होता है। एक जीवन के युगान्तर बाद आज एक नया साहस अनुभव कर रहा हूँ। वह नये उत्साह और आनन्द के धन को चेतना मे थामते हुए धीरे धीरे अपने निवास-स्थान की ओर चले। बीच बीच में शंका एक लहर बराबर छेड़ जाती—'मैं चालीस साल का बच्चा हूँ', 'पूरे बालवत हो जाओ' एक बुरा और दूसरा अच्छा। एक कष्ट का कारण और दूसरा उपाय। यह सब क्या है?

पर शंका गौण धारा थी। मन मानो बालवत भाव को स्वयं स्मरण रखने लगा। उस की वह निष्ठा बन गई। गंगा में नहाते तैरते वे वास्तव में गंगा माई की

गोदी मे खेलते अनुभव करते। भोजन माता का प्रसाद था। हर कोई व्यक्ति जो उन से मिलता वह माता का दूत था। सब मातामय है। वे सब की तरफ पूरा निश्चिन्त और विश्वास का भाव अनुभव करते, उनका शंकामय जगत् सारे का सारा माता का घर बनता जा रहा था। वह सबकी तरफ प्रेम अनुभव करने लगे, दूसरे लोग उनकी तरफ भी। ससार प्रेम की नगरी बनने लगी। बार बार जिस कृतज्ञता की मिठास मे उनका हृदय हिलोरे लेने लगता वह उनके अन्तरतल का अनुपम धन था। वह अनिर्वचनीय था।

(८)

सालभर की छुट्टी अन्त मे समाप्त होने को आई। समर्थसहाय कृतकृत्य भाव मे महात्मा से जाने की आज्ञा लेने को आये। प्रेम और श्रद्धा से भरपूर वे महात्मा के चरण छू कर उनके पास बैठ गये और बोले, 'महाराज। मेरी छुट्टी समाप्त हो गई है और अब मुझे अपने काम पर लौटना चाहिये'।

'बडे आनन्द की बात है' महात्मा जी बोले, 'अच्छा, तुम्हारा चित्त प्रसन्न है न'?

'बिल्कुल प्रसन्न जी'।

"देखो, वह अभ्यास जो मैंने तुम्हें बतलाया था बडे काम की वस्तु है। वह बिगडे चित्त को ही नहीं सुधार सकता बल्कि जीवन की पूर्णता भी सम्पन्न कर सकता है। बालवत् भाव की सिद्धि वास्तव मे योग की पूरी सिद्धि है। इस अभ्यास को यदि तुम बढाते जाओगे तो जीवन उत्तरोत्तर खिलता चला जावेगा"।

'मैं समझता हूँ, जरुर ऐसा होना सम्भव है'।

'कभी कभी फिर भी इधर हरिद्वार आवो तो मिलते रहना' ये अत्यन्त भावपूर्ण शब्द कहते हुए महात्मा जी ने समर्थसहाय के सिर पर हाथ रख कर आशीवाद दिया।

(६)

समर्थसहाय वापिस अपने काम पर आ गये। उनके अफ़सर उन्हे देख कर बडे प्रसन्न है। वे फिर पहले की तरह सकुटुम्ब रहने लगे। सब कुछ पहले सा

फिर होने लगा। वही घर, वही बाहर और वही काम-काज। पर उनमें एक गम्भीर परिवर्त्तन आ चुका था। वह आन्तरिक, आध्यात्मिक काया-कल्प के बाद नये बन चुके थे। उनका समार भी वैसे ही बदल चुका था। पहले जहा उन्हें ससार भयकर लगता था, वे चालीस साल के होते हुए भी एक छोटे बच्चे के समान मुह छुपाते फिरते थे, आज निर्भीक होकर विचरने लगे। वह सम्पूर्ण ससार मातामय हो गया था। मा के राज्य मे अब वे चिन्तित नहीं, निश्चिंत हो गये।

इस नये सुख, विश्वास और प्रेम के ससार मे अब समर्थसहाय वहीं अपने पुराने स्थान पर आकर रहने लगे।

(१०)

डा० गहनस्वरूप के प्रति समर्थसहाय किस कृतज्ञता क भाव का अनुभव करते थे यह उनका हृदय ही जानता था। पहले दिन से वे इस बात के इच्छुक थे कि मैं अपने मित्र डा० महोदय से मिलू।

एक दिन कुछ फलादि की भेंट लिया कर वे उनके यहा उपस्थित हुए। डा० महोदय उन्हें यहा वैसे देख शकित हो रहे थे।

समर्थसहाय बड़े उत्साह और दृढ भाव मे बोले, 'डा० साहब, आश्चर्य न मानिये। आप को पता नहीं आप ने मेरा कितना उपकार किया है। आप के उस लगभग डेढ साल पहले अनायास कहे वाक्य ने मेरे अन्दर के सकट को प्रकट कर दिया था। वह फिर किन्हीं की कृपा से ठीक हो गया। इसी से मेरा जीवन अब आनन्दमय हो गया है।

—०—

माँ ! मैं तेरा

(श्री नारायणप्रसाद जी)

हर स्वर मेरा उच्चार करे, हर सांस गम झंकार करे।
मेरा हर रोम पुकार करे, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥

मन मृदंग के सब तालों मे, हृत्तन्त्री के सब तारों मे।
धुन यही एक गुञ्जार करे, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥

जीवन के शरद् वसन्तों मे, गरमी जल शिशिर हिमन्तों मे।
हृत कुञ्ज में कोकिल कूक करे, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥

आवेदन चरणों मे मेरा, टूटे माँ ! सीमा का घेरा।
पुलकित हो सकल पुकार करें, 'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥

[यह गीत श्री दिलीपकुमार जी ने २५ जुलाई को रेडियो पर गाया था और फिर उनके गान में 'हिज मास्टर्स वायस' के रिकार्ड में भरा जा चुका है।]

बच्चों के पालन-पोषण में योग-दृष्टि

(लेखिका—श्रीमती लीलावती जी)

यह एक प्रसिद्ध आध्यात्मिक सत्य है कि आत्मा ही आत्मा का सच्चा मित्र और आत्मा ही आत्मा का असली शत्रु है। जब हम बाह्य परिस्थिति को किन्हीं कष्टों का अपराधी ठहराते हैं तब हम वास्तव में अनात्म-भाव में व्यवहार कर रहे होते हैं। हर स्थिति में सुख और दुख के सच्चे कारण हम स्वय होते हैं। एक शिक्षा-शास्त्री ने इसी सत्य को बच्चों के पालन-पोषण के उत्तरदायित्व के सम्बध में यों कहा है कि 'यदि बच्चे बिगडे हुए हैं तो उसमे अपराध हमेशा माता पिता अथवा अध्यापक का होता है'। यह पूर्ण सत्य तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि बच्चे की अपनी मौलिक वृत्तिया भी तो होती हैं। परन्तु यह जरूर ठीक है कि बच्चों के व्यवहार के दोषों के लिये बड़ों का जो उत्तरदायित्व है वह बहुत ज्यादा है। यह उत्तरदायित्व वास्तव में कितना है, इसका अनुभव किसी माता पिता या अध्यापक के लिये अपने आप एक साधना और सिद्धि की बात है।

यह साधना मुख्यतया पहले तो अपने आशयों को समझने का प्रयत्न है। हमे यह जानने की आवश्यकता है कि जो भी व्यवहार हम बच्चे के साथ करते हैं, उसके मूल मे कौनसा प्रेरक भाव होता है। कौनसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम बच्चे को कोई आज्ञा देते हैं, कुछ सिखाने का प्रयत्न करते हैं या कोई-सा काम करवाते हैं। प्रत्यक्षत तो यही प्रतीत होता है कि इन सब के मूल मे बच्चे की हित दृष्टि ही होती है जो हमारे उस सारे व्यवहार को सचालित करती है। जिसमे बच्चे की भलाई हो वही बात तो हम करेंगे। भला माता पिता ही बच्चे की हित दृष्टि न रखेंगे तो और कौन रखेगा। इसके अतिरिक्त और दूसरी दृष्टि हो भी क्या सकती है। माता पिता के अन्दर सदैव एक यही प्रेरक भाव तो रहता है कि उनके बच्चे सुयोग्य बनें, स्वस्थ तथा प्रसन्न रहें और जब जब भी वे बच्चे को सिखाते हैं या शिक्षा के लिये ताड़ना आदि देते हैं, तब तब यही प्रवृत्ति तो उस कार्य के मूल मे होती है। यह सब साधारणतया देखने मे ठीक मालूम

देता है, पर है यह अनात्म भाव में देखना। यहां हमारी वृत्ति वहिर्मुख होगी क्योंकि हम केवल अपने व्यवहार के बाह्य रूप को ही देखते हैं, कहे हुए शब्दों पर जाते हैं। सच पूछा जाय तो शब्द अपने आप में कुछ भी नहीं हैं। इनका सारा प्रभाव इनके अन्दर निहित कहने वाले की मनोवृत्ति या आशय के ऊपर निर्भर है। शब्दों की अपने आप में कोई सत्ता नहीं है। उनका प्रेरक भाव ही दूसरी ओर की क्रिया को सचालित करता है।

इस सम्बन्ध में मुझे अपने बचपन की एक घटना याद आती है। सर्दियों के दिन होते थे, हम तीन चार भाई-बहिन थे। हमारा मकान तीन मजिल का था, सब से ऊपर का कमरा पिताजी के पास था, वे वहीं सोते भी थे। पिताजी को प्रातःकाल उठना पसन्द था। सवेरे सवेरे माताजी को आवाज देते कि बच्चों को उठा दो। माताजी हम सब का बारी-बारी से नाम लेकर पुकारतीं, 'उठो भई, उठो समय हो गया',—हम मस्त पडे रहते। वे फिर पुकारतीं, इसी प्रकार कितना ही समय बीत जाता और सवेरे के यही सात आठ बज जाते। पिताजी गुस्सा करते—तुम इन्हें उठातीं क्यों नहीं। माताजी कहतीं—कई बार तो चिल्लाती हूँ, ये ना उठें तो मैं क्या करूं। वास्तव में बात यह थी कि माताजी का आशय यह कभी नहीं था कि हम जल्दी उठें। इस जाडे पाले में हमें उठाना उनका हृदय शायद स्वीकार न करता था। पर क्योंकि पिता जी जोर देते तो वे खाली शब्द दुहरा दिया करती थीं। सो न वे उठाना चाहती थीं और न हम उठते थे। इस सबमें मजे की बात यह थी कि माताजी अपने इस अन्तरीय भाव से नितान्त अनभिज्ञ थीं, उनका विश्वास यही था कि ये बच्चे ही ढीठ हैं, कितना पुकारती हूँ उठनेका नाम नहीं लेते। अस्तु।

हाँ, तो अब हमें देखना यह है कि वह प्रेरक भाव साधारणतया है क्या। क्या कारण है कि हम बच्चे का हित चाहते हुए भी उसके साथ ऐसा व्यवहार कर बैठते हैं जिसके फलस्वरूप सुधारके स्थानपर उसका उलटा बिगाड़ हो जाता है? हम एक बात करने को कहते हैं वह दूसरी करता है। जिस दोषको हम हटाना चाहते हैं वही उसमें और पक्का हो जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से पता चलता है कि जिन प्रवृत्तियों के वशमें होकर ऐसा होता है उन सबके मूल में मनुष्यका अहंभाव है। माता पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे पढ़ लिख कर योग्य बनें जिसमें लोग

कह सकें, देखो अमुक ने अपनी सन्तान को कैसी अच्छी शिक्षा दी है। इस अहंकार भाव के कई रूप हो सकते हैं। माँ बच्चों को कहती है, सवेरे सवेरे नहा लिया करो। बच्चा उसको नहीं कर पाता। अब मा को अपने मा-पने की लाज रखनी होती है—अरे मैं इसकी मा हूँ, यह मेरी बात नहीं मानता। जोर फिर सवेरे नहाने पर इतना नहीं रहता वरन अपनी जिद मनवाने पर जा पड़ता है। उधर बच्चा भी एक जिद पकड लेता है, क्योंकि एक की जिदका परिणाम दूसरी ओर भी जिद है। बस गुत्थी सुलझने के बदले और उलझ जाती है। यह अहंभाव कई प्रकार से प्रकट होता है। मनुष्य मे प्रदर्शनकी वृत्ति स्वभाव से ही मौजूद रहती है। दूसरों के सामने हम अपने बच्चे की योग्यता, उसकी वेश भूषा आदि दिखाने को बडे उत्सुक रहते हैं। और तब हमारी आत्म-तुष्टिको ठेस पहुचती है जब कोई हमारे बच्चे की ओर आक्षेपकी अगुलि उठा दे। इसलिये बच्चेको सिखाने के प्रयत्नमें इस भावकी छाप हमारे व्यवहारमे आ जाती है। स्वभावत ही उसका फल फिर निर्दोष नहीं हो सकेगा। प्राय सब ऐसी अवस्थाओं मे हमारी अहंभावकी प्रवृत्ति ही प्रधान होती है। हा समय और अवस्था के अनुसार इसके रूप भिन्न भिन्न हो सकते हैं।

हम शिकायत करते हैं कि बच्चे तो हमारी मानते नहीं, सुनते नहीं, उनके भले की ही बात कहते हैं, इतनी तकलीफें उठाते हैं पर फल उसका कुछ भी नहीं निकल रहा। दुखका समय तब अधिक हो जाता है जब यह कह कर हम सिर झुका लेते हैं कि अपनी ओर से सतत प्रयत्न करने के बाद भी ये नहीं सुधरे तो सिवाय उनके और हमारे कर्मोंके दोषके और क्या हो सकता है। बात वास्तव में यह होती है कि माता पिता बेचारे अनजानमें ही रह जाते हैं। परिणाम की ओर दृष्टि जाती है तो कुछ हाथ नहीं लगता और कारण कुछ पता चलता नहीं।

इस सबको समझने के लिये जिस चेतन अवस्थामें हम साधारणतया रहते हैं उससे हमे बहुत ऊपर उठनेकी आवश्यकता है। जब हम अपनी गति विधियों और शब्दों की प्रेरक मनोवृत्तियों को समझनेका प्रयत्न करेंगे तो सब कुछ अपने आप ही प्रकाशमें आता चला जायगा। दूसरे शब्दोंमें हमें बडा सचेत रहने की आवश्यकता है। सचेत केवल बाहरके खतरों से नहीं बल्कि अपने अन्दरके दोषों से, इच्छाओं और तृष्णाओं से।

अपने मनोभावों को समझने के साथ साथ बच्चों के व्यवहार के पीछे जो उसका आशय होता है उसे समझना भी उतना ही आवश्यक है। अर्थात् बच्चा जो भी कार्य करता है, किस प्रेरणा से करता है, किस मनोवृत्ति के अधीन होकर वह किसी कार्य विशेष मे प्रस्तुत होता है या उसके करने मे टाल मटोल करता है ? हम बच्चे को एक काम के लिये बार बार कहते हैं, वह नहीं कर पाता। हम डाटते हैं, फटकारते हैं, कभी-कभी मार-पीट भी देते हैं पर उसे नहीं करना होता और वह नहीं करता। स्वभावत ही यह हमारे लिये एक दुखका कारण हो जाता है पर यदि हम जरा गहराई मे जाय और दूसरे पक्षका भी अध्ययन करें तो हमे कई बार पता चलता है कि बच्चा केवल हमारी जिद् के प्रत्युत्तर में अपनी जिद् का प्रदर्शन करना चाहता है। फलस्वरूप वह उस काम से जी चुराने लग जाता है। और इस प्रकार माता-पिता से एक प्रकार का बदला चुकाता है। इस चिढाने मे उसे एक अथक आनन्द की प्राप्ति होती है। जितना ज्यादा आप चिढेंगे उतनी ही उसे अधिक प्रसन्नता होगी। यदि हम बिना उसकी वृत्ति को जाने समझे अपनी हठ और टेक पर अडे रहेंगे तो परिणाम वही होगा जो ऐसी दशाओं मे होता है।

और फिर बच्चेकी कुछ अपनी इच्छा, सुविधा-असुविधा भी तो होती है। वह कोई मैशीन तो है नहीं कि जब हमने कल घुमाई और उसने हमारा मन-चाहा कर दिया। हो सकता है कि वह उस समय किसी ऐसे काममे सलग्न है जिसमे कि वह छेडा जाना उचित नहीं समझता या किसी कारण से हमारी कही हुई बात करने मे उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। शायद वह काम ही उसके लिये सभव नहीं या उसमे उसे कोई ऐसी कठिनाई आती है जिसे वह किसी प्रकार भी दूर नहीं कर पाता। शायद थोड़ासा हेरफेर या परिवर्तन कर देने मे उसकी वह कठिनाई हल हो सकती है और वह आसानी से उस काम को कर पाता है। पर होता यह है कि हम उससे अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही काम करने की माग कर बैठते हैं जो वह बेचारा किसी तरह भी पूरी नहीं कर पाता। इस लिये बच्चे के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखना बहुत जरूरी हो जाता है।

इस स्थल पर मैं कुछ अपने अनुभव देना चाहूँगी जो मुझे अपने बच्चों के साथ व्यवहार करते हुए प्राप्त हुए हैं। असल में हमारी ही गलती के फलस्वरूप प्राय प्रत्येक बच्चे में ही कुछ न कुछ खास वृत्तिया बन जाती हैं जो कई बार

इसी प्रकार ऐसे ऐसे छोटे बड़े कई प्रयोग करने के बाद आज प्रतीत होता है कि जिन कारणों से मैं दुखी रहती, मन मे अशान्ति थी, वे अब नहीं हैं। पुरानी गुत्थियें सुलझती चली जाती हैं। बच्चे भी पहले से अधिक प्रसन्न हैं और मुझ पर उनका विश्वास बढ गया है।

पर अभी इतना काफी नहीं है। यह तो हुई केवल भूमिका मात्र ही। बच्चोंके अन्दर जब अपने आप अपनी वृत्तिओं को पहचानने की सूझ उत्पन्न हो जायगी तभी उनका वास्तविक विकास शुरु होगा। जब वे स्वय भी अपने अन्दर की गहराई तक पहुच पायेंगे तब जो उनका विकास होगा वह आध्यात्मिक दृष्टि से एक अद्‌भुत वस्तु होगी। 'Words of the Mother' नामक पुस्तक में लिखा है—"The finest present one can give to a child would be to teach him to know himself and to master himself" "अर्थात् यदि हम बच्चे को स्वय अपने आपको जानना, समझना और अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करना सिखा सकें, तो यह उसके लिये एक अमूल्य भेंट होगी"। वास्तव मे यह सबसे ऊची शिक्षा है। यही बच्चे का आध्यात्मिक और असली विकास है। पर है यह अपने आपमे पूरी साधना। यह साधना बच्चा तभी कर पायेगा जब माता-पिता स्वय इसका अभ्यास करेंगे, वे स्वय अपने आपको भली प्रकार जानेंगे; उनका 'भीतर' एक शीशेकी भाति होगा—जहाँ उनके सारे भाव, सारी वृत्तिया साफ प्रतीत हो सकेंगी। जब वे बच्चों के साथ व्यवहार में समताका भाव बनाये रखेंगे; अपने अहभाव को छोड़ देंगे कि ये बच्चे उनकी कोई अपनी चीज हैं और यह समझ सकेंगे कि ये तो उस परम पिता की सन्तान हैं, हम तो इनके पालन-पोषण के एक निमित्तमात्र हैं, और पूरे समर्पण भाव से अपने उत्तरदायित्व को निभायेंगे, तब कार्य करने मे जो प्रसन्नता आयेगी वह निस्सन्देह एक अलौकिक वस्तु होगी। जब बच्चा ऐसा देखेगा, वह स्वय ही इन दैवी गुणों को ग्रहण कर लेगा।

[इसी विषय के एक और पक्ष को मै अपने अगले लेख में देने की आशा करती हूँ।]

दो भजन

[अगस्त की अदिति में श्री दिलीप जी के गायन का वृत्त पढ़ कर कई पाठकों ने हमें लिखा था कि उनके गाये भजन भी यदि अदिति में प्रकाशित कर दिये जायं तो उत्तम हो। इसलिये हम उनके गाये दोनों हिन्दी के भजन नीचे दे रहे हैं। इनमें पहिला 'शाहशाह' जी की रचना है, दूसरा मीरा की।]

(१)

हम ऐसे देश के वासी हैं जहाँ शोक नहीं और आह नहीं।
जहाँ मोह नहीं और ताप नहीं जहाँ भरम नहीं और चाह नहीं ॥

जहाँ प्रेम की गङ्गा बहती है और सृष्टि अनन्दित रहती है।
जो है यहाँ एक जहेती है दिन-रात नहीं सन-माह नहीं ॥ हम ऐसे० ॥

यहाँ सब को सब कुछ मिला हुआ, और पूरा सौदा तुला हुआ।
इक साचे मे सब ढला हुआ, कुछ कमी नहीं परवाह नहीं ॥ हम ऐसे० ॥

यहाँ स्वारथ के रूप नाम नहीं, कोई खास नहीं कोई आम नहीं।
कोई आक़ा और गुलाम नहीं, यहाँ दीप्ति रहती पर दाह नहीं ॥ हम ऐसे० ॥

(२)

सुनी मैं हरि आवन की आवाज ॥ टेक ॥

महल चढि चढि जोऊँ मेरी सजनी कब आवे म्हाराज ॥ १ ॥
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल मधुरें साज ॥ २ ॥
उमग्यो इन्द्र चहु दिशि बरसे, दामिनी छोड़ी लाज ॥ ३ ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज ॥ ४ ॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, वेग मिलो म्हाराज ॥ ५ ॥

अज्ञेयवाद की समीक्षा

(लेखक—श्री अम्बालाल जी पुराणी)

मैं कौन हूँ ? जगत क्या है ? मेरे और अन्य मानवों के बीच, मेरे और जगत के बीच सम्बन्ध क्या है ? वास्तविकता किसे कहा जाता है ? 'अन्तिम सत्य' करके क्या कोई वस्तु है ? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है, उसके गुण क्या हैं, उसके धर्म क्या हैं ? इन सब प्रश्नों के बहुत से और विभिन्न उत्तर दिये गये हैं और दिये जायेंगे, किन्तु उत्तर की विविधता से घबरा कर 'अन्तिम सत्य है ही नहीं या है तो वह अवश्य अज्ञेय होना चाहिये' ऐसा कुछ निर्णय कर लेने की जरूरत नहीं। ऐसा शुद्ध निर्णय कर लेने से बुद्धि की तटस्थता भी नहीं रहती, वह एक पक्ष में बद्ध हो जाती है। 'और कुछ है ही नहीं, है तो अज्ञेय है' यह मान कर ठहर जाती है।

अन्तिम वास्तविकता की अनुभूति एक बात है, और अनुभूति को बुद्धि के सामने प्रस्तुत करना, वर्णन करना दूसरी बात है। इसलिये सन्त लोग 'वह गूंगे का गुड़ है' ऐसा कह कर तथा प्राचीन लोग 'नेति नेति' के उद्गारों द्वारा अन्तिम सत्य का निरूपण करने में वाणी की असमता प्रकट करते रहे हैं। इसका मतलब इतना ही है कि वाणी इस सत्य का पूर्ण, यथावत नख से शिख तक पूरा पूरा वर्णन दे सकने में असमर्थ है। ऐसा पूर्ण वर्णन देने में वाणी भले ही असमर्थ हो, पर सत्य के मार्ग का निर्देश, उस तरफ इशारा, इंगित तो अवश्य दे सकती है। वाणी का कार्य ही प्रकट करना है। सो इन अनुभवप्रतिष्ठ वर्णनों से यह प्रकट होता है कि सत्य को जिन जिन पार्श्वों से हम जानते हैं उन सब में उस परम सत्य की प्रतिष्ठा मनोमयता, मनोगम्यता से ऊपर है, इसमें सब एकमत हैं। अर्थात् उत्तरों की विविधता होते हुए भी इस समय के वाणी निर्देशों में एक बात में एकता है कि वह परम सत्य मनोऽतीत है।

एक तरफ आध्यात्मिक पुरुष अपनी अनुभूति को यथातथ सत्य मानते हैं, यथातथ ही नहीं, किन्तु उसे एकमात्र अन्तिम वास्तविकता मानते हैं, पर दूसरी

तरफ अज्ञेयवादी ऐसी अनुभूति की शक्यताओं को और ऐसी वास्तविकता यदि कोई होवे भी तो उसकी ज्ञेयता को अस्वीकार करते है। रोनोल्ड निक्सन (वर्तमान नाम 'श्रीकृष्णप्रेम') जैसा पुरुष जो अपनी बुद्धि की जिज्ञासाओं को सब तरफ से सन्तुष्ट करके कृष्णभक्त बना है, इस प्रकार तर्क करता है कि 'योग द्वारा अनुभव-जन्य जो ज्ञान मिलता है वही सत्य ज्ञान है, क्योंकि वह सीधे साफ प्रत्यक्ष अपरोक्ष मिलता है, और दूसरे प्रकार का बुद्धिजन्य आदि ज्ञान सब अप्रत्यक्ष परोक्ष होता है', तो दूसरी तरफ अज्ञेयवादी का मुख्य मुद्दा यह है कि मानव बुद्धि ही सब मूल्यों का—अर्थात् आध्यात्मिक मूल्यों का भी—उच्चतम और आखीरी माप, गज है; आज ही नहीं किन्तु किसी भी काल मे बुद्धि ही अन्तिम माप साबित होगी, अन्य कोई वस्तु नहीं। तो इनमे से कौन ठीक है ? हम किसे मानें ?

बडे बडे पुस्तक लिखे जाय तो भी जिसका पार न मापा जा सके, धुरन्धर पण्डित और महान् मनीषी भी जिसमे अपने को उलझा हुआ पावें ऐसे इस आकाश-सदृश असीम प्रश्न का हस्तामलकवत स्पष्ट निरूपण करने की धृष्टता तो मैं नहीं कर सकता, पर तो भी इस विषय मे जो आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु है उसके समर्थन मे कुछ मुद्दे विचार के लिये पाठकों के सम्मुख रखना चाहता हूँ।

(१) 'धर्म और वहम (मूढ़ कल्पना) ये दोनों तत्त्वत एक ही हैं' ऐसा चौंका देनेवाला मत कई अज्ञेयवादियोंने अपनी जिम्मेवारीके साथ प्रकट किया है। कारण कि बुद्धि को सर्वोपरि स्थान पर स्थापित करने पर जो सत्य देखने मे आता है वही अन्तिम सत्य है, वही अन्तिम वास्तविकता है, उसके अलावा जो है वह असत्य या भ्रम है ऐसी उनकी मान्यता है। यदि इसे ठीक मान लिया जाय तो यह फलित होता है कि धर्म जिसे पहुचने का दावा करता है ऐसी कोई वास्तविक्ता नहीं है। परन्तु प्रत्येक ही धर्म मे उसके ऐतिहासिक और सामाजिक स्वरूप के अतिरिक्त उसका एक अनुभवगम्य, साक्षात्कार से लभ्य सत्य होता ही है, चाहे वह बुद्धिगम्य न हो। क्योंकि वह बुद्धिगम्य नहीं है इसलिये वह है ही नहीं यह युक्ति करना व्यर्थ है।

(२) वेद-उपनिषद् से आरभ करके अर्वाचीन आचार्यों तक के संस्कृत साहित्य मे, और रामानन्द, कबीर, दादू, नानक, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, चैतन्य,

रामदास, नरसिंह, मीरा, तुलसीदास, सहजानन्द आदि सैंकडों साधुओं और धार्मिक नेताओं द्वारा उत्पन्न किये गये प्राकृत साहित्य मे, एव रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, रमणमहर्षि, श्रीअरविन्द आदि के आधुनिक साहित्य मे एक परंपरा लगातार सुरक्षित रूपमें चली आ रही है, यह साहित्य-परपरा ही नहीं किन्तु इसके पीछे एक प्रमाणभूत क्रियात्मक परीक्षण व अभ्यासके आधार पर सुप्रतिष्ठित साधना पथ भी अखण्ड चला आ रहा है। इसे हमे देखना चाहिये। सब धर्मों के मूल मे साक्षात्कार एक है पर रामकृष्ण की क्रमविकास मे जो अमूल्य देन है वह कुमारी रैहाना (स्व० अब्बास तैयबजी की पुत्री) जैसी परधर्मी व्यक्ति की अपनी अनुभूति से भी पुष्ट होती है। इससे यह स्थापित होता है कि सब धर्मों के पीछे रहनेवाली एक सामान्य अनुभूति है और उसे पाना शक्य है।

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों मे भी जो व्यक्तियों को धार्मिक अनुभूतिया हुई हैं उन्हे भी इसमे जोड दें तो पता लगेगा कि मानव चेतना मे धार्मिकताकी वृत्ति कितनी बलवान, व्यापक और मौलिक है।

(३) मानव बुद्धिकी रचना ही ऐसी है कि वह अन्तिम सत्य का निर्भ्रान्त निर्णय कर ही नहीं सकती। जिसकी यह आज स्थापना करती है कल उसे खण्डित कर देती है, जिसे आज मानती है उसमे कल सदेह करती है। बुद्धि की इस अक्षमताको भले ही हम बुद्धिकी स्वतन्त्रता का नाम दे सकते हैं और उसे गौरवान्वित कर सकते हैं पर इससे उसकी सत्यको निर्णय करने की अशक्ति टलती नहीं है। हेनरी बर्ग्सों जैसा दार्शनिक कहता है कि 'बुद्धि ज्ञानका उपकरण नहीं है, किन्तु कर्म का है (हम जो करना चाहते हैं उसे ही बुद्धि पुष्टि दे देती है), ज्ञान पाने और सत्य का निर्णय करने वाली शक्ति बुद्धि से स्वतन्त्र है'। बुद्धि की इस अशक्ति के कारण ही यह ऐसा कहता है।

(४) बुद्धि बनाम धर्म और आध्यात्मिकता—बुद्धि बनाम बुद्धि से परे के सत्य की प्राप्ति—इस प्रश्न मे कोई कोई अज्ञेयवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि अतीन्द्रिय भी कोई तत्त्व है पर वे उसकी ज्ञेयता को स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते। किन्तु अतीन्द्रिय दिव्य वास्तविकता का सत्य यदि है तो क्या वह बुद्धि से ऊपर का है या उससे निम्न कोटि का है? यदि निम्न कोटि का है तब तो ईश्वर

धर्म, योग, आध्यात्मिकता, ये सब निरर्थक हैं, बेमाने हैं। यदि परे का है तो बुद्धि अपने ऊपर की चीज के स्वरूप, धर्म और वास्तविकता के लिये अन्तिम निर्णायक बन ही कैसे सकती है? जिसके कारण बुद्धि स्वय सत्ता मे है, चलती है, सार्थक होती है (यन्मनसा न मनुते येनाहु र्मनो मतम्) उसकी अन्तिम सत्ता का निर्णय वह कैसे दे सकती है।

आध्यात्मिकता और धर्म भी तो तर्क से दलील देकर बुद्धि को अपना दृष्टिकोण समझाने का यत्न करते हैं; क्या इसीसे बुद्धि को श्रेष्ठता नहीं साबित हो जाती? यह कहना ठीक नहीं; यह तो ऐसा ही है जैसे कि किसी बालक को उसकी समझ से परे की बात समझाने के लिये हम, उसके अपने बालकोचित ढग से, उसे अनुकूल बनाकर समझाते हैं तब हम कोई बालक को श्रेष्ठ नहीं मान लेते।

(४) सामान्य जीवन मे, विशेषतया व्यावहारिक आध्यात्मिक जीवन में, ऐसी अनुभूतिया होती हैं, होती रहती हैं जिनका प्रकार व ढग बुद्धि की प्रवृत्ति और बुद्धि की अनुभूति से बिलकुल भिन्न होता है, निराला होता है। जुदा जुदा देश, जुदा जुदा काल, जुदा जुदा व्यक्तियोंमे जब ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूतिया दीखती हैं तो ये सब मानवता का सामान्य लक्षण मानी जा सकती हैं। तो इनसे क्या साबित होता है? जैसे प्रगाढ सर्वव्यापी अनिर्वचनीय शान्ति की या अपने अन्तर में किसी दिव्य तत्त्व अथवा दिव्य व्यक्ति के सान्निध्य की या चेतना मे अलौकिक शक्ति के सचार की, ज्ञान की ज्योति के अवतरण की, हृदय मे प्रेम के अक्षय स्रोत के सहसा उदय की और बहने की, प्रार्थना की सफलता की, श्रद्धा की ज्वलन्त अग्निकी, ऐसी अनेकानेक अनुभूतिया होती हैं तो ये क्या बताती हैं? सामान्यतया जीवन मे ऐसी अनुभूतिया दीर्घकाल तक नहीं रहतीं, नहीं ठहरतीं, इससे वे अवास्तविक हैं यह दलील पगु है। सारे समय हवा जोर से वह नहीं रही इसलिये वह है नहीं, ऐसी ही यह दलील है। अथवा रात्रि का अन्धकार बीच मे आ जाता है इसलिये दिन की सूर्य-ज्योति के विषय मे शङ्का करने जैसी है। अत इन अनुभूतियों से यही सिद्ध होता है कि बुद्धि से स्वतन्त्र ऐसी शक्तिया चेतना मे हैं जो मनोमय की ऊर्ध्व भूमिका मे वस्तु का साक्षात् करने मे समर्थ हैं। ऐसा ही स्वीकार करना तर्कसम्मत होगा।

(६) मानव अब जहां है—मानवने अब तक जितना विकास सिद्ध किया है, क्या वह वहीं स्थिर रहने वाला है या आगे बढ़ेगा ? यदि वह आगे बढ़ने वाला है तो उसके विकास की दिशा बुद्धिमय दिशा ही होगी ऐसा मानना ठीक नहीं लगता। कारण, मानवजाति ने—अधिक ठीक कहें तो मानवजाति के अन्दर प्रकृति ने—अपने बुद्धिविकास के, बुद्धिवैभव के उत्तमोत्तम, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नमूने दिखा दिये हैं, अफलातून सुकरात, व्यास शङ्कर आदि से बढ़ कर सूक्ष्मग्राही तर्कसमृद्ध बुद्धि के नमूने मानवजाति उत्पन्न करेगी इसके मानने का कोई कारण नहीं है। अब आगे बहुत होगा तो मानवजाति के सामान्य और नीचे के स्तर में भी बुद्धि का तत्त्व खिलेगा, व्यापक बनेगा और इस तरह से जो सामाजिक परिणाम आने वाले होंगे आवेंगे, परन्तु अब तक बुद्धि ने ऊंचाई में जो प्राप्त किया है उससे भिन्न प्रकार की विजय, भिन्न प्रकार का लक्ष्य, भिन्न प्रकार के परिणाम वह लावेगी ऐसी कल्पना करने के लिये कोई आधार नहीं है। इसलिये मानव का भावी विकास बुद्धि से परे की किसी चेतनावस्था की तरफ ही सम्भवित हो सकता है।

मानव बेशक स्थूल देहधारी है और वह अपनी शक्तियों की दृष्टि से, जहां तक वह स्थूल है वहां तक, क्षुद्र भी प्रतीत होता है। पर मानव केवल पृथ्वी जीवी, पृथ्वी-परिबद्ध है यह भी तो नहीं है। स्थूल देह से स्वतन्त्र भी उसमें वृत्ति, शक्ति, अभीप्सा, अनुभूति है, होती रहती है। मानव में की इन वृत्ति, शक्ति, अभीप्सा आदि की भी कोई सार्थकता होनी ही चाहिये। नहीं तो

'है क्या जीवन प्रश्न का
उत्तर केवल शून्यांक ही'

यही पूछना होगा।

(७) ऊपर की वास्तविकता है तो पर वह अप्राप्य है क्योंकि मानव के पास उसको प्राप्त करने को विकसित हुआ कोई उपकरण नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि जब-जब प्रत्येक प्राणी के जीवन-व्यवहार के लिये और विकास के लिये आवश्यक अवयव की जरूरत होती है तब तब प्रकृति उस प्राणी में उस अवयव के लिये एक सङ्कल्प—सचेतन या अचेतन—जागृत कर देती है, सो ऐसी मांग भावी अवयव के उद्भव का ही चिह्न है। अब जो मानव-

जाति में मनोमय भूमिका से ऊपर की चेतना से कविता, कला, सर्जन, धर्म, मीमांसा, दर्शन आदि प्रवृत्तियां हो रही हैं वे मनुष्य में प्रकट होने के लिये यत्न कर रही पर-चेतना की अस्पष्ट शुरूआत हैं, इंगित हैं ऐसा समझना चाहिये। अन्य प्राणियों में तो अचेतन संकल्पशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, पर मानव के सम्बन्ध में बड़ा भेद यह हो जाता है कि मानव सचेतन रूप से प्रकृति के हेतु की सार्थकता सिद्ध करके प्रकृति की उन्नति में भागीदार बन सकता है।

सो सामान्य आदमी की साधारणता को ही सनातन मान कर अपनी ऊर्ध्वगामिनी शक्तियों का विरोध नहीं करना चाहिये। इस पर अज्ञेयवादी शङ्का करते हैं कि मनुष्य-चेतना की रचना ही ऐसी है कि वह अतल गहरे तल का स्पर्श ही नहीं कर सकती, इसलिये वह उसे स्पर्श करने की अभीप्सा बेशक करती रहेगी पर उसे पा भी नहीं सकेगी, उसे जीत लेना चाहेगी पर जीतने में असमर्थ भी रहेगी। यह इसलिये ठीक नहीं कि मानव प्रकृति के अन्दर जो विशाल मात्रा में ऊर्ध्व वास्तविकता के लिये अभीप्सा है वही उसकी चरम सार्थकता का प्रमाण है। वह अशक्य लगती अभीप्सा मनुष्य के भावी विकास की दिशा की सूचक है, न कि मानव जीवन की करुण निष्फलता की। और यह भी तो सोचना चाहिये कि अनेकों ने उस अतल दीखने वाले गहरे तल को स्पर्श किया भी है।

यहां यह भी कह देना चाहिये कि आध्यात्मिकता में, धर्म में, आस्तिकता में बुद्धि का उपयोग निषिद्ध है या बुद्धि की उपयोगिता इन क्षेत्रों में बिल्कुल है ही नहीं यह कोई नहीं कहता। पर बुद्धि की मर्यादाओं को समझना और समझाना यह भी कोई बुद्धि पर अत्याचार करना नहीं है। परीक्षणशीलता को अपना मार्ग नियामक अरित्र (पतवार) बना कर, विवेकशक्ति की सहायता से बुद्धि को अज्ञेय प्रतीत होने वाले प्रदेशों की अनुभूति के लिये द्वार को हिम्मत के साथ खुला करके उसमें यात्रा को प्रारम्भ करो, यही इस प्रश्न के व्यावहारिक रूप में हल करने का उपाय है। 'या तो जो कुछ आवे उस सब को मान लो, विश्वास कर लो या फिर जो कुछ आये उस सब पर शङ्का करो (बीच की कोई चीज नहीं हो सकती)' यह तो केवल एक सत्याभासी सूत्र है, व्यवहार में इसके लिये कोई स्थान नहीं है। मानव चेतना अति जटिल रचना है, उसमें ऐसे बिल्कुल सादे उपाय या हल से काम नहीं चलेगा। और जो कुछ आवे उसे मान लेना, इसमें बुद्धि का अपमान है

(६) मानव अब जहां है—मानवने अब तक जितना विकास सिद्ध किया है, क्या वह वहीं स्थिर रहने वाला है या आगे बढ़ेगा ? यदि वह आगे बढ़ने वाला है तो उसके विकास की दिशा बुद्धिमय दिशा ही होगी ऐसा मानना ठीक नहीं लगता। कारण, मानवजाति ने—अधिक ठीक कहें तो मानवजाति के अन्दर प्रकृति ने—अपने बुद्धिविकास के, बुद्धिवैभव के उत्तमोत्तम, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नमूने दिखा दिये हैं, अफलातून सुकरात, व्यास शङ्कर आदि से बढ़ कर सूक्ष्मग्राही तर्कसमृद्ध बुद्धि के नमूने मानवजाति उत्पन्न करेगी इसके मानने का कोई कारण नहीं है। अब आगे बहुत होगा तो मानवजाति के सामान्य और नीचे के स्तर में भी बुद्धि का तत्त्व खिलेगा, व्यापक बनेगा और इस तरह से जो सामाजिक परिणाम आने वाले होंगे आवेंगे, परन्तु अब तक बुद्धि ने ऊंचाई में जो प्राप्त किया है उससे भिन्न प्रकार की विजय, भिन्न प्रकार का लक्ष्य, भिन्न प्रकार के परिणाम वह लावेगी ऐसी कल्पना करने के लिये कोई आधार नहीं है। इसलिये मानव का भावी विकास बुद्धि से परे की किसी चेतनावस्था की तरफ ही सम्भवित हो सकता है।

मानव बेशक स्थूल देहधारी है और वह अपनी शक्तियों की दृष्टि से, जहां तक वह स्थूल है वहां तक, क्षुद्र भी प्रतीत होता है। पर मानव केवल पृथ्वी जीवी, पृथ्वी-परिबद्ध है यह भी तो नहीं है। स्थूल देह से स्वतन्त्र भी उसमें वृत्ति, शक्ति, अभीप्सा, अनुभूति हैं, होती रहती हैं। मानव में की इन वृत्ति, शक्ति, अभीप्सा आदि की भी कोई सार्थकता होनी ही चाहिये। नहीं तो

'है क्या जीवन प्रश्न का
उत्तर केवल शून्यांक ही'

यही पूछना होगा।

(७) ऊपर की वास्तविकता है तो पर वह अप्राप्य है क्योंकि मानव के पास उसको प्राप्त करने को विकसित हुआ कोई उपकरण नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि जब जब प्रत्येक प्राणी के जीवन-व्यवहार के लिये और विकास के लिये आवश्यक अवयव की जरूरत होती है तब तब प्रकृति उस प्राणी में उस अवयव के लिये एक संकल्प—सचेतन या अचेतन—जागृत कर देती है, सो ऐसी मांग भावी अवयव के उद्भव का ही चिह्न है। अब जो मानव-

जाति में मनोमय भूमिका से ऊपर की चेतना से कविता, कला, सर्जन, धर्म, मीमांसा, दर्शन आदि प्रवृत्तियां हो रही हैं वे मनुष्य में प्रकट होने के लिये यत्न कर रही पर चेतना की अस्पष्ट शुरूआत हैं, इंगित हैं ऐसा समझना चाहिये। अन्य प्राणियों में तो अचेतन संकल्पशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, पर मानव के सम्बन्ध में बड़ा भेद यह हो जाता है कि मानव सचेतन रूप से प्रकृति के हेतु की सार्थकता सिद्ध करके प्रकृति की उन्नति में भागीदार बन सकता है।

सो सामान्य आदमी की साधारणता को ही सनातन मान कर अपनी ऊर्ध्वगामिनी शक्तियों का विरोध नहीं करना चाहिये। इस पर अज्ञेयवादी शङ्का करते हैं कि मनुष्य-चेतना की रचना ही ऐसी है कि वह अतल गहरे तल का स्पर्श ही नहीं कर सकती, इसलिये वह उसे स्पर्श करने की अभीप्सा बेशक करती रहेगी पर उसे पा भी नहीं सकेगी, उसे जीत लेना चाहेगी पर जीतने में असमर्थ भी रहेगी। यह इसलिये ठीक नहीं कि मानव प्रकृति के अन्दर जो विशाल मात्रा में ऊर्ध्व वास्तविकता के लिये अभीप्सा है वही उसकी चरम सार्थकता का प्रमाण है। वह अशक्य लगती अभीप्सा मनुष्य के भावी विकास की दिशा की सूचक है, न कि मानव जीवन की करुण निष्फलता की। और यह भी तो सोचना चाहिये कि अनेकों ने उस अतल दीखने वाले गहरे तल को स्पर्श किया भी है।

यहां यह भी कह देना चाहिये कि आध्यात्मिकता में, धर्म में, आस्तिकता में बुद्धि का उपयोग निषिद्ध है या बुद्धि की उपयोगिता इन क्षेत्रों में बिल्कुल है ही नहीं यह कोई नहीं कहता। पर बुद्धि की मर्यादाओं को समझना और समझाना यह भी कोई बुद्धि पर अत्याचार करना नहीं है। परीक्षणशीलता को अपना मार्ग-नियामक अरित्र (पतवार) बना कर, विवेकशक्ति की सहायता से बुद्धि को अज्ञेय प्रतीत होने वाले प्रदेशों की अनुभूति के लिये द्वार को हिम्मत के साथ खुला करके उसमें यात्रा को प्रारम्भ करो, यही इस प्रश्न के व्यावहारिक रूप में हल करने का उपाय है। 'या तो जो कुछ आवे उस सब को मान लो, विश्वास कर लो या फिर जो कुछ आये उस सब पर शङ्का करो (बीच की कोई चीज नहीं हो सकती)' यह तो केवल एक सत्याभासी सूत्र है, व्यवहार में इसके लिये कोई स्थान नहीं है। मानव चेतना अति जटिल रचना है, उसमें ऐसे बिल्कुल सादे उपाय या हल से काम नहीं चलेगा। और जो कुछ आवे उसे मान लेना, इसमें बुद्धि का अपमान है

यह तो ठीक है ही पर साथ ही इसमें शत प्रतिशत आध्यात्मिकता का अभाव है यह भी समझ लेना चाहिये।

बुद्धि की—या समग्र मनोमय चेतना की—सार्थकता तो इसी में प्रतीत होती है कि उसके ऊर्ध्व मे जो सहज ज्ञान की, प्रेरणा की, आतम्दर्शन की, ऊपर से ऊपर की वास्तविकताओं की, अधिमानस और अतिमानस की विज्ञानसूर्य तक की जो परम्पराएं हैं उन्हें विवेकशक्ति के पथप्रदर्शन में स्वीकार करना, जब अनुभूति हो तब शान्त रह कर इन ऊर्ध्व लोकों से आते हुए ज्ञान, शक्ति, सर्जन, आनन्द आदि के प्रवाहों को स्वीकार करना, ग्रहण करना और फिर उसे मनोमय और उससे भी परे के कलारूपों में प्रकट करना। इस रीति से ही ऊर्ध्व मे जो सत्य का सूर्य है वह अवचेतना तथा अविद्या के तम से ग्रस्त पृथ्वी पर धीमे धीमे उतर सकेगा, पार्थिव लोक में दिव्य सत्य प्रकट हो सकेगा। और यह कार्य मानव जैसा क्षुद्र जन्तु करेगा और वह करे इसी मे उसकी चरितार्थता रहेगी। आध्यात्मिकता का मानव के सम्बन्ध मे यही निश्चित ध्येय है।

श्रीअरविन्द की योग-पद्धति

और

पातञ्जल योग

(१)

जैसे मेरे साथ हुआ है उसी तरह, इस प्रकार के बहुत से लोग होंगे जिन्होंने योगजिज्ञासु होने पर पहले पातञ्जल योगशास्त्र का अध्ययन किया है और अब एक जीवित महान् योगी—श्रीअरविन्द—का नाम सुन कर, उनकी महिमा जान कर, उनके वचनों आदि से प्रभावित होकर उनकी योगपद्धति को समझना चाहते हैं। तो ऐसे लोगों के लिये ही अथात पातञ्जल योग की पृष्ठभूमिका मे श्रीअरविन्द-योग को समझना चाहने वालों के लिये ही यह लेख लिखा जा रहा है।

पहले हम इन दोनों योगों का सम्शता द्वारा विवेचन करेंगे।

योग की अन्तरङ्गता और बाह्य कर्म—

योगदर्शन का पहला पाद, समाधि पाद, असली योगियों के लिये है। इसे ही असली पातञ्जल योगपद्धति कहना चाहिये। दूसरे 'साधन पाद' मे जो वर्णन है वह प्रारम्भ करने वालों के लिये है कि वे भी कैसे योग तक पहुच सकें। उसमे योग के अष्टाग मे से पहले पॉच बहिरङ्गों का ही वर्णन है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पॉच बहिरङ्ग है। असली योग तो अन्तरगों का, शेप तीन अङ्गों का—ध्यान, धारणा, समाधि का—है जिनका कि पातञ्जल योग के तीसरे पाद मे वर्णन है, क्योंकि सब विभूतिया, सिद्धिया योग के अन्तरङ्गों से, आन्तरिक योग से ही प्राप्त हो सकती है। पातञ्जल योगशास्त्र के अन्तिम (चौथ) पाद मे और भी ऊँची ज्ञानचर्चा है। सो श्रीअरविन्द की योग-पद्धति मे भी साधारणतया आसन, प्राणायाम आदि बहिरङ्गों की, दूसरे शब्दों मे हठयोग की कोई आवश्यक्ता नहीं। उनके आश्रम मे हठयोग की क्रियायें करना प्राय मना है।

वैसे श्रीअरविन्द सब महापुरुषोंकी तरह, समन्वय-दृष्टि वाले हैं, वल्कि एक विशेषतया महान् समन्वयवादी हैं। उन्होंने Synthesis of yoga (योग का समन्वय) नाम से 'Arya' (आर्य) मे जो अद्भुत लेखमाला लिखी थी उसमे हठयोग का भी एक उचित स्थान है। आज से १६-१७ वष पूर्व जब मैंने अपना फोटो भेज कर अपने बारे मे श्रीअरविन्द से पूछा था तो उन्होंने मुझे ही मेरे सिर मे कुछ रुकावट बतलाते हुए, हठयोग करने की सलाह दी थी। परन्तु साधारणतया हठयोग उनके यहा त्याज्य है क्योंकि हठयोग की क्रियायें कुछ नीचे दर्जे की शक्तियों को उद्बुद्ध कर डालती हैं जिन पर (किसी महान् गुरु की सहायता के बिना) काबू नहीं पाया जा सकता। बहिरङ्गों की अपेक्षा ध्यानादि अन्तरङ्गों की ही श्रीअरविन्द की योग-पद्धति मे महत्ता है।

पर इसका यह मतलब नहीं कि बाहर की वस्तुओं के प्रति इस योग में उदासीनता है। असल मे तो आगे चलकर अन्दर बाहर एक हो जाता है। और श्रीअरविन्द के योग मे बाहर का भी बहुत महत्त्व है, पर वह अन्दर से निकला होना चाहिये। ऊपर से आये अन्दर के सत्य के अनुसार बाहर भी सब ठीक ठीक करना, पूरा पूरा सुव्यवस्थित रूप से सौन्दर्यपूर्वक अभिव्यक्त करना उनके योग की विशेषता है। श्रीअरविन्द के कथनानुसार असल में सम्पूर्ण जीवन ही योग है। अन्तःसत्य की स्थूल में बाह्य अभिव्यक्ति तो योग का उद्देश्य ही है। अत बाह्य कर्म भी ठीक आन्तर स्थिति से किया हुआ होने पर योग ही है, और आवश्यक योग है। ऐसे कर्म के बिना योग अधूरा है। दूसरे शब्दों में गीतोक्त कर्मयोग श्रीअरविंद को अभीष्ट है। गीता पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं वे उनके योग को पूरी तरह समझने के लिये अवश्य पढने चाहियें। पर उनका यह कर्मयोग भाग भी पातञ्जल योगदर्शन के क्रिया-योग से भिन्न नहीं है, जिसका वर्णन योगदर्शन के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र मे है। तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रिया-योग कहा गया है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ करते हुए भाष्यकार व्यास जी ने बिल्कुल वही लिखा है जो गीता में बार बार वर्णित है या जो श्रीअरविन्द अपनी पुस्तकों में कहते हैं "ईश्वरप्रणिधान सर्वक्रियाणा परमगुरावर्पण तत्फलसन्यासो वा" [ईश्वर-प्रणिधान है सब क्रियाओं का परम गुरु (भगवान्) मे अर्पण या उनका फल त्याग], अस्तु। अभिप्राय यह है कि श्रीअरविन्द का योग अन्तमूलक, अन्तरात्म

प्रेरित होकर बाहर अन्तिम छोर तक पहुँचने वाला है और पातञ्जल योग मे भी अन्तरङ्ग की ही महिमा है, यद्यपि बहिरङ्गों का भी वहा एक आवश्यक स्थान है।

भगवान् और उसकी शक्ति (माता) के प्रति समर्पण या प्रणिधान—

श्रीअरविन्द अपने स्वीकृत योग को पूर्ण योग या सर्वाङ्गीण (Integral) योग नाम से कहना पसन्द करते हैं। यह कहा जा चुका है कि उन्होंने सब योगों के समन्वय से अपनी योगपद्धति प्राप्त की है। हठयोग राजयोग, (पातञ्जल योग राजयोग ही है), तन्त्रयोग आदि के और दूसरी तरफ ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्ति-योग के समुचित समन्वय से उनकी योगपद्धति बनी है। उनके मार्ग में शक्ति या माता की सहायता प्राप्त करना अनिवार्य है। यह अन्तिम रूप मे विकसित तन्त्र योग से ली गई कही जा सकती है। वैसे शक्ति का वर्णन योग मे सर्वत्र ही है। हठयोग की साधना मे ही कुण्डलिनी शक्ति शक्ति या योगशक्ति का जागृत करना अनिवार्य है। पर ऊंचे रूप मे वही शक्ति माता हो गई है। माता को अपने आपको प्रेमपूर्वक विना समर्पण किये और उसकी सहायता विना प्राप्त किये श्रीअरविन्द के योग मे सिद्धि नहीं होती है। सो ईश्वर को (और फलत उसकी शक्ति को) यह व्यक्तित्वगत रूप देना भी पातञ्जल दर्शन मे देखा जाता है। साख्य के पुरुष और प्रकृति सूखे हैं, उनके प्रति 'भक्ति' हो सकना कठिन है। पर योगदर्शन और साख्य-दर्शन में, इनके परस्पर सजातीय दर्शन होते हुए भी, जो कुछ भेद हैं उनमे एक मुख्य भेद यही है कि योगदर्शन ईश्वर का, पुरुषविशेष का प्रतिपादन करता है और उसकी भक्ति करना योगसिद्धि के लिये उपाय मानता है। पतञ्जलि का प्रसिद्ध सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ १—२३॥

इस पर भाष्य करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं, "प्रणिधान से अर्थात् भक्तिविशेष से अभिमुख किया हुआ परमेश्वर उसे अभिध्यान मात्र से अनुगृहीत कर लेता है"।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित
ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

यह पतञ्जलि का प्रणिधान वही वस्तु है जिस पर श्रीअरविन्द समर्पण (या भक्ति) नाम से बहुत जोर देते हैं। यद्यपि इसी तरह माता रूप से (दिव्य) प्रकृति के प्रति भक्ति का स्पष्ट उल्लेख पातञ्जल दर्शन में नहीं है, फिर भी ईश्वर के प्रति भक्ति उसकी (दिव्य) शक्ति के प्रति भी आसानी से हो सकती है। जैसे, व्यास मुनि इससे दो सूत्र पहले के बीसवें सूत्र के भाष्य में श्रद्धा के विषय में कहते हैं कि वह कल्याणमयी माता की तरह योगी की रक्षा करती है—"सा हि जननीव कल्याणी योगिनम पाति"। साधारणतया प्रकृति शब्द तो पुरुषसे विपरीत (अदिव्य) वस्तु को दर्शाने के लिये ही पातञ्जल योग में आया है, पर दिव्य शक्ति को भी—कम से कम वैयक्तिक दिव्य शक्ति को—"दृक्शक्ति (२-६), स्वामिशक्ति (२-२३), चितिशक्ति (४-३४), नाम से इन योगसूत्रों में पुकारा गया है। श्रीअरविन्द का योग निस्सन्देह भक्तिप्रधान है। ज्ञान और कर्म आवश्यक हैं और अन्त में ये तीनों एक ही हो जाते हैं तो भी यह कहना ही अधिक ठीक है कि भक्ति में ही ज्ञान और कर्म सार्थक होते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २—४५ ॥

इस सूत्र में "ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धि" यह जो व्यास जी ने लिखा है ठीक वही श्रीअरविन्द के योग की गति है। सर्वभाव से ईश्वरार्पित होने से सब सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह समर्पण भाव और इस प्रकार की भक्ति ही, तप की अपेक्षा श्रीअरविन्द का योग मार्ग है। जैसे यह समर्पण भाव ईश्वर में चाहिये, वैसे ही उसकी दिव्य शक्ति (माता) में भी। क्योंकि ईश्वर और उसकी शक्ति आखिर अभिन्न ही है। पर यह दिव्य योगशक्ति योग को आगे आगे चलाती है यह तो पातञ्जल योग में भी माना गया है। जैसे, ३ ६ के भाष्य में कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्य', योगो योगात् प्रवर्तते ॥

अतिमानस विज्ञानमय प्रकाश

श्रीअरविन्द के योग को विज्ञानमय योग नाम से भी कहा जाता है, क्योंकि ऊपर उठ कर मन से परे अतिमानस विज्ञान तत्त्व की प्राप्ति और उसके द्वारा नीचे का रूपान्तर इस योग की मुख्य विशेषता है। यह श्रीअरविन्द के योग की तीसरी विशेषता कही जा सकती है। पर इस बात में भी पातञ्जल योग की

साक्षी मिलती है—बल्कि इसमें तो यह बहुत ही स्पष्ट है। मन से ऊपर के प्रकाश को, प्रज्ञालोकों को पाना ही तो पातञ्जल योग में समाधि का भी लक्ष्य है। साधारणतया योगजिज्ञासु लोग समाधि को ही लक्ष्य समझते देखे जाते हैं। पर पातञ्जल योग में भी समाधि तो आठ योगांगों में से (चाहे अन्तिम ही सही) एक अङ्ग ही है, और इन योगांगों का (समाधि का भी) उद्देश्य है ज्ञानदीप्ति, विवेकख्याति तक ज्ञानदीप्ति। योगसूत्र कितना स्पष्ट है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते ॥ २–२८ ॥

एवं प्रकाश के आवरण को हटाना योगसाधना का प्रयत्न है यह बार बार कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २–५२ ॥

प्रकाशावरणक्षयः ॥ ३–४३ ॥

और जहां "उपायप्रत्यय" नामक असली योगियों का मार्ग-क्रम बताया गया है उस सूत्र में भी समाधि से अगला क्रम प्रज्ञा (ज्ञानप्रकाश) कहा है—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ १–२० ॥ फिर धारणा-ध्यान-समाधि से, संयम से, जो वस्तु प्राप्त होती बताई गई है वह भी है प्रज्ञालोक अर्थात् ज्ञानप्रकाश—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ३–५ ॥

इसी प्रज्ञालोकके विविध भूमिकाओंमें विनियोग करने से नाना विभूतियां, सिद्धियां प्राप्त होती हैं (देखो ३ ६)।

आगे इस विभूति पाद में ही प्रातिभ ज्ञान का—जिसे तारक ज्ञान भी कहते हैं—वर्णन है जिसके उदित होने पर योगी सब कुछ जान सकता है—"प्रातिभाद्वा सर्वम्" ॥ ३-३३ ॥ पर यह प्रातिभ भी जिस महाज्योति का पूर्वरूप है, जैसे उषा सूर्य का पूर्वरूप होती है, वह है विवेकज-ज्ञान जिसका वर्णन इसी पाद के ५२ और ५४ सूत्रों में है। श्रीअरविन्द ने उच्चमन से लेकर अतिमानस (विज्ञान) तक जिन उत्तरोत्तर प्रकाश-परम्पराओं का वर्णन किया है उन्हीं में से इन प्रातिभ और विवेकज ज्ञान का स्थान भी सम्भवतः ठहराया जा सकता है। पर यहां इतने विस्तार में जाने की गुञ्जायश नहीं।

अध्यात्मप्रसाद से होने वाली "ऋतम्भरा प्रज्ञा" तो बिलकुल उसी दिशा की वस्तु है जिसे श्रीअरविन्द विज्ञानमय प्रकाश (Supramental light) कहते हैं, जिसका निम्न प्रथम पाद के प्रसिद्ध सूत्र मे वर्णन है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १-४८ ॥

एक बार श्रीअरविन्द से मैंने इस बारे मे पूछा भी था। उन्होंने उत्तर दिया था कि ऋतम्भरा प्रज्ञा या तो स्वयं विज्ञानमय प्रकाश की अवस्था हो सकती है या बहुत सम्भव है उच्चतर सत्य प्रकाश से (स्वयं विज्ञानमय प्रकाश से नहीं) भरी हुई अवस्था।

इसी प्रकार ४-३१ सूत्र मे उस अनन्त ज्ञान प्रकाश का वर्णन है जिसम पहुच कर ज्ञेय न कुछ रह जाता है, जिसके सामने ज्ञेय अल्प हो जाता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि उन प्रकाशों और अवस्थाओं की प्राप्ति का जो मार्ग श्रीअरविन्द ने विस्तार से लिखा है वह पातञ्जल योग मे भी दर्शाया गया है।

रूपान्तर

आरोह अवरोह (Ascent और Descent) का जो श्रीअरविन्द के योग मे वर्णन आता है वह तो थोडे बहुत रूपमे सभी पद्धतियों मे है। केवल श्रीअरविन्द के योग के विशाल और व्यापक होने से योग की यह द्विविध गति यहा विशाल रूप मे आती है। पर श्रीअरविन्द इस द्विविध गति द्वारा जिस दिव्य रूपान्तर (Transformation) की बात करते हैं उसकी भी प्रक्रिया का वर्णन निम्न योग सूत्र मे सुगमता से पाया जा सकता है—

जात्यन्तरपरिणाम: प्रकृत्यापूरात् ॥ ४-२ ॥

मेरी समझ मे इस सूत्र मे प्रसिद्ध तीन परिणामों के अतिरिक्त यह जात्यन्तरपरिणाम भी बताया गया है जो प्रकृति के "आपूर से" होता है, अस्तु।

साराश यह है कि पातञ्जल योगमे बीज रूपसे पीछे से विकसित हुए भी सब सच्चे योगमार्ग निहित हैं, सो इस रूप मे श्रीअरविन्द का मार्ग भी इसमें है ही, जो कि जगत् की वर्तमान अवस्थाओं मे और मानव के वर्तमान विकासक्रम में सब से अधिक स्वाभाविक और पूर्ण प्रतीत होता है।

पहले हम इन दोनों योगों का सदृशता द्वारा विवेचन कर चुके हैं। अब विसदृशता द्वारा विवेचन करेंगे। क्योंकि इन दोनों दृष्टियों से ही देख लेने से वस्तुओं का पारस्परिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

जब इन दोनों योगों मे विसदृशता की, भेद की बात में कहता हूँ तो पहले यह बता देने की जरूरत है कि मैं पातञ्जल योग उसे मान लेता हूँ जो योग कि पातञ्जल सूत्रों से और विशेषतया उस पर हुए व्यासभाष्य से सूचित या अनुमित होता है। पतञ्जलि द्वारा सूत्रित योग पद्धति आज उस रूप में कोई जीवित योग-पद्धति नहीं है जैसी कि श्रीअरविन्द-योगपद्धति है जिसके कि प्रवर्त्तक जीवित रूप मे विद्यमान हैं और जिसकी कि साधना उनके पथ प्रदर्शन मे सैकड़ों साधक जीवित जागृत रूप में करते हुए आज देखे जा सकते हैं। इसीलिये इस लेख के शीर्षक में मैंने जहा 'श्रीअरविन्द की योग-पद्धति' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं वहा दूसरी तरफ 'पातञ्जल योग' इतना ही कहा है, इसके साथ 'पद्धति' शब्द प्रयुक्त नहीं किया। जिस समय पातञ्जल योग लिखा गया उस समय इसकी कोई क्रिया पद्धति या पद्धतिया जीवित रूप मे अवश्य प्रचलित होंगी, परन्तु इस समय तो हम उसका अन्दाज ही कर सकते हैं। पुस्तकीय बात और क्रियात्मक बात मे जो अन्तर होता है वही अन्तर अब यहा हो चुका है। इस समय पातञ्जल योग बहुत कुछ पुस्तकीय वस्तु है। योग के जानने की प्रबल उत्कण्ठा होने पर मैंने विद्यार्थीकाल मे जो कुछ योगविषयक साहित्य गुरुकुल मे उस समय मिल सका वह सब पढा था। पातञ्जल योगदर्शन भी बड़ी श्रद्धा से पढा था। पर सिवाय प्रणवजप के और कुछ क्रियात्मक चीज उसमे से नहीं समझ में आई या मिली। आसन प्राणायाम की क्रियात्मक विधि—बल्कि प्रणवजप की भी क्रियात्मक विधि—किसी जानकार अनुभवी गुरु से सीखने की चीज है यही सब तरफ से मालूम हुआ। योगशिक्षकों की तलाश मे घूमने पर जब बहुत से योगाभ्यासियों से परिचय हुआ तब यह और भी स्पष्ट हो गया कि प्रचलित योग की पद्धतिया बहुत हैं, उनके भी बहुत से सम्प्रदाय हैं, और उनमे से भी जो राजयोग या ध्यानयोग करके प्रसिद्ध हैं वह भी बिल्कुल पातञ्जल योग नहीं है। तब यह भी देखा कि यद्यपि सब योगशिक्षक पातञ्जल योग को आदर की दृष्टि से देखते हैं, पर उनकी पद्धतिया कुछ नई प्रकार की हैं। एक-एक ऐसे विद्वान् गुरु भी मिले जो अपने योग को सर्वथा पातञ्जलानुसारी प्रतिपादित करते थे, पर उनके भी ध्यान आदि के प्रकारों मे कुछ परम्परागत ऐसी विधिया (आवश्यक और उपयोगी विधिया) देखीं जिनका पातजल योग मे कहीं नाम तक

नहीं था। सब से अधिक प्रचलित तो मैंने देश में शक्तिसंचार योग (एक प्रकार का तन्त्रयोग) पाया है जिसका कि अनुष्ठान करने वाले बहुत हैं। दूसरे स्थान पर हठयोग, फिर हठयोगसहित राजयोग को पाया है। अस्तु, यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि ठीक पातंजल योग क्या है, यह इस समय निश्चित बताना कुछ कठिन है। इसमें सभी योगों के संकेत मौजूद हैं, जैसा कि गत लेखमें कहा गया था।

पातंजल सूत्रों के साथ व्यासभाष्य की भी बात मैंने इसलिये कही है क्योंकि केवल सूत्रों के तो कई तरह अर्थ किये जा सकते हैं और किये गये हैं। स्वामी दयानन्दजी ने कई प्रसिद्ध योगसूत्रों की अपनी ही व्याख्या की है जो व्यास भाष्य से भिन्न है। मैंने भी गत लेख में एक दो जगह मूल सूत्रों को ही अपने अर्थ के लिये आधार बनाया है, न कि उन पर हुए भाष्यों को। प्राचीन और पूजित पुस्तकों के विषय में बहुधा ऐसा ही होता है कि पीछे से उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की व्याख्या होने लगती है, पीछे के लोग उनसे मतभेद प्रकट करने की अपेक्षा उनका अर्थ बदलने, उनकी नई व्याख्या करने का ही मार्ग ग्रहण करते हैं। इसलिये यह कह देना आवश्यक हुआ है कि इस लेख के प्रयोजन के लिये पातंजल योग (दर्शन और क्रियात्मक विधि) से मेरा मतलब वही है जो कि पातंजल सूत्रों पर प्रसिद्ध व्यासजीके भाष्य और वाचस्पति मिश्रकी मानी हुई टीकाओंसे प्रकट होता है।

(१) योग का स्वरूप—तो सब से पहिले श्रीअरविन्द के योग और पातंजल योग में जो भेद है वह योग के स्वरूप के विषय में ही है। पातंजल योग में तो योग है 'चित्तवृत्तिनिरोध', चित्त की वृत्तियों का निरोध (रुक जाना)। यह योग मन से सम्बन्ध रखता है। मानसिक है। पर श्रीअरविन्द के योग में मन से परे जाने पर सब जोर है। योग शब्द के विस्तृत अर्थ लिये जाते रहे हैं, जैसे कि उपनिषद् में कहा है 'योगो हि प्रभवाप्ययौ' (कठोप० ६-११)। मेरी समझ में यह जगद्व्यापक योग का वर्णन है। गीता में भी जो 'समत्वं योग उच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहके दो जगह योगकी परिभाषा की गई है वह भी जीवन व्यापी योग की तरफ निर्देश करती है। पर पातंजल योगमें योगको चित्तवृत्तिनिरोध तकही सीमित कर दिया गया है। योगका जो अति प्रचलित अर्थ जोडना, मिलना है वह भी पातंजल में नहीं प्रतीत होता। व्यासजी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'योगः समाधिः', इस पर लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट लिखा है कि इसलिये यहां का योग शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे नहीं बना है, किन्तु 'युज् समाधौ' से बना है।

'युज् समाधौ' इत्यस्माद्व्युत्पन्नः समाध्यर्थो,
न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात्संयोगार्थ इत्यर्थः'।

सो पातंजल योग में योग का अर्थ केवल समाधि है, चित्तवृत्तिनिरोध रूप समाधि। मैंने गत लेख में जो कहा है कि समाधि का भी लक्ष्य प्रज्ञा है वह भी

प्रचलित टीकाओं से अनुमोदित नहीं है। टीकाओं के अनुसार तो जिस समाधि से प्रज्ञा पैदा होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि है, जब इन ऋतम्भरा आदि प्रज्ञाओं का भी निरोध हो जाता है तब जो असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि होती है वह असली समाधि है, वह असली पूर्ण चित्तवृत्तिनिरोध है, असली योग है।

पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है श्रीअरविन्द के योग मे सम्पूर्ण जीवन ही योग है। केवल चित्तवृत्ति का निरोध ही नहीं। पर केवल चित्तवृत्ति-निरोध का तो वहा साधन के तौर पर भी उतना अधिक महत्त्व नहीं। क्योंकि यह योग मानसिक नहीं, आध्यात्मिक है। इसमे साधक को मन से ऊपर अति-मानस सत्यचेतना मे जाना है और उससे भी मन को रोकना, निरुद्ध कर देना नहीं किन्तु उसकी शक्ति के अवतरण द्वारा इसको (मन को) बडे यत्न से शुद्ध क्रिया, दिव्य क्रिया के योग्य बना कर इससे कार्य करना है। इसका यह मतलब नहीं कि इस योग में चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात मन को शान्त, अचचल, निश्चल नीरव करना साधन के तौर पर आवश्यक नहीं है। यह तो आवश्यक है। पर इस योग मे स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। इसलिये श्रीअरविन्द के योग मे एक ऐसा व्यक्ति अधिक बढा हुआ हो सकता है जिसका मन अभी अचचल या निरुद्ध नहीं है पर जिसे अध्यात्म-स्पर्श प्राप्त हो चुका है उस मनुष्य की अपेक्षा जिसने चित्तवृत्ति का हठपूर्वक निरोध काफी समय का प्राप्त किया है पर अध्यात्म-स्पर्श नहीं पाया है। यहाँ योग का अर्थ वस्तुत जुडना, युक्त होना है (न कि समाधि), जीवात्मा और परमात्मा का जुडना, इन दोनों का सचेतन सम्बन्ध स्थापित होना। हमारे चित्त व मन के पीछे जो अन्तरात्मा है, हमारे अन्दर की दिव्य सत्ता है उसका ऊपर भगवान् के साथ सम्पर्क हो जाना, आदान प्रदान होने लगना, इनके जोड़ने वाले मार्ग का खुल जाना, उद्घाटित हो जाना, पुकार और पूर्त्ति का सम्बन्ध स्थापित हो जाना यही श्रीअरविन्द के योग का स्वरूप है।

एक दूसरे रूप मे कहे तो श्रीअरविन्द के योग तथा पातजल योग मे मौलिक भेद यह है कि श्रीअरविन्द का योग क्रियाशील (Dynamic) है, स्थितिशील (Static) नहीं। श्रीअरविन्द के अपने शब्दोंमे यह भेद इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

"अन्य योगशिक्षाओं की अपेक्षा इस शिक्षा में मौलिक भेद यह है कि एक क्रियाशील (Dynamic) भागवत सत्य (विज्ञान) है और यह सत्य अज्ञान के इस वर्तमान जगत मे अवतरित हो सकता है और एक नवीन सत्य चेतना का निर्माण कर सकता तथा जीवन को भागवत, दिव्यतामय बना सकता है। प्राचीन योग सब मन-बुद्धि से सीधे निरपेक्ष ब्रह्म की ओर चलते हैं, और सारी क्रियाशील (Dynamic) सत्ता को अविद्या, माया या लीला मानते हैं, जहा तुम स्थितिशील

(Static) और अपरिवर्त्तनीय दिव्य सत्य मे प्रतिष्ठ हुए, तो तुम, उनका कहना है, इस सब विश्व सत्ता के पार हो जाते हो"। (इस जगत की पहेली)

इसीसे हम अगले विषय पर आजाते हैं।

(२) योग का लक्ष्य—श्रीअरविन्द के योग का स्वरूप ऐसा इसलिये है क्योंकि उसका लक्ष्य भगवान को पूर्णतया प्राप्त करना है, न कि कैवल्य प्राप्त करना।

कैवल्य का अर्थ भी बहुत से लोग परमात्मा की प्राप्ति समझ सकते हैं। स्वामी दयानन्दजी ने यह अर्थ लिया ही है। स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास के अन्त मे मुक्ति का वर्णन करते हुए पातजल योग के आरम्भिक दो मुख्य सूत्रों को उद्धृत किया है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ॥ १ ॥
तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम ॥ २ ॥

और न केवल 'एकाग्रता' का अर्थ परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म मे चित्त को ठहराना किया है किन्तु द्रष्टाके स्वरूप मे ठहरने का अर्थ 'सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप मे जीवात्मा की स्थिति' किया है। व्यासभाष्य आदि के अनुसार यहा परमात्मा या ईश्वर का कोई नाम निशान भी नहीं है। स्वामी जी जैसे समाधि की केवलता को परमेश्वर मे स्थिति मानते हैं वैसे कैवल्य को भी परमात्म-प्राप्ति मानते हैं। पर सांख्य और योगदर्शन की मानी हुई प्रचलित व्याख्या के अनुसार तो "कैवल्य" यह परिभाषा जिस अर्थ में प्रयुक्त हुई है वह पुरुष (आत्मा) का केवल हो जाना, ससार के खेल से तटस्थ हो जाना, प्रकृति का उसके प्रति बिल्कुल निवृत्त हो जाना है जिसका कि वर्णन योगदर्शन मे सबसे अन्तिम सूत्र द्वारा इस प्रकार हुआ है—

पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यदि कैवल्य यही है तो इस वैयक्तिक मोक्ष को पाना श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं है। श्रीअरविन्द के योग की सिद्धि के लिये तो केवल नहीं होना है, किन्तु भगवान् से मिलना है, पूरी तरह मिलना है; जगत् को नहीं छोड़ना, किन्तु जगत् पर भगवान का राज्य स्थापित करना है; प्रकृति को त्याज्य (हेय) समझ प्रकृति से किनारा नहीं करना किन्तु प्रकृति का भी रूपान्तर कर उसे दिव्य खेल के योग्य बना देना है। इस योग का साधक इसलिये योग साधना नहीं करता कि वह अन्तमे भगवान्मे लीन हो जाय और खतम हो जाय, वह तो इसलिये साधना करता है कि वह भगवान् के हाथों मे उसका शुद्ध दिव्य यत्र बन जाय, फिर भगवान् उसका जो चाहें करें।

और इस योग मे भगवान् को पाने का अर्थ यह नहीं कि केवल मानसिक तौर से (ध्यान या समाधि द्वारा) पाना, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है।

किन्तु सारे जीवन के द्वारा पाना, या पूर्णरूप से पाना है, अर्थात आत्मा, मन, प्राण और शरीर इन सब से भगवान को पाना है। इसका मतलब है कि आत्मा का परमात्मा की सत्यचेतना से सतत सम्बन्ध हो जाने पर मन और प्राण और शरीर का भी बडी भारी साधना द्वारा दिव्य रूपान्तर कर उनमे भगवान् को प्रतिष्ठापित करना, एक शब्द मे पूर्णतया दिव्य बन जाना।

और फिर यह भी कह देना चाहिये कि कुछ व्यक्तियों का इस प्रकार अपने को पूर्ण दिव्य बना लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीमे धीमे कालान्तर मे सम्पूर्ण मनुष्य जाति ही दिव्य, देवजाति बन सकेगी, इस पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकेगा, यह मर्त्यलोक स्वर्गधाम बन सकेगा, जैसा कि श्रीअरविन्दने 'हमारा योग और उसके उद्देश्य' नामक पुस्तक के प्रारम्भ मे कहा है " हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की आवश्यक अवस्था है, बल्कि इसका उद्देश्य है मनुष्यजाति की मुक्ति। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनन्द को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि यह है कि भागवत आनन्द—इसाका स्वर्गीय साम्राज्य या हमारा सत्ययुग—को पृथिवी पर उतार लाया जाय"। [पृष्ठ ३] पर यह एक दूर का ध्येय है, भगवान जो इस विश्वमे योग कर रहे हैं उसका भाग है। हमारे लिये तो इतना कहना पर्य्याप्त है कि श्रीअरविन्द के इस क्रियाशील योग का दूसरे लोगों पर भी प्रभाव पडेगा ही और जो लोग मन से ऊपर जाने को तैय्यार होंगे उन सबको सहायता पहुचेगी और एव सब जगत दिव्यताकी ओर अग्रसर होगा।

(३) योग के साधन—उद्देश्य के अनुसार साधनोंमें भी भेद आ जाता है। पातजल योगमें तो 'ईश्वरप्रणिधान' मनोनिरोध के मुख्य प्रयोजन के लिये बहुत से साधनों में केवल एक साधन है जैसा कि 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस 'वा' से स्पष्ट है यद्यपि पाच नियमों में से एक नियम के तौर पर और क्रियायोग के एक अग के तौर पर यह पातजल योगमें भी अनिवार्य है। पर श्रीअरविन्द के योग में यही सब कुछ है ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान् को न केवल अपने सब बाह्य कर्म किन्तु अपने अन्दर बाहर के सब अगोंकी सभी क्रियायें और सब अग और सब कुछ ही भगवान को सौंपना यहा मौलिक वस्तु है। जितना ही पूर्ण समर्पण होगा उतनी बड़ी भगवान् की शक्ति, माताकी शक्ति हममें सचालित हो सकेगी।

इस योगकी आरम्भिक वस्तु उद्घाटनके लिये भी समर्पणकी आवश्यकता है। समर्पण और अभीप्सा द्वारा जब तक कि उद्घाटन नहीं हो जाता तब तक इस योग की वास्तविक क्रिया प्रारम्भ ही नहीं होती। उद्घाटन का मतलब है अन्दर अन्तरात्मा, हृत्पुरुष का खुल जाना और ऊपर चेतना के सत्य प्रकाशके मार्गका खुल जाना। इस उद्घाटनके हो जानेसे ही भगवान्की दिव्य शाति, प्रकाश, शक्ति, विशालता आदि हममे आ सकती है और हम दिव्य बन सकते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं—

'इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त यही है कि अपने आपको भगवान को सौंप दो, समर्पित कर दो, अन्य किसी को भी नहीं, अन्य किसी भी वस्तु को नहीं, और भगवती माता के साथ संयुक्त होकर विज्ञानमय भगवान की पराज्योति, शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सत्यचेतना और आनन्द को अपने अन्दर ले आओ'।
[योगप्रदीप]

पर ये दिव्य ज्योति, शक्ति आदि हम मे आने का उपकरण क्या है यह भी जानना चाहिये। यह उपकरण है जागृत हुआ अन्तरात्मा, हृत्पुरुष। पातजल योग मे जो मन का स्थान है वह यहा अन्तरात्मा का है। इसलिये इस योग मे पहला काम है हृत्पुरुष को जगाना, उद्घाटित करना। हमारे अन्दर जो कुछ है उसमे एक यही दिव्य सत्ता है, अत यही भगवान की दिव्य शक्तियों को सीधा ग्रहण कर सकती है। मन आदि द्वारा वह (सीधी) गृहीत नहीं हो सकती—

"अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सीधे भागवत सत्य से सम्बद्ध रहता है, पर मनुष्य मे इस हृत्पुरुष को मन, प्राण और देह छिपाये रहते हैं"। 'इस योग मे हृत्पुरुष ही है जो शेष प्रकृति का मुख वास्तविक परम विज्ञान की ओर, अन्त मे परम आनन्द की ओर खोल देता है'। [यो० प्र०]। सो हृत्पुरुष का उद्घाटन इस योग मे पहला प्रयत्न है। और 'पवित्रता, सरल सचाई तथा दम्भ और बनावट से रहित एव अहकारशून्य विशुद्ध आत्म-समर्पण का सामर्थ्य, ये ही हृत्पुरुष के पूर्ण उद्घाटन के साधन हैं'। इसलिये, श्रीअरविन्द कहते हैं, इस योग मे 'हृदय ही ध्यान का मुख्य केन्द्र होना चाहिये, जब तक कि चेतना की गति आप ही ऊपर की ओर न हो जाय'।

यह हृदय तथा ऊपर मे दो ही स्थान हैं जहा श्रीअरविन्द के योग की मुख्य गतिया होती हैं। जैसे हृदय की गति मे हमे अन्तरात्मा को खोज कर पाना होता है वैसे ऊपर की गति मे मन से भी ऊपर अतिमानस (विज्ञानतत्त्व) की पूर्ण सत्य-चेतना को प्राप्त करना होता है। इस योगसाधना मे साधक या तो हृदय मे कार्य हो रहा अनुभव करता है या ऊपर की चेतना मे। इन दोनों के बीच आरोहण और अवरोहण (अवतरण) की एक प्रक्रिया चलती है। आरोहण और अवतरण ये दोनों परस्परपूरक होते हैं। "आरोहण से दिव्य अवतरण शक्य होता है, और अवतरण उसे पूरा करता है, सिद्ध कर देता है जिसके लिये कि आरोहण किया जाता है"। [इस जगत की पहेली]। इस आरोहण और अवतरण की प्रक्रिया द्वारा ही दिव्यता नीचे लायी जाती है। आरोहण द्वारा भगवान् की दिव्य चेतना तक हमारी पहुच होती है और अवरोहण (अवतरण) द्वारा वहा से प्राप्त दिव्यता द्वारा आधार का दिव्य रूपान्तर होता है।

पातजल योग मे जैसे यम नियम-आसन आदि का उत्तरोत्तर चढता क्रम है वैसे यहा आरोहण मे मन, उच्चमन, प्रकाशित मन, स्फुरणात्मक मन, अधिमानस और फिर अतिमानस (विज्ञान) की चढती सीढिया है। इन सीढ़ियों मे न केवल आरोहण होता है किन्तु अवरोहण भी। आरोहण तो पातजल योग मे भी है, वह चाहे विज्ञान तक पहुचता हो या न पहुचता हो। पर अवरोहण श्रीअरविन्द के योग की विशेषता है, क्योंकि दिव्य रूपान्तर इसी से होता है। यहा केवल आरोहण का अपने आप मे कुछ मूल्य नहीं है, यहा आरोहण अवतरण के लिये है। कुछ न कुछ अवतरण भी आरोहण के साथ साथ अन्य योगों मे भी होता ही है किन्तु वह अवतरण यहा काफी नहीं, यहा का अवतरण वह अवतरण है जो बदलने की, रूपान्तर की शक्ति रखता है। पातजल योग आदि मे जो शान्ति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम, आनन्द का अवतरण होता है, वह मुक्ति के लिये है, पर यहा का अवतरण मुक्ति के ही लिये नहीं किन्तु पूर्णता के लिये, अवचेतना तक का रूपान्तर तथा पूर्णता के लिये होता है। इस भेद को हमे स्मरण रखना चाहिये।

सो इस योग मे दोनों गतियों का होना आवश्यक है। जैसे ऊपर के केन्द्र की दृष्टि से आरोहण अवरोहण की गति है जिससे कि भगवान की दिव्य शक्तिया नीचे लायी जाती है वैसे पहले कह गये हृदय-केन्द्र या हृत्पुरुष की दृष्टि से उसके इर्द गिर्द होने वाली अन्दर बाहर की गति है जिससे कि वस्तुत दिव्य रूपान्तर का काम होता है। श्रीअरविन्द के अपने शब्दों मे 'वस्तुत हमारी सत्ता के सगठन मे और इसके अगों मे दो प्रणालिया एक साथ काम कर रही है, एक केन्द्र के चारों तरफ चलने वाली है जिसमे अनेक घेरों और कोषों के बीच केन्द्रस्थान पर हृत्पुरुष स्थित है, और दूसरी प्रणाली है खडी, आरोहणावरोहणात्मक जैसे सीढियों की चढाइ हो'। [इस जगत की पहेली]। इन दोनों प्रणालियों का ही कार्य होना आवश्यक है। पहली प्रणाली के लिये हमे अपने हृत्पुरुष को उद्घाटित करना और उसे अग्रणी बनाना होता है, अर्थात् क्रमश ऐसा सिद्ध कर लेना होता है कि हमारे मन, प्राण, शरीर अपने आप अपने ढगसे न चलें किन्तु हृत्पुरुष के अनुसार ही चलें और ढलें। यह भी बड़ा कठिन काम है। पर इतना अन्तरात्ममयीकरण (Psychicisation) भी इस योग के लिये पर्याप्त नहीं है। ऊपर से अन्तरात्मा मे अवतरण भी होना चाहिये, आरोहण-अवरोहण की प्रणाली भी चलनी चाहिये। और जितनी ही अधिक ऊपर की शक्ति उतरगी उतनी ही वह अधिक दिव्य रूपान्तर कर सकेगी। एव किसी उच्चतर चेतनाका अवतरण और उस द्वारा अध्यात्ममयीकरण (Spiritualization) भी काफी नहीं क्योंकि पूर्ण दिव्य रूपान्तर करने की शक्ति अतिमानस (विज्ञान) तत्त्व मे ही है। अत इस योग की पूर्णता का अर्थ है ऊपर विज्ञानमय प्रकाश तक

चढना, पहुचना और उसके पूर्णरूपान्तरकारी अवतरण द्वारा हृत्पुरुष के अनुसार चलने वाले बनाकर मन, प्राण और स्थूल शरीर तथा नीचे तक का रूपान्तर।

पाठक देखेंगे कि यह योग कितना लम्बा और कठिन है।

यह सब कार्य सम्पन्न होता है माता की शक्ति के द्वारा। यहा मन के सकल्प या मन के केन्द्रीकरण (सयम) से उत्पन्न होने वाले बलों का आश्रय लेना भी कोई मुख्य साधन नहीं है जैसा कि पातजल योग में प्रतीत होता है। यद्यपि यहाँ भी एक योगशक्ति, मानसिक योगशक्ति काम करने लगती है। पर इस योग में तो साक्षात उस दिव्य माताकी शक्ति काम करने लगती है जिसका वर्णन श्रीअरविन्द ने अपनी 'माता' पुस्तक मे किया है। माता की शक्ति को सचालित करने के लिये साधक को उत्तरोत्तर बढते हुए समर्पण और अभीप्सा की जरूरत होती है। समर्पण तो हृत्पुरुष का स्वाभाविक धर्म है और अभीप्सा है हृत्पुरुष की पुकार या प्रार्थना। इनके साथ तीसरी चीज़ है परित्याग, जिसकी कि साधक को अपने मन प्राण शरीर की निम्न विरोधी गतियों को हटाने के लिये सतत प्रयुक्त करने की जरूरत होती है। यह है हृत्पुरुष के प्रतीकार करने की, हटाने की क्रिया। मानो पातजल योग के अभ्यास और वैराग्य की जगह यहा अभीप्सा और परित्याग हैं।

यह मैंने सक्षेप मे श्रीअरविन्द की योग-पद्धति को दिखलाने का कुछ प्रयास किया है। अधिक जानना चाहने वालों को श्रीअरविन्द के अपने ग्रन्थ ही पढने चाहियें, विशेषत 'योग प्रदीप' और 'योग के आधार'। देखनेमें इस पद्धति की बातें अन्य योगों के साधनों से भिन्न नहीं लगेंगी। वस्तुत आरम्भ में बहुत-सी समानतायें हैं ही क्योंकि यह योग (हृत्पुरुष और विज्ञानतत्त्व की विशेषता के साथ) सब योगों का समन्वयात्मक योग ही है। पर इस सब प्रणाली को हमे समग्ररूप मे देखना चाहिये। यह समग्रता ही श्रीअरविन्द की योगपद्धति को बनाती है। और यह अवश्य ही एक नयी चीज है, नयी पद्धति है, नया मार्ग है। एक ऐसा नया मार्ग है जिसे कि श्रीअरविन्द ने अपने ३० वर्षों की गम्भीर साधना से बनाया है जिससे कि उनके पीछे आने वाले अनुयायी उस पर चल कर महान् ध्येय को सिद्ध कर सकें। अस्तु।

आशा है इस सब विवेचन से पातजल योग की पृष्ठभूमिका में श्रीअरविन्द-योग को समझना चाहने वालों को कुछ सहायता मिलेगी।

श्रीअरविन्द-जन्मदिवस की कार्यवाही का विवरण

१५ अगस्त १६८३ के दिन श्रीअरविन्द-निकेतन (कनाट सर्कस, नई दिल्ली) की ओर से निकेतन के नगरस्थ केन्द्र मे श्रीअरविन्द का जन्मदिवस मनाया गया जिसमे ध्यान और सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। उसका विवरण नीचे दिया जाता है —

ध्यान सायकाल ७। बजे शुरू हुआ और ७॥ बजे तक रहा। उपस्थित व्यक्तियों की सख्या ८ थी।

तदनन्तर ८ बजे सभा प्रारम्भ हुई। कुल मिला कर लगभग चार सौ नर-नारी उपस्थित थे। कार्यवाही सगीत से शुरू की गई। उसके बाद प० दीनानाथ जी दिनेश, सम्पादक 'मानवधर्म' ने गीता पर एक प्रवचन किया जिसमें उन्होंने मूल श्लोकों और उनके स्वरचित हिन्दी-पद्यानुवादों के गायन का यत्र-तत्र प्रचुर प्रयोग किया। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि गीता कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय की शिक्षा देती है। यह प्रवचन २५ मिनट तक रहा। उसके पश्चात् डा० इन्द्रसेन जी ने श्रीअरविन्द के सन्देश पर भाषण देते हुए कहा कि, एक शब्द मे कहें तो, श्रीअरविन्द आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु आध्यात्मिकता उनके लिये केवल एक बौद्धिक प्रत्यय (intellectual concept) नहीं है; बल्कि यह, इससे कहीं परे, स्वत अनुभव और जीवनका ही मूर्त तथ्य है। इसके आगे उन्होंने कहा कि आध्यात्मिक जीवन की सचाई को ससार से निवृत्त होकर वैयक्तिक मुक्ति मे नहीं खोजना है। बल्कि स्वत जीवन ही की सपूर्ण बुनावट को सुलझाने का प्रयत्न करना और उसे आध्यात्मिक बनाना है, जाति को समष्टि रूप मे विकास की उस अवस्था तक उठा ले जाना है जो अतिमानव की, पूर्णताप्राप्त मनुष्य, दिव्यीकृत मनुष्य की अवस्था है। वक्ता ने अपने कथन को जारी रखते हुए योगकी साधनशैलीकी व्याख्या की। उन्होंने बताया कि श्रीअरविन्द ने लबे अरसे तक परीक्षण और अनुभव करने के पश्चात इसे, मानव व्यक्तित्व को एक वस्तुत दिव्य वस्तु मे विकसित करने वाले पूर्ण विज्ञान और कला में

परिणत कर दिया है। योगाभ्यास की क्रियायें तत्त्वत: मानसिक व आन्तरिक हैं जिनका लक्ष्य होता है जीवनके और जीनेके ढङ्गके प्रति मूलतया नयी मनोवृत्तियों का निर्माण करना। वे पुराने मूल्यों की जगह नये मूल्य बताती हैं। योग साधन अपनी उपयोगिता को अनुभव द्वारा सिद्ध करता है और कोई भी व्यक्ति जिसमें कि जिज्ञासा और कुछ साहस है इसे अपने आप आजमा कर परख सकता है।

प्रो० मुरारिलाल जी पराशर एम० ए०, जो श्रीअरविन्द निकेतन के कार्यालय के अध्यक्ष हैं, दूसरे वक्ता थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी में भाषण दिया और मानव जीवन की समस्या के सम्बन्ध में श्रीअरविन्दकी दृष्टि का निरूपण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह पुष्ट किया कि श्रीअरविन्दकी दृष्टि में जीवन केवल एक समस्या ही नहीं है जिसे कि हल करना है, बल्कि एक युद्ध है जिसे कि जीतना है और एक लीला है जिसका कि पूरी तरह से आनन्द लेना है। उन्होंने कहा कि मानव जाति में विश्वव्यापी और परात्पर चेतना के विकास के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। तत्पश्चात् डा० इन्द्रसेन जी ने जनता को प्रश्न पूछने के लिये प्रेरित किया और पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया।

अन्त में श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर ने यह घोषणा की कि मङ्गलवार और शनिवार को सायङ्काल ८ बजे से ९ बजे तक अध्ययन-मण्डल एकत्र हुआ करता है और श्रीअरविन्दके ग्रन्थ 'THE LIFE DIVINE (दि लाइफ डिवाइन)' को समझने का प्रयत्न करता है और कि उसमें दिलचस्पी रखने वाले सब सज्जनों का स्वागत किया जायगा। इस घोषणा के साथ सभा विसर्जित हुई।

श्री डा० जे के सेन सभापति के आसन पर विराजमान थे।

भूल सुधार

(१) अगस्त की अदिति में 'श्रीअरविन्द निकेतन के उद्घाटन प्रकरण' में जिन श्री लार्ड सिंह का उल्लेख हुआ है उनका शुभ नाम श्री अरुणकुमारसिंह है, न कि श्री सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह जो कि गवर्नर रहे थे। ये श्री अरुणकुमारसिंह उनके ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। इस भूल प्रकाशन का हमें बहुत खेद है।

(२) खेद है कि वह Advent पत्र जिसका जिक्र हमने छठे पृष्ठ पर 'माताजी के वचन' के नीचे टिप्पणी में किया है सब तैयारी हो चुकने पर भी अन्तिम समय में न निकल सका। कागज की तङ्गी के कारण फिलहाल उसका प्रकाशन स्थगित रखना पडा है।

लेखक-परिचय

श्री अम्बालालजी पुराणी—आश्रम खुलने से भी पहिले से जो पाच छे साधक श्रीअरविन्द के साथ रहते थे उनमें से ये श्री पुराणी जी हैं। ये प्रथम १९१६ मे पाडिचेरी आकर रहे थे। आप आश्रम के प्रमुख साधकों मे से एक माने जाते हैं। श्रीअरविन्द के साधक बनने से पहिले पुराणी जी ने गुजरात मे व्यायामशालायें जगह जगह चलाने का बहुत बडा काम किया है जिसके लिये आप गुजरात मे सुविख्यात हैं। फिर गुजराती मे जो कुछ श्रीअरविन्द का साहित्य मिलता है वह पुराणी जी के ही परिश्रम का फल है। इस से इनकी शारीरिक साधना के साथ साथ इनकी मानसिक साधना का भी पता लग जाता है। आप बहुमुखी प्रवृत्ति वाले शक्तिशाली पुरुष हैं। बहुत सी भाषायें जानते हैं। संस्कृत साहित्य के ज्ञाता हैं, विशेषत वैदिक साहित्य मे आपने बहुत परिश्रम का कार्य कर रखा है। उधर कला पर उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हो रही है। कला के भी संगीत, नाट्य, कविता, मूर्तिशिल्प आदि सभी अगों में मर्मज्ञ दीखते हैं। साथ ही दार्शनिक विषयों मे भी आपका प्रवेश कितना गहरा है यह उनसे बातचीत करने पर और उनके लेखों से पता चल जाता है।

हर्ष-समाचार

इस अङ्क के साथ अदिति का प्रथम वर्ष समाप्त हो रहा है। हमें यह समाचार देते हुवे हर्ष होता है कि अगले वर्ष से इसका सपादन योग्यतर हाथों से हो सकेगा। यह सौभाग्यकी बात है कि डा० इन्द्रसेन जी पी० एच० डी० (जिन से हमारे पाठक परिचित हैं) ने अन्य कार्यभार होते हुवे भी अगले वर्ष से इस का सपादन-कार्य स्वीकार कर लिया है।

इस परिवर्त्तन का ऐसा कुछ अभिप्राय नहीं है कि इस से अदिति की नीति आदि मे कोई परिवर्त्तन आवेगा। बात यह है कि श्रीअरविन्दाश्रम से सबध रखने वाले हम चार पाच व्यक्ति हैं जो मिल कर यह सब कार्य कर रहे हैं। सब कार्य उसी प्रकार अब भी चलता रहेगा। मैं भी, यद्यपि मुझे दूसरी तरफ कुछ ध्यान देने की जरूरत होगी, अदिति के सपादन का एक निश्चित कार्य करता रहूँगा। यह परिवर्त्तन केवल श्रीअरविन्द निकेतन के सारे कार्य की अनुकूलता तथा अधिक अच्छे ढग से हो सकने की दृष्टि से ही किया गया है। इस लिये आशा है इस से 'अदिति' अपनी आध्यात्मिक सेवा का कार्य और भी अच्छी प्रकार कर सकेगी और इसका पाठक भी सहर्ष स्वागत करेंगे।

अभय

सपादक 'अदिति'

अदिति

सम्पादक

आचार्य अभयदेव जी विद्यालंकार

प्रकाशक

श्रीअरविन्द निकेतन
कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया।

ति

श्री

इस १५ अगस्त को

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति ।

हे भगवान्! ऐसी कृपा कर कि सब लोग साधारण चेतना से बाहर निकलकर, सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त होकर तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान मे जागृत हों, तेरी परम चेतना के साथ अपनी चेतना को युक्त करें और इससे प्राप्त होनेवाली शान्ति के प्राचुर्य का आस्वादन करें।

हे प्रभु। तू ही हमारी सत्ता का परम पति है, तेरा ही विधान हमारा विधान है, हम अपनी सारी शक्ति के साथ यह अभीप्सा करते हैं कि हमारी चेतना तेरी शाश्वत चेतना के साथ तादात्म्य प्राप्त करे जिससे प्रत्येक वस्तु मे और प्रत्येक क्षण हम तेरा ही महान् कार्य सम्पन्न कर सकें।

हे नाथ। हमें आकस्मिक घटनाओं की चिन्ता से मुक्त कर, साधारण स्थूल दृष्टि से मुक्त कर, ऐसी कृपा कर कि अब हम केवल तेरी ही आखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें, हमें अपने दिव्य प्रेम की सजीव ज्योति शिखाओं मे परिणत कर।

आदर के साथ, भक्ति के साथ, अपनी समस्त सत्ता का आनन्दपूर्ण आत्मोत्सर्ग करते हुए, हे प्रभु, मैं अपने आपको न्योछावर कर रही हूं जिसमे तेरा विधान सिद्ध हो।

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति ।

१४ फरवरी १९१४

—मूल फ्रेंच से अनूदित

आध्यात्मिक जीवन में धर्म का स्थान

प्रश्न—धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है ? क्या धर्म आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक है ?

उत्तर—धर्म मानवजाति के उच्चतर मन की चीज है। मनुष्य के उच्चतर मन की जो चेष्टा है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तिभर अपने से परेकी किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, उस वस्तु को जिसे मानवजाति ईश्वर, परमात्मा, सत्य, श्रद्धा, ज्ञान या अनन्त, किसी प्रकार की निरपेक्ष सत्ता के नाम से पुकारती है, जहां तक मानव मन की पहुँच नहीं होने पर भी वह जहा पहुँचने की चेष्टा करता रहता है,—इस चेष्टा का नाम ही धर्म है। धर्म का जो मूल स्रोत है, उसमें वह भले ही दिव्य हो, किन्तु इसका जो प्रकट स्वरूप है, वह दिव्य नहीं है, बल्कि मानव ही है। वास्तव में हमें धर्म की जगह धर्मों की बात कहनी चाहिए, कारण मनुष्य के बनाये हुए धर्म अनेक हैं। इन विभिन्न धर्मों की रचना, जब कि ये एक ही मूल से उद्भूत न हुए हों तो भी, प्राय एक ही प्रकार से हुई है। ईसाई धर्म की स्थापना किस प्रकार हुई, यह हमें ज्ञात है।

जो धर्म ईसाइयत के नाम से विख्यात है, निसन्देह उसकी रचना ईसामसीह ने नहीं की थी, बल्कि कतिपय विद्वान् और अत्यन्त चतुर मनुष्यों ने मिलकर इस धर्म को इस रूप में, जिस रूप में आज यह हमारे सामने है, रच डाला है। जिस प्रकार इसकी रचना की गयी, उसमें कहीं भी दिव्यता का लेशमात्र तक नहीं था और जिस रूप में यह कार्य कर रहा है, उसमें भी दिव्यता का कोई नाम निशान नहीं है। और फिर भी जिस बहाने या जिसे निमित्त बनाकर इस धर्म की स्थापना की गयी, वह असंदिग्ध रूप से कोई प्रकाश था, जो एक ऐसे पुरुष द्वारा आया था, जिसे दिव्य पुरुष कहा जा सकता है, ऐसा पुरुष जो किसी दूसरे लोक से यहाँ आया, तथा किसी उच्चतर भूमिका के ज्ञान और सत्य को इस पृथ्वी के लिये अपने साथ उतार लाया। वह आया और उसने अपने सत्य की प्रतिष्ठा के लिए कष्ट झेले, किन्तु ऐसे लोग विरले ही होंगे, जिन्होंने उसकी वाणी को ठीक-ठीक समझा हो और ऐसे लोग भी इने गिने ही हुए जिन्होंने उस सत्य को, जिसके लिये इस दिव्य पुरुष ने कष्ट झेले थे, पाने और उसपर आरूढ़ रहने की परवाह की।

गौतमबुद्ध ससार से अलग होकर एकान्त में चले गए, ध्यान लगाकर बैठे और ससार के कष्ट और दुखों से, यह जो रोग और मृत्यु और इच्छा और पाप और क्षुधा है, उस

सर से छुटकारा पाने का एक मार्ग ढूँढ निकाला। उनको एक सत्य का दर्शन हुआ और उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि वे इस सत्य को अपने इर्दगिर्द जमा हुए हुए अनुयायियों और शिष्यों को बता दें और दे दें। परन्तु उनके देह-त्याग करने से पहले उनके जीवन-काल मे ही उनकी शिक्षा का तोडमरोड किया जाना और विकृत किया जाना प्रारभ हो गया था। और यह बाद म, बुद्ध भगवान् के प्रयाण के बाद ही हुआ कि बौद्धमत एक सुव्यवस्थित धर्म के रूप मे जगत् के सामने आया, जिसकी स्थापना बुद्ध के कल्पित कथनों के आधार पर तथा उनके कथनों का जो स्वरूप दन्तकथाओं के रूप मे प्रचारित हुआ था, उसके कल्पित अर्थ के आधार पर हुई। परन्तु शीघ्र ही, चूँकि उनके शिष्य तथा उनके शिष्यों के शिष्य, उनके गुरु की शिक्षा क्या थी, अथवा उनके उपदेशों का यथार्थ अर्थ क्या था, उसके सम्बन्ध मे एकमत न हो सके, इसलिए मूल बौद्धधर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाए हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशिया के बौद्धपथ आदि कई मत हो गए, जिनमे से प्रत्येक का यह दावा है कि, उनके मत में ही बुद्ध की मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है।

ईसामसीह की शिक्षा की भी यही दशा हुई, इसको भी उपर्युक्त प्रकार से ही एक नियमबद्ध और सगठित धर्म का रूप दिया गया। बहुधा लोग यह कहा करते हैं कि, यदि ईसामसीह इस पृथ्वी पर फिर से लौटकर आवें और अपनी शिक्षा को उसके वर्तमान रूप मे, लोगों ने जो रूप उसपर लाद दिया है उसमे, देखें, तो वे उसको पहचान भी न सकेंगे और यदि बुद्ध भगवान् फिर से यहा आवें और उनकी शिक्षा की जो दशा कर दी गई है, उसको देखें तो वे निरुत्साहित हो तुरन्त निर्वाण की ओर लौट जायगे। सभी धर्मों की कथा इसी प्रकार की है। सभी धर्मों का जन्म किसी महान् जगद्गुरु के आविर्भाव को लेकर होता है। ये जगद्गुरु इस पृथ्वी पर आते हैं, सत्य को प्रकाशित करते हैं और स्वय किसी भागवत सत्य के मूर्तिमान् अवतार होते हैं। परन्तु मनुष्य इस सत्य पर अपना ही कब्जा जमा लेते हैं, इस पर से वे एक रोजगार खड़ा कर लेते हैं और इसके द्वारा वे एक राजनीतिक सगठन सा बना लेते हैं। ये लोग धर्म के साथ किसी शासनतन्त्र को, किसी नीति को तथा कुछ कायदे-कानूनों को जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धात और नियम, विधि और व्यवस्था, शास्त्रोक्त कर्म और उत्सव होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन करना उस धर्म के अनुयायी के लिये फर्ज होता है। इनमें कोई हेर फेर नहीं हो सकता और ये अनुल्लघनीय होते हैं। रियासत की तरह इस में भी सच्चे भक्तों को पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करनेवालों तथा उन्मार्गगामियों को, धर्मविरोधियों और धर्मत्यागियों को सजा।

इन नियमित रूप से स्थापित हुए हुए सभी धर्मों की ओर से जो पहली और

मुख्य बात सदा कही जाती है, वह यह है कि, 'यही धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्म में है, बाकी के सभी धर्म या तो भ्रम में हैं या निम्न कोटि के हैं।' कारण इस प्रकार के सिद्धान्त को आधार बनाये बिना, ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म खड़े ही नहीं हो सकते। यदि तुम्हारा इस बात में विश्वास न हो, यदि तुम इस बात की घोषणा न करो कि, वह अद्वितीय या उच्चतम सत्य तुम्हारे ही पास है, तो तुम दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी एक मंडली नहीं बना सकोगे।

इस प्रकार का भाव धार्मिक मन के लिये स्वाभाविक है, किन्तु इस तरह के भाव के कारण ही धर्म आध्यात्मिक जीवन के लिये बाधक हो जाता है। धर्म के सिद्धान्त और नियम मानवमन के बनाये हुए हैं और यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा मनुष्य की जीवनचर्या के लिये इनमें जो व्यवस्था है उसके अन्दर अपने आपको बन्द कर रखो, तो तुम उस आत्मा के सत्य को, जो समस्त नियमों और सिद्धान्तों से परे है, जो विशाल है और महत् है, स्वतन्त्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवाद में, केवल उसी को संसार का एकमात्र सत्य मानते हुए, रुक जाते हो और उसके साथ अपने आपको बाँध लेते हो, तो तुम अपने अन्तरात्मा की उन्नति और विस्तार को रोक देते हो।

परन्तु धर्म को यदि तुम दूसरे ही दृष्टिकोण से देखो, तो यह जरूरी नहीं है कि, सभी मनुष्यों के लिये यह सदा बाधकरूप ही हो। यदि तुम धर्म को ऐसा समझो कि, यह मानव जाति की उच्चतर प्रवृत्तियों में से है, यदि उसके अन्दर तुम मनुष्य की अभीप्साओं को देख सको, पर साथ ही इस बात को भूल न जाओ कि, मनुष्य की बनायी हुई सभी चीजें आखिर अपूर्ण ही हैं, तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवन तक पहुँचने में सहायकरूप ही सिद्ध होगा।

धर्म को गम्भीर और सच्ची लगन के साथ स्वीकार कर तुम उसके अन्दर यह खोजने का प्रयास कर सकते हो कि, उसमें सत्य क्या है, उसके अन्दर कौनसी अभीप्सा छिपी पड़ी है, मनुष्य के मन और मनुष्य के संगठन द्वारा भगवान् की कौनसी दिव्य प्रेरणा को वहां परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और फिर यदि तुम उपयुक्त बौद्धिक दृष्टिकोण को बनाये रखकर आगे बढ़ो, तो अपने वर्तमान विकृत रूप में भी धर्म तुम्हारे मार्ग में कुछ प्रकाश ही डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयास में कुछ-न-कुछ सहायता ही करेगा।

सभी धर्मों में ऐसे लोग हमें सदा मिलते हैं, जिनमें भावपूर्ण होने की बड़ी भारी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलंत अभीप्सा से ओत प्रोत होते हैं। परन्तु

उनकी बुद्धि बहुत ही सरल होती है और वे ज्ञान द्वारा भगवान् तक पहुँचने की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते। जिनकी प्रकृति इस प्रकार की है, उनके लिये धर्म का एक उपयोग है, इतना ही नहीं बल्कि उनके लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, कारण मन्दिरों के उत्सवों आदि जैसी बाह्य प्रथाओं के द्वारा यह उनकी आन्तरिक आध्यात्मिक अभीप्सा को एक प्रकार का सहारा और मदद पहुँचाता है।

सभी धर्मों में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास किया है। परन्तु उनकी इस आध्यात्मिकता के विकास का कारण उनका धर्म नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्म में अपनी आध्यात्मिकता का समावेश किया है। ये लोग कहीं भी रहते, किसी भी सम्प्रदाय में पैदा हुए होते, वहां ही उनको उसी आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हुई होती। वे जो कुछ भी हैं, उसको बनाया है, उनके अपने सामर्थ्य ने, उनकी अपनी अन्तःसत्ता की किसी शक्ति ने, न कि जिस धर्म को उन्होंने स्वीकार किया उस धर्म ने। अन्तरात्मा की यह शक्ति उनमें इतनी बलवान् है कि धर्म उनके लिये गुलामी या बंधन का कारण नहीं होता।

परन्तु चूंकि उनका मन बलवान्, स्पष्ट और क्रियाशील नहीं होता, इसलिये उन्हें इस बात की आवश्यकता होती है कि वे ऐसा विश्वास करें कि, इस या उस सम्प्रदाय में ही निरपेक्ष सत्य है और बिना किसी विचलित कर देने वाली शंका या संदेह के वे अपने आपको उस पर न्यौछावर कर दें। सभी धर्मों में मैंने इस तरह के लोगों को पाया है, और इन लोगों की श्रद्धा को विचलित करना तो अपराध ही होगा। इस तरह के लोगों के लिये धर्म बाधक नहीं है। धर्म तो उनके लिये बाधक है, जिनमें आगे बढ़ने की क्षमता है, किन्तु वे लोग, जो और आगे नहीं बढ़ सकते, पर फिर भी आत्मा के मार्ग पर कुछ दूर तक चल सकते हैं, उनके लिये तो धर्म बहुधा सहायक ही होता है।

धर्म के कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नाम पर अत्यन्त खूंखार युद्ध लड़े गये हैं और अत्यन्त भयंकर सितम ढाये गये हैं, तो दूसरी ओर इसने धर्म कार्य के निमित्त परम शौर्य और आत्म-बलिदान के भावों का भी पोषण किया है। मनुष्य के मन ने अपनी उच्चतम कर्मण्यताओं द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शनशास्त्र के समान ही धर्म भी उसकी सीमा बांधता है। यदि तुम धर्म के बाह्य रूप के गुलाम हो जाओ, तो यह एक अंतराय है, एक बंधन है, किन्तु इसके अन्दर जो सार है, उसका उपयोग करना यदि तुम सीख जाओ तो आध्यात्मिक भूमिका में ऊपर जा पहुंचने को यह तुम्हारे लिये कूदने-के-तख्ते का काम दे सकेगा।

जो कोई किसी विशेष मत में विश्वास रखता है अथवा जिस किसी ने सत्य के कुछ अंश को प्राप्त किया है, वह ऐसा सोचने लगता है कि सत्य को, समग्र और पूर्ण सत्य को, केवल उसी ने पाया है। मानव स्वभाव ही ऐसा है। मानव प्राणियों को अपने पैर पर खडे होने के लिये और अपने मार्ग पर चलने के लिये मिथ्यात्व की मिलावट आवश्यक-सी प्रतीत होती है, और यदि सत्य का दर्शन करने के लिये उन्हें एकाएक चक्षु दे दिया जाय, तो वे उस बोझ के नीचे कुचल जायेंगे।

प्रत्येक बार जब जब भागवत सत्य एव भागवत शक्ति का कुछ अंश पृथ्वी पर आविर्भूत होने के लिये अवतरित होता है, तब तब पार्थिव वातावरण में कुछ परिवर्तन होता है। वे सभी जो ग्रहणशील हैं, इस अवतरण के फल-स्वरूप किसी दिव्य प्रेरणा की ओर उन्मुख हो जाते है, किसी स्पर्श को प्राप्त करते हैं, उनकी दिव्य दृष्टि के खुल जाने का एक हल्का सा प्रारम्भ हो जाता है। यदि उनमे इस बात की क्षमता हो कि जो कुछ वे प्राप्त करते है उसको यथार्थ रूप मे धारण और अभिव्यक्त कर सकें, तो वे कहेंगे कि, "एक महान् शक्ति का अवतरण हुआ है, मैं उसके सस्पर्श मे हूँ और उसके बारे मे मैंने जो कुछ समझा है वह मैं तुमसे कहूँगा।" परन्तु अधिकाश लोग, उनके मन की अवस्था सकुचित होने के कारण ऐसा नहीं कर पाते। उन्हें एक प्रकाश मिलता है और वे उससे अभिभूत हो जाते हैं और सहसा चिल्ला उठते हैं कि, 'भागवत सत्य मेरे पास है, मैंने उसको समग्र और सपूर्ण रूप मे पाया है।' आज इस पृथ्वी पर कम से कम दो दर्जन ईसामसीह हैं और शायद इतने ही बुद्ध भी हों। अकेले भारत में ही तुम जितने चाहो उतने अवतारों को पा सकते हो, छोटी छोटी विभूतियों का तो कहना ही क्या है? परन्तु इस प्रकार देखने से तो यह सब कुछ बेढगा सा दिखाई पडेगा, लेकिन यदि तुम इसके पीछे जो सत्य है, उसको देखो तो आरम्भ मे यह जितना मूर्खतापूर्ण दिखाई देता है, वैसा नहीं रहेगा, इसके अन्दर जो सत्य है वह यह है कि इस प्रकार मानव व्यक्तित्व को किसी दिव्य सत्ता, किसी दिव्य शक्ति का सस्पर्श मिलता है और वह अपनी शिक्षा और परम्परा के प्रभाव के कारण उसको बुद्ध, ईसामसीह या और किसी परिचित नाम से पुकारता है।

अब यह कहना बड़ा ही कठिन है कि, उस व्यक्ति के सस्पर्श मे आने वाली सत्ता या शक्ति स्वय बुद्ध या ईसामसीह ही थे, किन्तु यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस सत्ता या शक्ति से प्राप्त होने वाली प्रेरणा का मूल वहा ही नहीं है जहा से ईसामसीह या बुद्ध को प्रेरणा मिलती थी। इन मानव पात्रों मे ऐसे ही किसी उद्गम से प्रेरणा आई हो, यह सर्वथा शक्य है। परन्तु यदि वे विनीत और सरल होते तो अपनी प्रेरणा के विषय मे इतना ही कह कर सतोष मानते और इससे आगे नहीं बढ़ते, उन्होंने कहा

होता कि, 'अमुक महान् आत्मा से मुझे यह प्रेरणा मिली है,' किन्तु इसकी जगह वे यह घोषणा कर बैठते हैं कि, 'मैं ही वह महान् आत्मा हू।'

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती थी, जो इस बात का दावा करता था कि वह खुद ईसामसीह और बुद्ध दोनों है। उसने कुछ प्राप्त किया था, किसी सत्य का अनुभव किया था, अपने में और दूसरों में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन किया था। परन्तु उसके लिये यह अनुभव बहुत ही कड़ा था, उसमें इस सत्य को पचा सकने की ताकत नहीं थी। वह पागल सा होगया और दूसरे ही दिन गलियों में यह कहता हुआ फिरने लगा कि उसके अन्दर ईसामसीह और बुद्ध दोनों एक हो गए हैं।

सभी देशों का और सभी धर्मों का जन्म अनेकविध परम्पराओं और रूढ़ियों के समूह में से हुआ है। इन सभी में तुम्हें सन्त, शूरवीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम अनुभव करोगे कि, यह कहना हास्यास्पद है कि, "चूँकि मैं इस धर्म में पला हू, इसलिये यही धर्म सच्चा है।"

परन्तु जब कोई किसी धर्म की स्थापना करता है तो उसे बहुत से अनुयायियों की आवश्यकता होती है। किसी विशिष्ट धर्म की ताकत और महानता का नाप लोग उसके अनुयायियों की संख्या को देखकर ही लगाते हैं, यद्यपि असली महानता का चिह्न संख्या नहीं है। आध्यात्मिक सत्य की महानता का तो संख्या से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

मेरा एक नवीन धर्म के अधिपति से, जो उस धर्म के संस्थापक का पुत्र था, परिचय था। मैंने उसको एक बार यह कहते हुए सुना कि, उस अमुक धर्म की स्थापना में तो इतने सौ वर्ष लगे हैं और उस अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ किंतु अभी पचास वर्ष के अन्दर ही उसके धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। सो 'आप देखती हैं,' उसने कहा 'हमारा धर्म कितना महान् है।'

धर्मों की महानता भले ही उनके अनुयायियों की संख्या के परिमाण में समझी जाय, किंतु सत्य का यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह सत्य ही रहेगा।

तुम्हारा धर्म, तुम्हारा देश, तुम्हारा परिवार तो एक ही है—स्वयं भगवान।

—'मातृवाणी' से

श्रीअरविन्द-वाणी—

श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

५—बन्धन

सारा ससार स्वतन्त्रता के लिये तरसता है, फिर भी प्रत्येक प्राणी को अपने बन्धन प्रिय होते हैं। यह हमारे स्वभाव का पहला अयुक्ताभास और एक न सुलझाई जा सकने वाली गुत्थी है।

मनुष्य जन्म के बन्धनों से प्रेम करता है इसलिये वह उसके साथ आने वाले मृत्यु के बन्धनों में पकड़ा जाता है। इन सब बन्धनों में रहता हुआ वह अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता के लिये और अपनी पूर्णत्व-प्राप्ति की सिद्धि के लिये अभीप्सा करता है।

मनुष्य शक्ति से प्रेम करता है, इसलिये वह दुर्बलताओं के वशवर्ती होता है। क्योंकि ससार शक्ति की लहरों का समुद्र है जो लहरें आपस में टकराती हैं और लगातार एक दूसरी पर उमड़ उमड़ कर आती है। जो एक लहर के शिखर की सवारी करना चाहता है उसे दूसरी सैकड़ों लहरों की थपेड़ों की मार से बेसुध होना ही होगा।

मनुष्य सुख से प्रेम करता है इसलिये उसे दुख-दर्द के जुए के नीचे आना पड़ता है। क्योंकि शुद्ध आनन्द जिसमें दुःख का मिश्रण नहीं केवल स्वतन्त्र और रागरहित आत्मा के लिये है। पर मनुष्य के अन्दर की जो वस्तु सुखों के पीछे भागती है वह दु'ख उठाने वाली और आयास उत्पन्न करने वाली एक प्राणशक्ति है।

मनुष्य शाति का भूखा होता है पर साथ ही उसे व्याकुल मन और व्यथित हृदय के अनुभवों को लेने की तृष्णा भी लगी होती है। भोग उसके मन के लिये एक ज्वर है, शाति एक जड़ता और नीरसता है।

मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता की सीमाओं से प्रेम करता है, पर साथ ही वह अपने अनन्त मन और अमर आत्मा की स्वतन्त्रता को भी लेना चाहता है।

मनुष्य के अन्दर कोई वस्तु ऐसी है जो इन विरोधों में एक अद्भुत आकर्षण पाती है। ये सब विरोध उसकी मानसिक सत्ता के लिये जीवन की कलामयता को बनाते हैं। वह वस्तु केवल अमृत ही नहीं है, किन्तु विष भी है जो उसकी रुचि और उत्सुकता को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

× × ×

इन सब बातों में एक अभिप्राय है और इन सब विरोधों से निकलने का एक रास्ता है। प्रकृति के बनाये सयोग चाहे कितने ही पागलपन के लगते हों पर उसके प्रत्येक पागलपन में कोई नियम है और उसकी जटिल से जटिल उलझनों का भी कुछ न कुछ हल है।

मृत्यु एक प्रश्न है जिसे कि **प्रकृति** निरन्तर **जीवन** के सम्मुख रखती है और यह **प्रकृति** की **जीवन** को याददिहानी है कि उसने अभी तक अपने आप को पाया नहीं है।

यदि मृत्यु का घेरा न हो तो प्राणी सदा के लिये एक अपूर्ण जीवन की पद्धति में बध जाय। मृत्यु के उसके पीछे लगे रहने से उसमें पूर्ण जीवन का भाव जागृत होता है और वह इसके साधनों और सभावनाओं को खोजता है।

निर्बलता भी वही परख और वही प्रश्न उन शक्तियों, सामर्थ्यों, वीर्यों और बड़प्पनों के आगे रखती है जिन पर कि हम गर्व करते हैं। शक्ति जीवन का खेल यह जीवन की मात्रा को प्रकट करती है और इसके आत्म-प्रकाशन के मूल्य का पता लगाती है। निर्बलता मृत्यु का खेल है जो जीवन का उसकी प्रत्येक गति मे पीछा करती है और उसकी प्राप्त हुई शक्ति की सीमा के बांधने पर चल देती है।

पीड़ा और दु:ख प्रकृति की ओर से आत्मा को इस बात की याद दिलाने के लिये आते हैं कि वह सुख जिसे वह भोगता है जीवन के असली आनन्द का एक हल्का सा सकेत-मात्र है। जीवन की प्रत्येक पीड़ा और यातना मे उस आनन्दोल्लास की ज्वाला का रहस्य छिपा हुआ है जिसकी तुलना मे हमारे बड़े से बड़े सुख धुँधली सी टिमटिमाहट मात्र हैं। यही रहस्य है जिसके कि कारण आत्मा का आकर्षण उन कठिन अग्नि-परीक्षाओं, यन्त्रणाओं और जीवन के

दारुण अनुभवों के प्रति भी होता है जिनसे कि हमारा स्नायविक मन बचना चाहता है और घृणा करता है।

हमारी क्रियाशील सत्ता मे और इसके उपकरणों में जो एक बेचैनी सी है और शीघ्र ही थक जाने की प्रवृत्ति है वह प्रकृति की ओर से इस बात की सूचना है कि शान्ति ही हमारा वास्तविक आधार है और उत्तेजना आत्मा की एक बीमारी है। निरी शान्ति मे जो अफलोत्पादकता है और एकरसता है वह इस बात का संकेत है कि उस स्थिर आधार पर क्रियाओं के खेल को ही वह हम से चाहती है। परमात्मा सदैव खेलता है पर कभी परेशान नहीं होता।

शरीर की सीमायें एक सांचा हैं, इनमे आत्मा और मन को अपने आप को भरना होता है और फिर तोड कर अपेक्षाकृत अधिकाधिक विस्तृत सीमाओं में इन्हे फिर फिर ढालते जाना होता है जब तक कि इस सान्त और उनकी अपनी अनन्तता के बीच मे समन्वय का कोई सूत्र नही मिल जाता।

स्वतन्त्रता जीवन का, सीमित न किये जा सकने वाली अपनी एकता में विद्यमान जीवन का नियम है और सब प्रकृति का गुप्त स्वामी है, अधीनता जीवन मे उस प्रेम का नियम है जो अनेकता में विद्यमान अपने ही अन्य रूपों के खेल में सेवा करने के लिये अपने आपको स्वेच्छया अर्पित कर देता है।

जब स्वतन्त्रता बन्धनों में काम करती है और अधीनता प्रेम का नहीं किन्तु शक्ति का नियम बन जाती है तब यह होता है कि वस्तुओं का सत्य स्वभाव विकृत और विरूप हो जाता है और जीवन के साथ आत्मा के व्यवहारों में अनृत का आधिपत्य हो जाता है।

प्रकृति इस विकृतता व विरूपता से प्रारम्भ करती है और इससे हो सकने वाले सभी संयोगों के साथ क्रीड़ा करती रहती है जब तक कि इसे ठीक अवस्था में ले आने का समय नहीं हो जाता। इसके पश्चात् वह इन सब संयोगों के आन्तरिक तत्त्व को प्रेम और स्वतन्त्रता के एक नये और समृद्ध सामंजस्य में एकत्रित कर देती है।

स्वतन्त्रता सीमा-बन्धन-रहित एकता द्वारा आती है, क्योंकि यही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस एकता के तत्त्व को हम अपने अन्दर प्राप्त कर सकते हैं तथा इसकी लीला को भी अन्य सबके साथ एकता स्थापित करके अनुभव कर

सकते हैं। यह द्विविध अनुभूति प्राप्त करना ही प्रकृति में आत्मा का समग्र प्रयोजन है।

उस असीम एकता को अपने अन्दर अनुभव करके फिर अपने आपको संसार के लिये समर्पण कर देना यही नितान्त स्वतन्त्रता और अखंड साम्राज्य है।

असीम होकर, हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि जीवन तब हमारी अमर सत्ता की एक लीला बन जाता है। हम दुर्बलताओं के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि हम वह समग्र समुद्र बन जाते हैं जो अपनी लहरों की असंख्य टक्करों में आनन्द लेता है। हम दुःख और दर्द के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि हम सीख जाते हैं कि हम अपनी सत्ता को जिससे भी हमारा वास्ता पड़ता है उस सब के साथ किस तरह समस्वर रक्खें और सब वस्तुओं में सत्ता के आनंद की क्रिया और प्रतिक्रिया को देखें। हम सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि शरीर अनन्त मन का एक खिलौना बन जाता है और अमर आत्मा के संकल्प के अनुसार आचरण करना सीख जाता है। हम स्नायविक मन के और हृदय के ज्वर से मुक्त हो जाते हैं फिर भी हम जडता में बंधे नहीं होते।

अमरता, एकता और स्वतन्त्रता हमारे अन्दर हैं और वहां वे इस प्रतीक्षा में हैं कि हम उन्हें खोज निकालें। लेकिन प्रेम के आनन्द के लिये परमेश्वर हमारे अन्दर फिर भी अनेक हो कर रहेगा।

कर्मों का आनन्द

(लेखक—श्रीअरविन्द)

तेरे कर्मों में सदा ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं—स्वामी, कार्य-कर्ता और यन्त्र। इन्हें अपने अन्दर ठीक प्रकार से लक्षित कर लेना और ठीक प्रकार से अपने में धारण करना ही कर्मों का तथा कर्मों के आनन्द का रहस्य है।

(१) यन्त्र-भाव

पहले तू परमेश्वर का यन्त्र होना और उसे स्वामी स्वीकार करना सीख। यन्त्र वह बाह्य वस्तु है जिसे तू 'अपना आप' समझता है। यह है एक मनोमय ढांचा, एक प्राणमय सञ्चालक-शक्ति, एक स्थूल आकार का यन्त्र, एक वस्तु जो नानाविध कमानियों, चक्रदन्तों, शिकञ्जों तथा अन्य कल पुर्जों से भरपूर है। क्या इस बाह्य स्वरूप को तू कार्य कर्ता या स्वामी समझता है? यह कदापि कार्य-कर्ता या स्वामी नहीं हो सकता। तू तो पहले इस अपने आप को यन्त्र स्वीकार कर—नम्रता के साथ, फिर भी अभिमान के साथ, भक्तिरत भाव से, शरणागत भाव से और आनन्द-पूर्ण होकर अपने को उसका एक यन्त्र स्वीकार कर।

इससे बढ़ कर अभिमान और गौरव की बात और दूसरी क्या हो सकती है कि कोई अपने स्वामी का एक परिपूर्ण यन्त्र हो।

यन्त्र बन कर तू मन से पहले सर्वथा, बिल्कुल पूरी तरह से आज्ञा पालन करना सीख। उसने कहा वार करना है यह तलवार तो कभी निश्चय नहीं करती, तीर यह नहीं कहता कि उसे किस लक्ष्य पर छोड़ा जाय, यन्त्र की कमानियां यह आग्रह नहीं करतीं कि उनके कार्य द्वारा अमुक वस्तु निर्माण की जाय। ये बातें तो प्रकृति-देवी (जो कार्य-कर्ता है) के अभिप्राय और उसकी कार्य प्रणाली के द्वारा निश्चित होती हैं। सचेतन यन्त्र-रूप हुआ हुआ मनुष्य अपनी प्रकृति के शुद्ध और सच्चे स्वधर्म को जितना जितना जान लेगा और उसका ही पालन करना सीख लेगा उतनी ही जल्दी उससे निर्मित होने वाला कार्य पूर्ण और निर्दोष होकर तैयार होगा। प्राणमय प्रेरक बल यदि अपनी पसन्दगी से काम करेगा, भौतिक और मानसिक उपकरण यदि विद्रोह करेंगे तो इससे केवल काम बिगड़ेगा ही।

तू अपने आपको परमेश्वर के निश्वसित में बहने दे और अन्धेरी में उड़ने वाले

सूखे पत्ते की तरह हो जा। अपने आपको उसके हाथों में रख दे और योद्धा के हाथ की खड़कती हुई तलवार और धनुष से निकल निशाने की तरफ उडते हुए तीर की तरह हो जा। तेरा मन यन्त्र की कमानी की तरह और तेरी प्राणशक्ति ऐंजिन के डट्टे की तरह हरकत करें। तेरा कार्य ऐसा चले जैसे कूटता पीसता हुआ और जो अभीष्ट है वह आकार बनाता हुआ फौलादी यन्त्र ऊपर से पड़ता है। और तेरी वाणी ? मानो एरण के ऊपर बजते हथौडे की धडाधड़, मानो कारखाने में काम करते ऐंजिन का आर्तक्रन्दन, मानो परमेश्वर की शक्ति को दिग्दिगन्तों में घोषित करते हुए नरसिंहे का निनाद। जिस किसी प्रकार का भी काय कर, पर एक यन्त्र के तौर पर कर और वह कार्य कर जो तेरे प्रकृति-धर्म के अनुसार स्वाभाविक हो और तेरे लिये नियत हो।

समरांगण की लीला मे तलवार आनन्द पाती है, तीर अपनी उड़ान और सनसनाहट मे मजा लेता है, पृथ्वी इस आकाश में अपना अन्धाधुन्ध चक्कर लगाते जाने में आनन्द विभोर है, सूर्यनारायण अपने जगमगाते वैभव में तथा अपनी सनातन गति में सदा सम्राट् सदृश आनन्द का भोग कर रहा है। तो फिर, ओ परमेश्वर के आत्म सचेतन यन्त्र। तू भी अपने नियत कर्म करते जाने में मजा लूट।

तलवार अपने बनाए जाने की माग नहीं करती, बन जाने पर वह उपयोगकर्ता को अपने किसी तरह उपयुक्त किये जाने म रुकावट नहीं पैदा करती, और जब वह टूट जाती है तो कोई विलाप नहीं करती। बनाए जाने मे एक प्रकार का आनन्द है और उपयुक्त किये जाने मे भी एक अन्य प्रकार का आनन्द है तथा म्यान मे बन्द कर रख दिये जाने मे और अन्त मे तोड़कर फेंक दिये जाने मे भी एक आनन्द है। उस सर्वत्र सम आनन्द को तू ढूँढ निकाल।

क्योंकि तूने यन्त्र को कायकर्ता और स्वामी समझने की भूल की है और क्योंकि तू अपनी इच्छा के अज्ञान के कारण अपनी निजी अवस्था की, अपने निजी लाभ की और अपनी निजी उपयोगिता की पसन्दगी करना चाहता है, इसीलिये तुझे दुःख और यातनाएं झेलनी होती हैं, तुझे बार बार लाल दहकती हुई भट्टी के नरक मे तपना पड़ता है और बार बार ही नया जन्म लेना, नया आकार और स्वभाव धारण करना पड़ता है और यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि तू अपना मनुष्योचित पाठ पूरा न कर लेगा।

और ये सब अपूर्णताए हैं, क्योंकि ये तेरी अधूरी अपक्व प्रकृति मे विद्यमान हैं। जब तू यन्त्र हो जाएगा तो देखेगा कि प्रकृतिदेवी कार्यकर्ता है, कार्य करने वाली है। और तू जानता है कि वह क्या कार्य कर रही है ? वह अपने इस अपक्व कच्चे मन, प्राण और स्थूल द्रव्य (अन्न) मे से एक पूर्णतया सचेतन सत्ता को विकसित कर रही है।

(२) कार्यकर्तृ-भाव

इसके बाद फिर दूसरा कदम उठा, अपने आपको कार्यकर्ता रूप से जान। तेरी प्रकृति कार्य करने वाली है यह समझ और तेरी निजी प्रकृति तथा विश्व-प्रकृति एक ही है, तेरा ही स्वरूप है यह समझ।

तेरा यह प्रकृतिस्थ स्वरूप न तो विशेषतया तेरा स्वकीय है और न तेरी निज प्रकृति से परिमित है। तेरी प्रकृति ने ही यह सूर्य और सब सौर मण्डल, यह पृथ्वी और इसके सब प्राणी, तू तेरा और जो कुछ भी तू है और जो कुछ तू देखता है इस सबको रचा है। यह तेरा मित्र है और यही तेरा शत्रु है, तेरी माता है और तेरा भक्षण करने वाली है, तुझ से प्रेम करने वाली और तुझे पीड़ा पहुँचाने वाली है, तेरी आत्मा की बहिन है और बिलकुल अपरिचित पर जन है, तेरा आनन्द है और यही तेरा शोक है, तेरा पाप है और यही तेरा पुण्य है, यह तेरा बल है और यही तेरी निर्बलता है, यह तेरा ज्ञान है और यही तेरा अज्ञान भी है। और फिर वह इनमें से कुछ भी नहीं है किन्तु कुछ ऐसी चीज है जिसे वर्णन करने का प्रयत्नमात्र या अधूरी छायामात्र उपर्युक्त बातें हैं। क्योंकि वह इन सबसे परे अपने दिव्य स्वरूप में मूलभूत आत्मज्ञान रूप, अनन्त शक्ति रूप और असंख्य गुण रूप है।

परन्तु तुझ में प्रकृति की एक विशेष क्रिया, तेरी स्वकीय प्रकृति, तेरी एक वैयक्तिक शक्ति काम कर रही है। तू उसका अनुसरण कर और जैसे एक नदी बढ़ती जाती हुई समुद्र को जा पहुँचती है वैसे तू इसका अनुसरण करता हुआ इसके असीम आदिस्रोत और मूल स्थान को पहुँच जा।

इसलिये तू अपने शरीर को स्थूल द्रव्य (अन्न-तत्त्व) की एक गाठ समझ, अपने मन को विश्व व्यापी मन में उठा एक बबूला तथा अपने जीवन को शाश्वत प्राण-सागर में पड़ी एक भँवर समझ। अपनी शक्ति को तू प्रत्येक अन्य प्राणी की शक्ति समझ, अपने ज्ञान को उस महाप्रकाश से आई हुई एक चमक समझ जो कि किसी मनुष्य का अपना नहीं है, अपने कर्मों को अपने लिये किये गए समझ। इस तरह तू अपने को पृथक् व्यक्ति समझने की गलती से छुटकारा पा जा।

जब यह हो जायगा तो तू अपनी व्यक्तिगत सत्ता के सत्य में, अपने वास्तविक व्यक्ति-स्वरूप में अपना मुक्त आनन्द प्राप्त करेगा, तब तुझे अपनी शक्ति में, अपने यश में, अपने सौन्दर्य में और अपने ज्ञान में आनन्द मिलेगा और इन सबके निषेध में भी तुझे आनन्द मिलेगा। क्योंकि यह सब कुछ उस पुरुष का नाटकीय वेष धारण ही तो है, उस आत्म-शिल्पी की आत्ममूर्ति ही तो है।

तुझे अपने आपको परिमित क्यों रखना चाहिये ? तू घायल करने वाली तलवार मे भी अपने आपको अनुभव कर, और आलिंगन करने वाले हाथ में भी, सूर्य की जाज्वल्यमान दीप्ति मे और पृथ्वी के सतत नृत्य म, गरुड की लम्बी उडान मे और कोयल के कोमल कूजित मे, और उस सब मे जो कुछ हो चुका है, उस सब मे जो भी कुछ विद्यमान है और उस सब म जो कुछ आगे होना चाह रहा है तू अपने आपको अनुभव कर। क्योंकि तू अनन्त है और तेरे लिये यह सभी आनन्द सम्भव है।

कार्यकर्तृ प्रकृति देवी जहाँ अपने कर्मों का आनन्द पाती है वहा वह अपने **प्रियतम** जिसके लिये वह काम करती है, का भी आनन्द पाती है। वह अपने आपको उसकी चेतना और उसकी शक्ति करके जानती है, उसका ज्ञान और उसका ज्ञान निरोध, उसकी एकता और उसका आत्म विभेद, उसकी अनन्तता और उसकी सत्ता का सान्त रूप करके जानती है। तू भी अपने आपको यह सब कुछ कर के जान और तू भी अपने **प्रियतम** का आनन्द पा।

ऐसे लोग है जो अपने को एक कारखाना या एक यत्र या एक तैयार की हुई वस्तु कर के जानते हैं। पर वे **कार्य-कर्ता** को ही **स्वामी** समझ लेते है, यह भी भारी भूल है। जो लोग इस भूल मे पड़ते है उनका प्रकृति को ऊची, पवित्र और पूर्ण कार्यप्रणालियों तक पहुँचना असम्भव सा होता है।

यन्त्र एक पुरुष विध आकृति मे आयी हुई सीमित वस्तु है, कार्य कर्ता एक पुरुष-जैसी प्रकृति से युक्त व्यापक वस्तु है। पर इन दोनों म से कोई भी **स्वामी** नही है क्योंकि इन दोनों मे से कोई भी वास्तविक **पुरुष** नहीं है।

(३) स्वामि-भाव

अन्त मे तू **स्वामी** को अपना आप कर के जान। किन्तु अपने उस दिव्य आत्मा को तू कोई आकार प्रदान मत कर, इसे किन्हीं गुणों द्वारा लक्षित करने का यत्न मत कर। अपनी सत्ता मे **उसके** साथ एक हो जा, अपनी चेतना म **उसके** साथ संपर्क युक्त हो, अपनी शक्ति मे **उसका** आज्ञापालक रह, अपने आनन्द म **उसका** विषयी भूत बन और उस से आश्लिष्ट हो, अपने प्राण, शरीर और मन मे **उसे** सार्थक कर। तब तेरे अन्दर की उद्घाटित हुई एक चक्षु के सामने वह वास्तविक और एकमात्र **पुरुष** प्रकट हो जायगा जो तेरा अपना आप है तथा इसका निषेध-रूप है, जो और सब है तथा और सबसे अतिरिक्त है, तेरे कर्मों का **प्रेरयिता** और **भोक्ता** है, यन्त्र का और कार्य-कर्ता का **स्वामी** है। इस विश्व नृत्य मे धूमधाम के साथ रगरलियां करने वाला **विलासी** तथा

अपने नाचते हुए पैरों से सब जगत को रौंद डालने वाला काल है, पर साथ ही तेरे आत्मा की शान्त और भीतरी कोठरी में चुप, मौन होकर अकेला तेरे साथ बैठने वाला भी वही है।

स्वामी का आनन्द प्राप्त हो गया तो फिर तेरे लिये कोई और वस्तु विजय करने की नहीं रही। क्योंकि वह तुझे अपने आपको ही दे देगा तथा सब वस्तुएँ देगा और सब प्राणी जो कुछ भी प्राप्त करते हैं, रखते हैं, करते हैं, भोगते हैं उस सबके तेरे निजी उचित हिस्से को देगा, और वह तुझे वह वस्तु भी देगा जिसके कि हिस्से नहीं किये जा सकते।

तू अपनी सत्ता में अपने आप को तथा अन्य सब को समा लेगा और तू वह हो जायगा जो न तो तू है और न अन्य सब। कर्मों की यह है पूर्णता प्राप्ति और पराकाष्ठा।

विवर्तन की युग-संधियां

(ले०—श्री नलिनीकान्तजी)

आजकल प्राय सब लोग इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि प्रकृति के अन्दर विवर्तन अर्थात् क्रम विकास हो रहा है। यह विवर्तन या क्रम विकास है क्या चीज? थोडे में और मोटे तौर पर इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आजकल सृष्टि का जो रूप हम देख रहे हैं यह सदा से ही ऐसा नहीं है, अगर हम केवल पृथ्वी को ही देखें तो हम जितने ही अतीत की ओर जायंगे उतना ही हम देखेंगे कि पृथ्वी का रूप, उसके निवासियों का आकार प्रकार, क्रमश बदलता जा रहा है, आज अवश्य ही हम पृथ्वी को मनुष्यों से भरा हुआ देख रहे हैं—अर्थात् कोटि कोटि मनुष्य पृथ्वी पर आज वर्तमान हैं—परन्तु एक दिन ऐसा भी था—सभवत' कुछ लाख वर्ष पहले—जब मनुष्य-नामधारी किसी जीव का अस्तित्व ही नहीं था—थे अधिक से अधिक बनमानुस और नाना प्रकार के जगली जीव-जतु। और भी अतीत की ओर जाय तो देखेंगे कि जीव-जतु के अन्दर भी हाथी, घोडा, सिंह, बाघ आदि कोई नहीं थे, आकाश में पाख वाले जीव तो कुछ कुछ दिखाई देते थे, किन्तु माटी के ऊपर बडे बडे विशाल-काय सरीसृप (पेट या छोटे-छोटे पैरों के बल चलने वाले जीव) मात्र थे। उससे भी पूर्व स्थल भाग ही कम दिखाई देता था, स्थल के जीव बहुत ही कम थे—उस समय दिखाई देते थे सभी जलज जीव, मत्स्य, कूर्म या उनके भी पूर्वपुरुष। और भी अधिक अतीत की ओर जाने पर जीवों का कोई चिह्न भी नहीं मिलता, उस समय पृथ्वी केवल पेड़-पौदों, लता-गुल्मों से भरी दिखाई देती थी। उससे भी पूर्व पेड़-पौदे अर्थात् हरी सजीव चीजें बिलकुल ही नहीं थीं, था केवल जड़ पदार्थ, स्थूल भौतिक वस्तुओं का समारोह, क्रिया प्रतिक्रिया।

इस काल प्रवाह मे एक स्तर के बाद दूसरे स्तर का, एक श्रेणी के बाद दूसरी श्रेणी का जो एक क्रमिक आविर्भाव हुआ है उसमे तीन सीमाएँ या सन्धि-स्थल बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं—एक मनुष्य और पशु के बीच, दूसरा पशु या जीव और उद्‌भिद् के बीच और तीसरा उद्‌भिद् और जड पदार्थ के बीच। विवर्तनवाद सबसे पहिले यह कहता है कि जड़ के बाद उद्‌भिद् उत्पन्न हुआ है, उद्‌भिद् के बाद जीव का जन्म हुआ है नीचे के स्तर के जीवों या प्राणियों के बाद मनुष्य आविर्भूत हुआ है। इस सिद्धान्त के विषय में शायद अब कोई सदेह नहीं उठ सकता। परन्तु इसके अलावा विवर्तनवाद यह भी कहता है कि केवल जड़ के 'बाद' ही नहीं बल्कि जड से' ही प्राण या उद्‌भिद् उत्पन्न

हुआ है, उद्भिद् के बाद नहीं, उद्भिज्ज सत्ता से ही जीव प्रकट हुआ है और इस जीवों या जानवरों के केवल बाद नहीं बल्कि उन्हीं के एक पूर्वपुरुष के पेट से सर्व प्रथम मनुष्य भूमिष्ठ हुआ है। इस दूसरे सिद्धान्त के विषय में सब लोग सब समय पूरी पूरी सम्मति नहीं दे सकते और इसके लिये कारण भी है। विवर्तन धारा को साधारण तौर पर पूरा पूरा ग्रहण करने पर यह बात हमारे सामने उपस्थित होती है कि जड़ परिवर्तित होते होते एक समय प्राण मे परिणत हुआ—आक्सिजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन कार्बन इत्यादि जड़ उपकरणों और उपादानों के अन्दर से उस समय शैवालजातीय आदि उद्भिद् उत्पन्न हुआ, उद्भिद् (अवश्य ही आजकल का पूर्ण परिणत वट, अश्वत्थ आदि नहीं, उद्भिद् का कोई आदि पुरुष, उसका कई युग व्यापी भ्रूणरूप) परिवर्तित होते-होते प्राणी में परिणत हुआ, इसी तरह फिर प्राणी या पशु भी परिवर्तित होते-होते मनुष्य मे परिणत हुआ। अतएव अब प्रश्न यह है कि परिवर्तन की कोई ऐसी निरवच्छिन्न धारावाहिता वास्तव में दिखाई देती है या नहीं। मोटे तौर पर, संभव है दिखाई देती हो, परन्तु खूब बारीकी से देखने पर नहीं दिखाई देती। वैज्ञानिक लोग ही यह कहते हैं कि परिवर्तन की धारा मे, स्तर-स्तर पर, सचमुच मे व्यवधान रह गया है। आरंभ में लोग कहा करते थे कि जिन सन्धियों या सयोगों का निदर्शन नहीं मिलता वे काल के प्रकोप से नष्ट हो गये हैं अथवा हो सकता है कि काफी खोज करने के बाद भविष्य में वे मिल भी जाय, परन्तु यह अंतिम आशा तो आज तक पूरी न हो सकी और पहले मत के विषय में भी यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ठीक ठीक सन्धिस्थल ही आखिर किस नियम से नष्ट हो गये? अवश्य ही बहुत बहुत अन्वेषण विश्लेषण-परीक्षण के बाद 'विलुप्त शृंखला' (missing link) के आस पास तक कुछ आविष्कार हुआ है परन्तु ठीक ठीक चीज अभी तक नहीं मिल सकी है।

प्रश्न यह है कि क्या जड़ और उद्भिद् के बीच कोई ऐसी चीज है जो न पूर्णरूप से जड ही हो न उद्भिद् ही, जो कुछ तो जड़ हो और कुछ उद्भिद्? ऐसी कोई चीज दिखाई तो नहीं देती। जड़ में जब प्राण आविर्भूत हुआ तब दोनों के बीच एक व्यवधान उपस्थित हो गया। दोनों के बीच कोई क्रमिक सोपान नहीं दिखाई देता। उसी तरह जब उद्भिद् भी क्रमश प्राणी के स्तर में उठा तब क्या कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न हुई जिसमे उद्भिद् और प्राणी के धर्म एक साथ दिखाई देते हों, यहा भी वही एक उत्तर हमें मिलता है। प्राणी और मनुष्य के मध्यवर्ती जीव के विषय मे भी हमारी समझ में दूसरा कोई उत्तर नहीं।

मनुष्य का जो सबसे पुराना नमूना अब तक मिला है और सबसे अन्त का जो बनमानुस मिला है उन दोनों के बीच कुछ सादृश्य जरूर है—शारीरिक गठन की दृष्टि

से, परन्तु तो भी मनुष्य मनुष्य है और वनमानुस वनमानुस, भेद तो रह ही गया है। जिस वानरसे नर उत्पन्न हुआ है उसमें बुद्धि शक्ति का अभाव तो है ही नहीं बल्कि बुद्धि चातुरी में वह मनुष्य को दो एक क्षेत्रों मे हरा भी सकता है, फिर भी उसमे एक चीज नहीं है जिसके कारण वह पशु है और वही चीज होने के कारण मनुष्य मनुष्य है (उस चीज का यहा पर उल्लेख किया जा सकता है, वह है आत्मसवित्—स्वय अपने आपको देखना)। इसी कारण वैज्ञानिकों ने बाध्य होकर मनुष्य को मूलत एक पृथक् श्रेणी के अन्तर्गत रखा है (homosapiens, सज्ञान मनुष्य)—उसके समीप की जो श्रेणी है उसका नमूना है 'नेयाडाम्टल' मनुष्य, उसकी भी गिनती वनमानुस मे ही है।

यहा पर एक और कौतूहलजनक बात है। वैज्ञानिकों को यह पता नहीं लग सका है कि किस विशेष वनमानुस से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। उनका कहना है कि एक ही वश की धारा मे, पिता पुत्रानुक्रम की तरह, एक सीधी रेखा मे, विवर्तन नहीं चलता। एक नये प्राणी का जन्म होना मानो एक निर्वाचन प्रक्रिया है, मूल एक श्रेणी के बीज से अनेक रूपभेद दिखायी देते हैं, फिर उनके भीतर से कोई एक नये का जन्मदाता होता है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो रूपभेद सबसे अधिक दूर होता है, जिसके साथ सादृश्य सबसे कम होता है ठीक उसीसे नये का जन्म होता है। बहुत से वैज्ञानिकों का यह कहना है कि मनुष्य के विषय में ठीक यही बात घटी है। अतएव यहा पशु और मनुष्य के सधि स्थल मे अन्तर बहुत अधिक पड गया है, प्रकृति वास्तव में यहा पर छलाग मारकर आगे निकल गयी है।

इसके बाद अब इससे पूर्व के पशु या जीव और उद्भिद् के सन्धिस्थल को देखा जाय। पशु-स्तर का सबसे नीचे का प्राणी, जीव का सर्वप्रथम प्रकाश है जीवाणु या रोग बीजाणु की जाति की एक चीज—उद्भिज्जाणु के साथ उसका पार्थक्य है ही। एक आदि-जीव या उद्भिद् के अत्यन्त समीप की चीज है 'स्पज'। बहुत दिनों तक 'स्पज' को लोग उद्भिद् ही समझा करते थे। परन्तु और भी ध्यानपूर्वक परीक्षा करने के बाद मालूम हुआ है कि 'स्पज' प्राणी ही है, उद्भिद् नहीं, उसका अडा होता है, बच्चा भी होता है (larva), और यह सब प्राणी की ही विशेषता है।* हमारे देश का साप का छाता (जिसे कालिदास ने 'शिलीन्ध्र' कहा है) 'स्पज' की तरह ही मालूम होता है, शायद वह उसी जाति का हो, परन्तु वह उद्भिद् है। उद्भिद् के अन्त और प्राणी के आरम्भ—इन दो के बीच बहुत कुछ सादृश्य, ऐक्य होने पर भी एक व्यवधान रह ही गया है।

---

* इस विषय में यहा पर विशद विवरण देना सभव नहीं और इस विषय में मत भी अनेक हैं। सब हमारा प्रमाण है जे० ए० थामसन का 'बायोलाजी फार एवरी मैन' (Biology for every man)।

अब हम यदि और भी नीचे जाकर जड़ और प्राण के संयोग-स्थल को देखें तो यहां हमें वह वैषम्य और अनैक्य और भी अधिक स्पष्ट दिखायी देगा। प्राण का प्रथम रूप है जैवसार (protoplasm), और जड़, स्थूलभूत उस ओर बदलते-बदलते अन्त में जिस रूप को प्राप्त हुआ है वह है लेह (colloid) और श्वेतसार (albumenoid)। परन्तु लेह या श्वेतसार कब और कैसे जैवसार में रूपांतरित हो गया, इसका इतिहास बिलकुल ही नहीं पाया जाता।

इसीलिये आजकल का सिद्धान्त यह है कि साधारणतः प्रकृति एक एक पग बढ़ाती हुई ही चलती सी मालूम होती है, परन्तु बीच बीच में छलांगें भी मारती है। छोटी मोटी छलांगें तो प्रायः ही लिया करती है और इसी के फल से एक श्रेणी या जाति के अन्दर नये प्रकार की विशेष विशेष विचित्रताएं उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार का भी मतवाद प्रचलित हुआ है कि प्रकृति की गति एक सीधी रेखा में बिलकुल ही नहीं चलती, पग पग पर छलांग मारना या कूद-कूद कर चलना ही प्रकृति का स्वाभाविक स्वधर्म है। तब इन सब में तीन (या चार) छलांगें खूब बड़ी-बड़ी हुई हैं ऐसा मानना होगा जिनके फलस्वरूप केवल जाति का परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि एक एक जगत् का रूपान्तर हुआ है, विवर्तन धारा एक स्तर से दूसरे स्तर में ऊपर उठ गयी है। इस प्रकार जड़ के मूल गठन और गति के विषय में आजकल जो कण-समाहार सिद्धान्त (atom theory) की प्रतिष्ठा हुई है उसी को प्राणशक्ति के मूल गठन और गति के विषय में भी लागू किया जाता है। खैर, जो हो, विवर्तन का आकस्मिक परिवर्तन और विपर्यय सर्वप्रथम उस समय दिखायी दिया जब जड़ प्राणवस्तु में परिणत हुआ, उसके बाद दूसरा विपर्यय उस समय घटित हुआ जब प्राणवस्तु मानसवस्तु में परिवर्तित हो गयी और तीसरा विपर्यय उस समय घटा जब मन बुद्धि में बदल गया—इस तरह पहले था धातु पत्थर, उसके बाद हुआ पेड़-पौधा, उसके बाद जीव जन्तु और सब से अन्त में उत्पन्न हुआ मनुष्य।

प्रकृति के अन्दर जो यह परिवर्तन हुआ है इसे शायद आज कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तब यह समस्या रह ही जाती है कि आखिर किस उपाय से, किस पद्धति से यह परिवर्तन साधित हुआ है। विवर्तन के, कम से कम जैव विवर्तन के कारण या प्रेरणा के विषय में एक सिद्धान्त विशेषरूप से प्रस्थापित किया गया है और उसे नाम दिया गया है 'योग्यतम का उद्वर्तन'। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के अन्दर एक लड़ाई चल रही है—प्रत्येक सत्ता को प्रत्येक सत्ता के साथ, विशेष कर अपनी स्वजातीय सत्ता के साथ लड़ाई करनी पड़ती है। अपने से सम्बन्ध रखने वाले—जैसे सर्दी-गर्मी, जलवायु, आहार विहार आदि—प्रयोजनों और मांगों को पूरी करने के उपयुक्त देहगत और

अवस्थागत व्यवस्था जिस पात्र मे जितनी सुन्दर होती है और इन सब विषयों मे अपने लिये यथायोग्य और यथेष्ट अधिकार प्राप्त करने के लिये दूसरों के साथ अवश्यभावी प्रतियोगिता मे जो जितना उत्तम अस्त्र शस्त्र (नख, दात, डक, छलचातुरी इत्यादि) प्रयोग कर सकता है, वह और उसके वशज जो इस अनुकूलता की रक्षा कर पाते हैं या उसे बढा पाते हैं, वे ही इस जीवन सग्राम में विजयी होकर बचे रहते हैं। परन्तु इस बात में सन्देह है कि विवर्तन पद्धति का यह सिद्धान्त विवर्तन के सारे रहस्य को, उसके अन्दर निहित सत्य को व्यक्त करता है या नहीं। सर्वप्रथम, जीवन मे सग्राम तो है पर क्या इसी कारण सग्राम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है? सम्मिलन, साहचर्य भी तो समान मात्रा मे ही दिखाई देता है। निम्नतर जीव-सृष्टि के स्तर मे भी आजकल वैज्ञानिकों ने इस सत्य के अद्भुत-अद्भुत उदाहरण दिखलाये हैं। इसके अतिरिक्त क्या केवल 'योग्यतम' का ही 'उद्वर्तन' होता है, क्या सबसे बलिष्ठ, योग्य प्राणी ही बचा रहता है? साधारण दृष्टि से क्या हम कितने ही अयोग्यों को बचा हुआ नहीं देखते? वैज्ञानिक विवतनवाद की 'योग्यता' का अर्थ तो शारीरिक योग्यता, जीवन धारण करने की योग्यता ही न है? कहा जाता है कि विवर्तन का अन्तिम स्तर है मनुष्य। तो क्या मनुष्य अपने आपको 'योग्यतम' सिद्ध कर सका है? क्या वह केवल इसी कारण 'योग्यतम' हो सका है कि वह लडाई करने में सबसे अधिक बली और चतुर है? क्या वह सभी नख दत-डक वाले जीवों को छल बल कौशल से हराकर, भगाकर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर सका है?

इसी कारण अनेक विचारकों का मत यह है कि मनुष्य की तथाकथित योग्यता उसकी आत्मसतुष्टि के लिये एक धारणा या कल्पना मात्र है। बहुत से इतर प्राणियों में पारिपार्श्विक अवस्था के साथ सामजस्य बनाये रखने की दृष्टि से, अन्य प्रतियोगियों के साथ सग्राम करने की दृष्टि से जितनी योग्यता है उतनी मनुष्य में है या नहीं इसमें सन्देह है। बहुतेरे कीडे, बहुत से उद्भिद्—पृथ्वी पर सजीव सत्ता के आविर्भूत होने के साथ साथ सुदूर अतीत मे जो उत्पन्न हुए थे वे (अर्थात् उनके वशधर)—आजतक प्राय अपरिणत, अपरिवर्तित आदि रूप मे ही विद्यमान है, तो क्या मनुष्य के साथ साथ वे भी 'योग्यतम' कहे जायंगे? वास्तव मे बात ठीक ऐसी नहीं है। विवतन का स्वरूप देखकर अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सृष्टि के अन्दर एक क्रमिक ऊर्ध्वगामी गति चल रही है—वह योग्यता के हिसाब से नहीं चल रही है, बल्कि वह नवीनतर, उच्चतर, महत्तर तत्त्वों का आश्रय करके पार्थिव क्षेत्र में नवीनतर, उच्चतर, महत्तर सगठन करती हुई अग्रसर हो रही है। यह ठीक ऐसा ही है मानो एक सोपानावलि या सीढ़ी धीरे धीरे ऊपर की ओर चढी जा रही हो, परन्तु यह नीचे की सीढी पर खड़ी

मनोमय तत्त्व से और भी अधिक आत्म विस्मृत रजो तामस हो गई और तब यह प्राणतत्त्व में परिणत हुई और उसने प्राणमय जगत् की सृष्टि की, उसके बाद चेतना ने जहा अपने आपको एकदम खो दिया, वह पूर्ण तामस बन गई वहा जड़ का—जडतत्त्व का और जड़ जगत का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार चेतना के 'निवर्तन' की, क्रम सकोचन की धारा नीचे उतरी है, इसके बाद विवर्तन की, क्रम विकास की धारा आरम्भ हुई है। चूकि चेतना इस प्रकार ऊपर से नीचे उतर आई है इसी कारण उसे फिर नीचे से ऊपर उठना पड़ रहा है।

ऊपर से जो चेतना नीचे उतर आयी है उसकी धारा प्रच्छन्न है, वह मानो पर्दे की ओर है, एक अन्तर्लोक मे है। जड जगत जब प्रकट हुआ और जब वह विवर्तित होने लगा तब उसका लक्ष्य और प्रयास यह हुआ कि वह पीछे जो तत्त्व प्रच्छन्न है उन्हें क्रमश: बाहर जागृत करे, प्रकट करे—पहले जड़ के अन्दर, जड को प्रतिष्ठित करे, फिर उसके बाद उसी जड को मूल बुनियाद बनाकर एक के बाद एक तत्त्व को बाहर प्रकट करे, उसी जड़ के ऊपर प्रतिष्ठित और सज्जित करे। दूसरे शब्दों मे निवर्तन के द्वारा पृथक् पृथक् तत्त्वों का अवरोहण हुआ था, और विवर्तन की पद्धति है उन्हीं उन्हीं तत्त्वों में, विपरीत दिशा से, पुन आरोहण करना, अथवा उससे भी अधिक अच्छा यह कहना होगा कि जिन-जिन तत्त्वों मे आरोहण किया गया हो उन सबमे एक साथ अधिष्ठित रहना और ऊर्ध्वतम के धर्म में सभी निम्नतर तत्त्वों को नियत्रित और रूपान्तरित करना।

निवर्तन की धारा मे जिन सब स्तरों या तत्त्वों की सृष्टि हुई थी उन सब की क्रिया को विवर्तन की धारा में अब हम समझ सकते हैं। नीचे की चेतना के दबाव से जड़ ऊर्ध्वमुखी हुआ प्राण की ओर (अन्य किसी ओर नहीं), क्योंकि प्राण-तत्त्व पहले से ही जड़ से ऊपर विद्यमान है और जड़ के अन्दर उतर कर प्रकट होने की चेष्टा कर रहा है। उसी तरह जब प्राण बाहर आकर उतर आया, जड को उसने अधिकृत किया तब उसकी गति हुई मन की ओर जाने की, क्योंकि प्राण के ऊपर मन पहले से ही विद्यमान है और मन भी नीचे उतरना और प्रकट होना चाहता है। अतएव विवर्तनगत रूपान्तर की प्रणाली यह हुई कि एक ओर नीचे के दबाव से, ऊर्ध्वगति के फल-स्वरूप चीज बदलती जा रही है और दूसरी ओर उस उस समय एक पूर्ण रूपान्तर, एक विपर्यय घटित होता जा रहा है जिस जिस समय ऊपर से एक तत्त्व उतरकर उस ऊर्ध्वमुख वस्तु को आश्रय बनाता है। यहा पर यह ध्यान रखने की बात है कि नीचे के दबाव से वस्तु के अन्दर जो परिवर्तन आता है वह धीरे धीरे होता है, धारावाहिक रूप से होता है, किन्तु

जिस क्षण ऊपर से कुछ उतर आता है उस क्षण धारावाहिकता भग हो जाती है, उस समय जो कुछ होता है उसी को वैज्ञानिक लोग कहते हैं 'प्रकृति की छलांग'।

विवर्तन की युग सधियों मे जो एक व्यवधान दिखायी देता है वह अनिवार्य और स्वाभाविक है। क्योंकि विवतन के क्रम-परिवर्तन के अन्दर एक अवतरण भी हुआ करता है, इसी कारण तब परिवर्त्तन हठात् होता है। प्रकृति के अर्जित रूप धर्म मे जो नाना प्रकार से हेर फेर होता रहता है वह होता है अन्तर की प्रेरणा से, किन्तु प्रकृति नये प्रकार का रूप, नयी श्रेणी का धर्म तभी प्राप्त करती है जब उसके अन्दर अवतीर्ण होता है ऊर्ध्वतर—नवीन रूप और नवीन धर्म का एक लोक।

अवश्य ही आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा यह दिखाई देता है कि नीचे की ओर से जिस प्रकार अविरल एक चेष्टा चल रही है ऊर्ध्वमुखी परिवर्त्तन के लिये, उसी प्रकार ऊपर की ओर से भी निरतर उतर रहा है एक दबाव—एक प्रभाव। ऋग्वेदीय ऋषि ने इसी गुह्य सत्य की ओर लक्ष्य करके सभवत यह कहा है कि निम्न पकडे हुए है ऊर्ध्व को और ऊर्ध्व पकडे हुए है निम्न को—'अव परेण पर एनावरेण' (१ १६४-१७)। इस तरह जब ऊपर से एक वस्तु तत्त्व स्वरूप में उतर आता है, अवतीर्ण होता है तभी विवर्तन मे एक प्रकार का युगान्तर और क्रमान्तर उपस्थित होता है।

अध्यात्म-दृष्टि वाले लोगों का कहना है कि वर्तमान समय मे जगत, पृथ्वी फिर एक सधिक्षण में उपस्थित हुई है। मनोमय पुरुष ने मनुष्य मे पूर्णता प्राप्त की है, मन के शिखर पर मनुष्य चढ गया है, उसका आग्रह, उसकी अभीप्सा किसी ऊर्ध्वतर, बृहत्तर सत्य की ओर है। इसी कारण अब वह समय आ गया है जब मन से ऊपर विद्यमान अतिमानस तत्त्व—विज्ञान-तत्त्व—अवतरित होगा, इस बार मनुष्य के ही रूपान्तर के द्वारा—अथवा अन्य किसी उपाय से, और पृथ्वी पर उत्पन्न होगा मनुष्य से भी अधिक पूर्ण एक जीव—अतिमानस या चिन्मय जीव।

अभीप्सा

(लेखक—श्री अनिलवरण जी)

अभीप्सा ही हमारी एकमात्र तपस्या है, वही एकमात्र अग्नि है जिसे हमें सब समय और सब परिस्थितियों में अपने हृदय में प्रज्वलित बनाये रखना होगा। हमें अन्य कोई अग्नि जलाने की जरूरत नहीं, दूसरी कोई तपस्या या कृच्छ्र साधना करने की आवश्यकता नहीं।

अगर हमारे मार्ग में अनुल्लंघनीय कठिनाइयां बाधा दें, अगर अज्ञान अंधकार की शक्तियां हमें चारों ओर से घेर लें और हमें अपनी भयानक माया के द्वारा विमोहित करें तो उस समय हमें केवल अपने हृदय की इस आग को तत्परता के साथ सुरक्षित रखना चाहिये, और बस, फिर सारी बाधाएं विलीन हो जायेंगी, सारी विरोधी शक्तियां, चाहे जितनी भी प्रचंड क्यों न हों, परास्त हो जायेंगी।

अगर हम अत्यंत नीचे भी गिर जायें और सारी आशा निर्मूल हुई सी मालूम हो, अगर हमें कोई सहायता देने वाला न हो, हमें प्रसन्न करने वाला न हो, हमें रास्ता दिखाने वाला न हो, अगर हम सब कुछ खो चुके हों और सब के द्वारा परित्यक्त हो गये हों, फिर भी यदि हम निरंतर, सचाई के साथ अपनी अभीप्सा को बनाये रखें तो अवश्य ही हमें ऊपर से (अर्थात् भगवान से) सहायता प्राप्त होगी और हम अत्यंत नीची अवस्था से भी ऊपर उठ जायंगे।

अगर अवसाद और तमस् हमें अभिभूत कर लें, और हम कुछ भी उन्नति न कर सकें, अगर अंधकार हमारे ऊपर चारों ओर से आक्रमण करे और हम अपना रास्ता न देख सकें, फिर भी अगर हम अपनी अभीप्सा को जीती जागती बनाये रखें और सच्चे हृदय से ऊपर, भागवती शक्ति की ओर ताकें तो तुरन्त हमारे अन्दर ताजी शक्ति नया उत्साह भर जायगा और हम अपने सामने अपने मार्ग को साफ-साफ देखने लगेंगे।

हमारे अन्दर जो कुछ सब से उत्तम है उसे अभीप्सा जागृत करेगी, हमारी सभी शक्तियों को एकत्र कर उन्हें ऊर्ध्वमुखी बनावेगी, हमारी प्रकृति के अन्दर विद्यमान सभी भेद और विरोध केवल एक उद्देश्य और एक भक्ति के अन्दर विलीन हो जायंगे और ऊपर से भगवत्-कृपा और दिव्य प्रेम नीचे उतर आयेंगे। अभीप्सा हमारे अन्दर दिव्य प्रेम को लायेगी और वह प्रेम हमें विजय प्रदान करेगा।

× × × ×

हे मा। मुझे एक ऐसी ज्योति शिखा बना दे जो सदा तेरी ओर जलती रहे, मेरे अन्तरात्मा को अपने प्रेम के अन्दर घुलमिल जाने दे, यही एकमात्र उपाय है जिससे मैं तेरे दिव्य जीवन के अन्दर नया जन्म ग्रहण कर सकूगा।

नाना प्रकार के विचार और भाव बाहर से आकर सदा मेरे मन मे घुमने की चेष्टा करते हैं और मेरी अभीप्सा की ज्योति को स्थिर नहीं रहने देते, हे मा। ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं दृढतापूर्वक ऐसे सभी बाधक विचारों को बाहर निकाल फेंकूं और अपने मन को पूर्णरूप से शुद्ध और स्वच्छ बनाये रखूँ।

प्राणमय लोक से आने वाली कामनाएँ और आसक्तियाँ सदा मेरी ज्योति को तमसाच्छन्न करने और बुझा देने की चेष्टा करती हैं, मा। ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं ऐसी सभी नीच कामनाओं और आसक्तियों को पूरी दृढता के साथ त्याग दू और अपने हृदय को पूर्ण स्वच्छ और शुद्ध बनाये रखूँ।

मेरी अभीप्सा की ज्योति को दुर्बल बनाने के लिये मेरे शरीर पर सब प्रकार के आक्रमण किये जाते हैं, हे मा। ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं ऐसे सभी प्रयासों को विफल बना दू और अपने शरीर को तेरी पूजा के लिये स्वस्थ और बलिष्ठ बनाये रखूँ।

हे मा। ऐसी कृपा कर कि मेरी ज्योति असीम श्रद्धा विश्वास के द्वारा पुष्ट हो और अक्षय शान्ति और स्थिरता मेरी सारी सत्ता में छा जाय। तेरे आशीर्वाद से, हे भगवती माता। मैं नित्य निरंतर दिव्य जीवन मे उन्नत होता रहूँगा।

× × × ×

मेरी आन्तर सत्ता ने पुराने जगत् को पीछे छोड दिया है और जीवन के पुराने तरीकों का त्याग कर दिया है, किन्तु मेरी बाह्य प्रकृति मे अभी तक पुराने जीवन के प्रति आकर्षण बना ही हुआ है और इस कारण मेरे अन्दर पुराने विचार और पुरानी कामनाए बार-बार उठा करती हैं। हे मा। यदि तू मेरी सत्ता को पूर्णरूप से अधिकृत न कर ले और मेरी सत्ता के अन्दर ओत प्रोत न हो जा तो भला मैं कैसे इन सब से एक दम मुक्त हो सकता हूँ?

ज्योंही पुराने विचार और भाव मेरे मन मे घुमेंगे त्योंही, हे मा। मैं तुझे पुकारूगा और तुझे मेरे मन मे अपने सत्य का प्रकाश भर देना होगा।

ज्योंही मेरे अन्दर कामनाए-वासनाए, क्षुद्रवृत्तिया जागृत होंगी त्योंही, मा, मैं तेरा आवाहन करूगा, और तुझे मेरे हृदय को अजेय माधुर्य और आनन्द मे भर देना होगा।

ज्योंही मेरे अन्दर अज्ञानमयी और विकृत क्रियाए दिखाई देंगी, त्योंही, हे माता, मैं तेरी ओर उन्मुख हूँगा और तुझे मेरे प्राणों को अपने सामजस्य और कृपा से भर देना होगा।

हे मा ! मैं अपनी सारी अपूर्णताओं और अज्ञान अंधकार में सदा सर्वदा एकमात्र तेरी ओर दृष्टि लगाये रहूंगा और यह आशा बनाये रखूंगा, यह अभीप्सा प्रज्वलित रखूँगा कि वह दिन बहुत शीघ्र आयेगा जब तू पूर्णरूप से मेरी सत्ता पर अपना अधिकार जमा लेगी और मुझे दिव्यत्व प्रदान करेगी।

कलापूर्ण वस्तु ?

(ले०—श्री जिनराजदास)

जब कोई यहां नीचे की-वस्तु अर्पित की जा सकती है वहां ऊपर की-वस्तु की स्तुति में

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब कोई पृथ्वी की भौतिक वस्तु ऊपर एक मूलरूप आदर्श की ओर अदृश्य पंखों पर तैरने के लिये तैयार सी दिखाई देती है

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब ज्ञानेन्द्रियों में से किसी एक के भी सामने आई हुई कोई वस्तु हमें न केवल परमेश्वर की किन्तु मनुष्य की भी बात कहती है

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब किसी वस्तु में या घटना में उसका पुण्य प्रारम्भ उसके अन्त के भी दिखला देने वाला होता है

तो वह कलापूर्ण होती है।

(इण्डियन थियासोफिस्ट से)

एक टेक

(स्व० श्री प० चमूपति जी एम० ए०)

तुम प्रभु मेरी एक टेक हो—
एक तुम्हीं मुझमें अनेक हो ॥

छोड़ रहे हों सब बान्धवगण,
मैं हू और तुम्हारा सुमरण ।
अविरत चिन्तन अविरत पूजन,
हो अनन्य जब टेक एक हो ॥
तुम प्रभु ! मेरी एक टेक हो —

सुखमें दुखमे तुम्हीं पास हो,
हूँ निराश क्यों ? एक आस हो ।
विश्वरास, जब तुम्हीं रास हो,
तुम्हीं न मुझ से विमुख नेक हो ॥
तुम प्रभु ! मेरी एक टेक हो—

मैं तुमसे मुख कभी न मोड़ूँ,
स्वार्थ तजू सन्मार्ग न छोड़ूँ ।
सबसे तोड़ूँ, तुम से जोड़ूँ,
बस इतना मुझ मे विवेक हो ॥
तुम प्रभु ! मेरी एक टेक हो—

कटु हो मृदु हो स्पर्श तुम्हारा,
मेरा क्या ? उत्कर्ष तुम्हारा ।
है निर्दोष विमर्श तुम्हारा,
जो तुम कर दो वही नेक हो ॥
तुम प्रभु ! मेरी एक टेक हो—

मस्त तुम्हारा है स्वरूप क्या ?
अहो रूप यह है सुरूप क्या ?
है अद्भुत क्या औ अनूप क्या ?
सुख-स्वरूप सुखातिरेक हो ॥
तुम प्रभु मेरी एक टेक हो—

प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्री नारायणप्रसाद जी)

(१)

भगवान् किसे अपनाते हैं ?
जो उन्हें अपनाता है।
संसार में सबसे कठिन क्या है ?
ऊपर उठना, चढना, ऊर्ध्वगति करना।
मनुष्य को नीचे के स्तर में बांध कर किसने रक्खा है ?
वासना ने और अहंकार ने।
उसके ऊपर उठने में सबसे अधिक सहायक क्या है ?
अभीप्सा और भगवत् कृपा।
भगवान् की कृपा, कहते हैं, वर्षा की तरह सब जगह बरस रही है तो फिर हम उसे पाते क्यों नहीं ?
इसलिये कि हम उसके प्रति खुले हुए नहीं या हम में ग्रहणशक्ति नहीं।
भगवान् की कृपा से क्या होता है ?
पूछो 'क्या नहीं होता है ?'।
भगवान् किसे वरते हैं ?
जिसे वे कसौटी पर कसने पर खरा पाते हैं।
भगवान् किसे नहीं भूल सकते ?
जिसने उनके भरोसे अपने आप को छोड़ दिया है, जो शरणागत हो गया है।

(२)

साधक को प्रसन्नतापूर्वक क्या स्वीकार करना चाहिये ?
जो कुछ भी भगवान् की ओर से आ जाय।
उसे सबसे अधिक किस बात के लिये यत्नवान् रहना चाहिये ?
इस बात के लिये कि साधना की जिस चोटी पर वह चढ़ चुका है उससे तिल भर भी वह पीछे न हटे।
साधक को क्या नहीं करना चाहिये ?
न तो जल्दबाजी और न ही उकताना।

क्या करना चाहिये ?
अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अपनी अभीप्सा को पवित्र यज्ञाग्नि की तरह सदा निरन्तर प्रज्वलित रखना।
साधक को किससे बचना चाहिये ?
एक तरफ़ राजसिक अत्युत्साह से दूसरी तरफ़ तामसिक निरुत्साह से।
साधक को अपना सवस्व देकर बदले म क्या मागना चाहिये ?
शरणागति मे उत्तरोत्तर वृद्धि और ग्रहण शक्ति।
साधक के लिये सबसे घातक क्या है ?
गुरु से अपने दोष और दुर्बलताओं को छिपाना।
साधक को सतत किस बात की आवश्यकता है ?
सदा जागते रहने की।
उसे अपने अन्दर किसे नहीं आने देना चाहिये ?
निराशा और उदासी को।
साधक को किस बात से जरा भी घबराने की जरूरत नहीं ?
उतराव चढाव से। क्योंकि उतराव चढाव या ऊच नीच का आना तो साधना मे अत्यन्त स्वाभाविक है।
अपने शत्रुओं से युद्ध करने के लिये साधक का सबसे बडा शस्त्र क्या है ?
सकल्प-शक्ति।
साधक को बिगाडने वाली चीज़ क्या है ?
दिखावे की आदत।
साधना मे खतरा कहा है ?
जहा कपट है।

(३)

मन क्या चाहता है ?
प्राण को अपने साथ घसीट ले जाना।
प्राण क्या चाहता है ?
मन पर भी प्रभुत्व जमाना।
शरीर क्या चाहता है ?
मन और प्राण को अपने दबाव मे रखना।
इनमें विजयी कौन होता है ?
जब जो बलवान् होता है।

इस खींचातानी में मनुष्य कब तक पड़ा रहता है ?

जब तक वह इनमें एकता की स्थापना नहीं कर लेता।

इनमें एकता कैसे लाई जा सकती है ?

साधना के द्वारा—इन प्रतिद्वन्द्वी भागों में एकता लाने के लिये ही तो साधना की जाती है।

शान्ति का मोती कहां रहता है ?

साधना की सीपी में।

मन के शान्त और सर्वतोभावेन भगवन्मुखी होने से क्या होता है ?

अन्दर का वह दरवाजा खुलता है जिससे दिव्य शक्ति, दिव्य प्रकाश आदि प्रवेश करता है।

ध्यान में सबसे बड़ा बाधक क्या है ?

विषय भोगों की स्मृति।

साधक को ध्यान में बैठने से पूर्व क्या करना चाहिये ?

पहिले अपनी पुकार उठानी चाहिये।

ध्यान या साधना मे उसे क्या करना होता है ?

माता की शक्ति उतर आने पर उसके हाथ अपने आपको छोड़ देना।

सब से पहिले किस बात का यत्न करना चाहिये ?

शान्ति को पाने के लिये और शान्ति की स्थापना के लिये।

मन माने ही नहीं तो क्या करना चाहिये ?

उस पर जोर-जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये, न झल्लाना चाहिये बल्कि एक हठी बालक को जैसे मीठे प्रेम के शब्दों मे समझाया जाता है वैसे मनको समझाना चाहिये और उसे उसकी भूल सुझा देनी चाहिये।

(४)

हमारी आखें कौन खोलता है ?

आन्तर चक्षु, गुरु, और बाह्यचक्षु, हमारा निन्दक।

सच्चा गुरु क्या करता है ?

शिष्य में परमेश्वर की ज्योति उतर सके, इसका उसे अधिकारी बनाने का यत्न करता है।

गुरु का उपदेश अपना प्रभाव कब दिखाता है ?

जब मन शुद्ध, शान्त और निर्मल होता है।

योग में कौन नहीं प्रवेश कर सकता ?

जो एकरस जीवन से डरता है।

मनुष्य शान्ति कब पाता है ?

जब वह वासनाओं को पोसना छोड़ देता है।

मन की दौड़धूप कब तक चलती है ?

अध्यात्म रस का चस्का जब तक उसे नहीं लग जाता।

सामाजिक काम काज करते हुए भी स्थिर शान्ति कैसे रह सकती है ?

सब भूतों में अपनी आत्मा का अनुभव कर लेने से।

एक आत्मा लाखों में जीवरूप से विभक्त होने पर भी पूर्ण कैसे बना रहता है ?

जैसे एक चिराग से लाखों चिराग जला लेने पर भी उसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पाप क्या है ?

जो भगवान् से दूर हटावे।

पुण्य क्या है ?

जो भगवान् के निकट पहुंचावे।

सदा बेहतर क्या है ?

करके कहने से करना।

श्रीअरविन्द—एक महान् योगी

(लं०—श्री डा० इन्द्रसेन जी)

श्रीअरविन्द का नाम—विशेषत' उनका पुराना नाम 'अरविन्द घोष' अति विख्यात है। परन्तु वह रहस्य से इतना आच्छादित है कि उसके विषय में और अधिक तथा ठीक ठीक जानने की उत्सुकता बड़ी तीव्र हो जाती है। "सुनते हैं कि श्रीअरविन्द वर्ष भर में केवल एक या दो बार ही अपने कमरे से बाहर निकलते हैं और उस समय भी कुछ बोलते चालते नहीं। क्या वे मौन साधे हुए हैं? क्या वे हमेशा समाधि म रहते हैं? वे महान योगी तो हैं ही, तो अवश्य उनमें अनेक असाधारण शक्तिया होंगी। क्या वे ऐसा कर सकते हैं? क्या वे वैसा कर सकते हैं?"

ये हैं भाव श्रीअरविन्द के सबध मे वर्तमान पीढ़ी क सवसाधारण मनुष्य के। कभी कभी पुरानी पीढी के कुछ ऐसे वृद्ध व्यक्तियों से भी हमारी भेंट हो जाती है जो श्रद्धा व उत्साहपूर्वक उन्हें महान् स्वदेशी आन्दोलन के राष्ट्रीय नायक के रूप में पहिचानत और स्मरण करते हैं तथा अभिमान के साथ कहते हैं कि वे उनके 'वन्दे मातरम्' के ग्राहक थे और उसमे वे उनके लिखे उद्बोधक लेखों को बड़ी उत्सुकता के साथ पढ़ा करते थे।

परन्तु परन्तु फिर वे सार्वजनिक जीवन से एकाएक अन्तर्धान हो गये—ऐसा वे बड़े खेद के साथ स्मरण करते हैं, साथ ही यह भी कि फिर बड़े लंबे अर्से तक उनका नाम तक सुनाई नहीं दिया। 'सुनते हैं कि वे अब एक महान् योगी हो गये हैं' मानो उन्हें फिर से प्राप्त करते हुए वे कहते हैं। और सुना जाता है कि सुदूर दक्षिण की ओर पाडिचेरी में उनका एक आश्रम है। उनका आध्यात्मिक प्रभाव और शक्ति ऐसी है कि जो लोग भी आश्रम मे जाते हैं और उस वायुमण्डल मे कुछ देर ही रहते हैं तो वे मन की गहरी शान्ति और निर्मलता को अनुभव करते हैं। लोग अपनी मानसिक कठिनाइयों और संघर्षों का लेकर उनके पास पहुचते हैं और वहा वे सब स्वयमेव हल हो जाते हैं। 'उन दिनों भी,' श्रीअरविन्द के वे वृद्ध मित्र याद करते हुए कहते हैं 'व योग की बातें किया करते थे'। ऐसा प्रतीत होता है कि योग उनके मन में उस समय भी था। 'पर समझ नहीं पड़ता कि' वे आश्चर्य से कहते हैं 'श्रीअरविन्द इन सारे तीस बरसों में करते क्या रहे हैं और वे तथा उनके शिष्य अब आश्रम में क्या करते हैं।'

उस अतीत स्वदेशी आन्दोलन क दिनों में लिखी एक प्रसिद्ध चिट्ठी में श्रीअरविन्द

ने लिखा था, 'मुझ मे तीन पागलपन हैं। उनमें से एक है भगवान् को पाना, जो भगवान् कि, यदि वह है, तो अवश्य ही हमे प्राप्य, उपलभ्य भी होना चाहिये'। यह था उनकी जैव सत्ता में विद्यमान, गहराई मे पहुचा हुआ उनका दार्शनिक और यौगिक अनुराग जिसने कि, अब स्पष्ट प्रतीत होता है, उनके जीवन के असली ध्येय और कार्य का आगे निर्धारण करने वाला बनना था। इससे पहले १६०८ ६ के बीच जब वे अलीपुर जेल मे अभियोगाधीन बन्दी के रूप मे थे उनको एक नया बोध प्राप्त हुआ था जिससे उन्हें यह सीख गया था कि योग मे जीवन की समस्या को हल करने की क्षमता है। उन्हें तब योग के लिये और जीवन की पूर्णता के आदर्श के लिये अत्यन्त शक्तिशाली और सर्वथा अदम्य पुकार सुनाई दी। राजनीति और देश की स्वाधीनता के जिन कार्यों मे वे अब तक व्यस्त थे वे उस समय उन्हें अपेक्षाकृत गौण प्रतीत होने लगे। स्वय मानव जीवन की महान समस्या उनके सामने बडे उग्र रूप मे आई। उन्होंने अनुभव किया कि यदि इसका हल हो जाय तो अन्य सब समस्याए जो हमारी वर्तमान मानव प्रकृति के ही सीधे सादे परिणाम-रूप हैं वे भी अवश्य ही स्वयमेव हल हो जायगी। परिवार, समाज, देश तथा धर्म तक के दावों तथा इनके प्रति दृढ भक्ति को भी लाघ कर भारतीय सस्कृति, 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' सस्कृत की इस सुप्रसिद्ध सूक्ति के अनुसार, आध्यात्मिक जीवन के ध्येय की सर्वोत्कृष्टता को जो स्वीकार करती है सो उचित ही है। यही चेतना श्रीअरविन्द में उस समय जागृत हुई और उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि आत्मिक राज्य की गवेषणा उनके जीवन का सच्चा ध्येय है। अब उन्होंने अपनी नई जिम्मेवारी की मागों के अनुसार पाडिचेरी के एक शान्त कोने मे विश्राम लेकर अपने आपको सचाई और श्रद्धा के साथ इस ध्येय के प्रति समर्पित कर दिया।

और तब से वे वहा क्या करते रहे हैं? उनके महान् दार्शनिक ग्रन्थ 'The Life Divine' के पहले दो वाक्य स्वय ही इसका उत्तर देते हैं। इनमे वे कहते हैं, "अपने प्रबुद्ध विचारों में मनुष्य सबसे पहले से जिस कार्य में लगा है मनुष्य की वह प्राचीनतम कार्य व्यापृति और, जैसा कि प्रतीत होता है, उसकी यह अनिवार्य और चरम कार्य व्यापृति—क्योंकि सदेहवाद के लबे से लबे काल के बाद भी यह जीवित बची रहती है और प्रत्येक निर्वासन के बाद फिर लौट आती है—साथ ही वह सर्वोच्च वस्तु भी है जिसे कि उसका विचार चिन्तन मे ला सकता है। यह अपने आपको प्रकट करती है देवाधिदेव के पता लगाने के रूप मे, परिपूर्णता प्राप्ति के आवेग के रूप म, विशुद्ध सत्य तथा अमिश्रित आनन्द की खोज क रूप में, छिपी हुई अमरता के सवेदन के रूप मे।" सपूर्ण इतिहास के इन उच्चतम मानव आदर्शों पर श्रीअरविन्द का ध्यान प्रारभ से जमा

हुआ था और इन्हें अपने वास्तविक अनुभव में लाकर उत्तरोत्तर साक्षात्कार करना इन पिछले वर्षों में उनका कार्य रहा है। जब से उनको जीवन के उच्चतर और गंभीरतर अर्थ के प्रति यह अवश्यम्भवितव्य जागृति हुई तब से ही उनके अविभक्त मन की खोज का विषय वह "ज्ञान का प्राचीनतम सूत्र" रहा है जोकि साथ ही "चरमतम सूत्र भी सिद्ध होता दीखता है," जो "परमेश्वर, प्रकाश, मुक्ति और अमरता" के शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। निःसंदेह जिस कार्य का उन्होंने बीड़ा उठाया है वह किसी भी अन्य कार्य की अपेक्षा जिसमें कि मनुष्य लग सकता है बहुत ही अधिक कठिन है। इसके कष्ट-क्लेश और परीक्षायें इतनी अधिक सूक्ष्म हैं कि साधारण मनुष्यों की स्थूल कसौटी उन्हें पहिचान नहीं सकती। एक भारतीय लोकोक्ति का यह कहना ठीक है कि जो मन पर विजय पा लेता है वह संसार विजेता की अपेक्षा भी बड़ा है।

परन्तु क्या श्रीअरविन्द, उन्होंने जो महान कार्य अपने हाथ में लिया था उसमें सफल हुए हैं? अब, इस प्रश्न का जवाब कौन देगा? मैं तो नहीं दे सकता। मैं तो निश्चित तौर पर इतना ही कह सकता हूँ कि उसी प्रकार के साक्षात्कार की खोज में लगे हुए लोग उनके पास सहायता और पथप्रदर्शन के लिए जाते हैं और यह सुनकर हमारे आश्चर्य तथा हर्ष की सीमा नहीं रहती कि उनकी छत्रच्छाया में साधना करते हुए उन्हें जो सफलता मिलती है उस पर वे अत्यन्त संतोष प्रकट करते हैं। वे आपको यह बतायेंगे कि उनमें समस्वरता, शान्ति, प्रकाश और प्रेम का भाव उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित हो रहा है। वे आश्रम में १० या १५ वर्ष बिता देने पर पूर्ण संतोष अनुभव करते हैं। शायद यह जानकर आप भौंचक्के रह जायें कि उनका लक्ष्य अत्यन्त यथार्थवादी रूप में भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है। उनका उद्देश्य है परिमित सुख, ज्ञान व शक्ति वाली मानव चेतना को अमित ज्ञान, शक्ति और आनन्द वाली पूर्ण भागवत चेतना में रूपान्तरित करना।

प्रश्न होता है यह परमार्थ—परम श्रेय, साक्षात् पूर्णत्व—कैसे साधित किया जा सकता है? ऐसा करने की विधि का प्रतिपादन, मेरे विचार में श्रीअरविन्द का अद्वितीय उपकार है—विशेषतया आधुनिक मनुष्य के लिये। योग एक प्राचीन वस्तु है परन्तु इसकी सत्यता को आधुनिक ढंग से प्रमाणित किये जाने की तथा इसकी पुन: व्याख्या किये जाने की आवश्यकता थी। श्रीअरविन्द ने हठयोग, राजयोग, तंत्रयोग तथा अन्य विविध योग पद्धतियों का सूक्ष्म परीक्षण करके उनके द्वारा योग की एक सर्वसंग्राहिका पद्धति को विकसित किया है जिसे उन्होंने सर्वांग-योग (Integral Yoga) या 'पूर्ण योग' नाम से पुकारा है। वर्तमान युग को उनकी यह एक महान देन है और

आध्यात्मिक सत्य के जिज्ञासुओं द्वारा यह इतनी अधिक बहुमूल्य करके प्राप्त की गई है ।

यहां उस पद्धति का यथार्थ वर्णन कर सकना अशक्य है और उन के तत्त्वज्ञान (दर्शन) का मोटे तौर पर प्रतिपादन मात्र भी हम यहां नहीं कर सकेंगे। पर यह मुझे स्वीकार करना चाहिये कि इस पद्धति की यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिपक्वता और उत्कृष्टता ही है जिसने मुझे इसका अध्ययन करने पर मन्त्रमुग्ध कर लिया और मुझे तुरन्त इसका अनुयायी बना दिया। इस योगपद्धति की जो युक्ति है उसकी कुन्जी 'सर्वांगीण (Integral)' शब्द में है। हठयोग मानव व्यक्तित्व का अभीष्ट रूपान्तर करने के लिये शरीर को साधन बनाता है, राजयोग मुख्यतया मन को और एकाग्रता के अभ्यास को। परन्तु सर्वांगीण योग (Integral Yoga) इस बात पर बल देता है कि संपूर्ण व्यक्तित्व ही काम करे, जानने, अनुभव करने और संकल्प करने के सब व्यापार द्वारा संपूर्ण व्यक्तित्व ही काम करे। और इससे जो परिणाम उद्दिष्ट होता है वह भी यह है कि संपूर्ण व्यक्तित्व का ही अपने साधारण नियमित व्यापारों में एक कार्यक्षम रूपान्तर हो जाय। सब प्रकार के व्यष्टिगत भेदों के लिये इस पद्धति में अत्यधिक स्थान है। किसी भी प्रवृत्ति का निग्रह किया जाना इसमें सह्य नहीं है। इस पद्धति के अनुसार निग्रह कोई इलाज नहीं है। इस योग का वास्तविक मनोवैज्ञानिक अभ्यास नियम यह है प्रकृति की कुत्सित चेष्टा जैसे घृणा, ईर्ष्या इत्यादि का परित्याग और इनसे आन्तरिक, मानसिक संबन्ध का विच्छेद कर देना, तथा प्रकृति की शुभ चेष्टा जैसे कि शुभेच्छा और दूसरों के प्रति प्रेम के लिये अभीप्सा करना और उच्चतर चेतना के प्रति अपने को ऐसे खोल देना कि मानो उसे आमन्त्रित कर उसके स्वागत सत्कार के लिये हम बाहु पसारे प्रतीक्षा कर रहे हों।

पुरानी आदतों को छोड़ने और नई को डालने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान अनेकविध विधियों को प्रस्तुत करता है। जहाँ तक उन की पहुंच है वहाँ तक वे निःसंदेह अच्छी हैं। परन्तु इस यौगिक प्रणाली का मेरा अनुभव इतना सुन्दर और उत्साहवर्धक है कि मैं प्रत्येक युवक लड़के और लड़की से निवेदन करूंगा कि वे अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये इस विधि का सचमुच प्रयोग करने की ओर ध्यान दें। चरित्र-गठन मुख्यतया युवकों की समस्या है और मुझे निश्चय है कि इस प्रणाली से उन्हें बड़ा संतोष मिलेगा। पूरी सत्यहृदयता इस प्रणाली की मांग है। किसी चीज को प्राप्त करने की या छोड़ने की तुम्हें हृदय से अभिकांक्षा करनी चाहिये। उचित वस्तु के लिये तीव्र अभीप्सा—कुत्सित चेष्टा का, उसके फिर फिर लौटने पर प्रत्येक बार उसका

परित्याग, और रूपान्तर के लिये उच्चतर चेतना का अपने अन्दर बार बार आवाहन यह है जो कि, चुपके से परन्तु अवश्य ही तुम्हारे अन्दर तुम्हारे बिना कुछ और किये चमत्कार उपस्थित कर देगा।

युवकों के अन्दर जवानी मे जो कुछ नई हलचलें उठा करती हैं उनका जब उन्हें पता लगता है तो वे बहुधा भयभीत हो जाते हैं। वे उनके लिय चिन्तातुर हो जाते हैं, उनके बारे म बहुत सोचते हैं और उद्विग्न रहने लगते हैं। यह सब कुछ मामले को सुधारने का गलत ढग है। काम मे लगे रहने का एक अच्छा बाहरी धन्धा, सामाजिक क्रीड़ाए, सादी खुराक और जीवन-यापन का सर्वसामान्य, साहसपूर्ण ढग—ये सब सहायक सिद्ध होंगे। परन्तु आवेग का ज्यों ही यह उठे परित्याग करो, यह परित्याग दृढता और आग्रह के साथ लगातार करो, शान्ति, प्रकाश और पवित्रता की निर्मल चेतना के लिये अभीप्सा करते हुए ऐसा करो। जब हम किसी वस्तु को चाहते हैं और उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो उसका मनोवैज्ञानिक कारण यह होता है कि हम आधे मन से उसकी तलाश करते हैं, शेष आधा मन विपरीत वस्तु की लालसा करता रहता है।

आवेगाधीन होना सपूर्ण मानव जीवन की ही वास्तविक समस्या है, और अधिक तीव्र रूप मे यौवनकाल की। हमारे अन्दर की विशेष प्रवृत्तियों के क्षणिक उभार मुख्य शक्ति के द्वारा हम पर अपना एकमात्र नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। यही मनुष्य में पाशविक खिंचाव है। इन प्रवृत्तियों के प्रभाव में ही अधीन हो हम जल्दी में काम कर बैठते हैं और पीछे फुर्सत के समय पछताते हैं। आचार की समस्या यह है कि इन प्रवृत्तियों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि वे विद्रोहपूर्वक उपद्रव करने के बजाय आत्म-पथप्रदर्शन के अधीन सामंजस्य के साथ क्रिया करने लगे। जब इसमें सफलता पूरी तरह से प्राप्त हो जाती है तो मनुष्य, पशु को पीछे छोड़कर, निश्चयात्मक तौर पर दिव्य हो जाता है अर्थात् स्थिर, शान्त, अखण्ड और कर्मकुशल बन जाता है। उपरिवर्णित योगप्रणाली ठीक यह विधि है जिससे कि इस प्रकार का महान् परिणाम प्राप्त किया जाता है।

यहा हम जरा श्रीअरविन्द के अपने शब्दों में ही इस योग के कुछ पहलुओं का मनन कर लें —

'योग की प्रक्रिया यह है कि मानव आत्मा को चेतना की उस अहमात्मक अवस्था से जो वस्तुओं की बाह्य प्रतीतियों और उनके आकर्षणों में मग्न रहती है, पराङ्मुख

करके उस उच्चतर अवस्था की ओर अभिमुख कर दे जिसमें कि परात्पर और विराट् ईश्वर अपने आपको व्यक्तिमय साँचे में उँडेल सकें और उसे रूपान्तरित कर सकें।'

('Arya' के एक लेख से)

'मन में समझने और संकल्प करने का दबाव तथा हृदय में भगवान् के प्रति भावना भरी उमंग ये दोनों योग के सबसे पहले क्रियाजनक हैं।' (योग के आधार पृष्ठ १६)

'असली इलाज शान्ति है। कठिन परिश्रम में लगकर मन को दूसरी ओर फेरे रखने से केवल अस्थायी आराम ही मिलेगा।' (पृष्ठ २४)

'जितना ही अधिक तुम यह अनुभव कर सकोगे कि मिथ्यापन तुम्हारा अपना अंश नहीं है और यह तुम्हारे पास बाहर से आया है, उतना ही अधिक इसका त्याग करना तथा इसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा।' (पृष्ठ २४)

'अपनी कमजोरियों और कुप्रवृत्तियों को पहचानना और उनसे निवृत्त होना यही मुक्ति की ओर जाने का मार्ग है।' (पृष्ठ २८)

'बाह्य अवस्थाओं की अपेक्षा एक आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने श्वास लेने के लिये वहां अपना निजी आध्यात्मिक वायुमंडल उत्पन्न कर सके और उसमें रह सके तो यह उन्नति के लिये ठीक अवस्था होगी।' (पृष्ठ ३३)

'अभीप्सा तीव्रता के साथ करो, पर बिना अधीर हुए।' (पृष्ठ ४२)

'श्रद्धा, भगवान् पर भरोसा, भागवत शक्ति के प्रति आत्म समर्पण और आत्मदान ये आवश्यक और अपरिहार्य हैं। परन्तु ईश्वर पर भरोसा करने के बहाने आलस्य और दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिये इस श्रद्धा और भरोसे के साथ साथ अनथक अभीप्सा और भागवत सत्य के मार्ग में आने वाली रुकावटों का निरन्तर त्याग, ये भी चलते रहने चाहियें।' (पृष्ठ ४४)

'इस योग की इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं कि साधक अपनी समस्त वृत्तियों को एकाग्र करे, ध्यान करे, अधिक उपयुक्त यह है कि यह ध्यान वह हृदय में करे और वहां माता (भगवान् का क्रियाशील स्वरूप) की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वह उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित कर दें।' (पृष्ठ ४६)

'प्रत्येक सच्ची अभीप्सा अपना परिणाम लाती है।' (पृष्ठ ६२)

'योग में तो आन्तर विजय के द्वारा ही बाह्य विजय हुआ करती है।' (पृष्ठ ६४)

'अब जिन अज्ञानमय क्रियाओं का तुम्हें भान हो रहा है उनका दृढता के साथ त्याग करना होगा और अपने मन और प्राण को भागवत शक्ति के कार्य के लिये एक शान्त और शुद्ध क्षेत्र बना देना होगा।' (पृष्ठ ७०)

'योग साधन करने का अर्थ ही यह है कि साधना करने वाला समस्त आसक्तियों पर विजय पाने तथा केवल भगवान की ओर ही अभिमुख होने का सकल्प रखता है।' (पृष्ठ ७१)

'इस योग का सारा सिद्धान्त ही यह है कि आते हुए भागवत प्रभाव के लिये साधक अपने आपको उद्घाटित करे।' (पृ० ७९)

'यह अभीप्सा करे कि दूसरी कोई भी शक्ति न तो उस पर प्रभाव डाल सके और न उसका नेतृत्व कर सके।' (पृ०८०)

'न उतावली हो न आलस्य, न राजसिक अति-उत्कंठा हो न तामसिक निरुत्साह—बल्कि एक धीर और लगातार पर शान्त आवाहन तथा क्रिया होनी चाहिये।' (पृ० ८१)

'इस प्रकार के अतिरंजित आत्महीनता के भाव से अपने आपको मुक्त करो और पाप, कठिनाई अथवा विफलता के ख्याल से उदास हो जाने की अपनी आदत का छोड़ दो। इन विचारों से वस्तुतः कोई लाभ नहीं होता, बल्कि ये भयानक विघ्न हैं और प्रगति में बाधा डालते हैं। ये बातें धार्मिक मनोवृत्ति की हैं, यौगिक मनोवृत्ति से इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। योगी को चाहिये कि वह प्रकृति के इन समस्त दोषों को निम्न प्रकृति की प्रवृत्तियां समझे जो सभी को समान रूप से सताती हैं और इनका, भागवत शक्ति में पूर्ण विश्वास रखते हुए, स्थिरता, दृढ़ता और निरन्तरता पूर्वक त्याग करे—पर दुर्बलता या उदासी अथवा बेपरवाही के साथ नहीं और उत्तेजना या अधीरता अथवा उग्रता के साथ भी नहीं।' (पृ० १०४)

'आत्म-हत्या कर लेने से समस्या हल नहीं होती, यह बिलकुल बेमतलब है, वह सरासर भूल करता है जो यह सोचता है कि इससे उसको शान्ति मिलेगी। इससे तो वह केवल अपनी कठिनाइयों को मरणोत्तर स्थिति की अवस्था में, जो यहां से भी अधिक बुरी है, अपने साथ ले जायगा और इन्हें फिर दूसरे जीवन में पृथ्वी पर साथ में लायगा।' (पृ० १४१)

'इच्छा का त्याग सत्त्वतः तृष्णा या लालसा के भाव का त्याग है। इसको एक विजातीय वस्तु के तौर पर, जिसका कि अपने सत्य स्वरूप या आन्तरिक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, अपनी चेतना से ही बाहर निकाल फेंकना है।' (पृ० १२१)

'जब मनुष्य सत्य चेतना में रहता है तभी वह इच्छाओं को अपने से बाहर अनुभव करता है।' (पृ० १५३)

'हृत्पुरुष (हमारी सच्ची आन्तर सत्ता) कोई माँग या इच्छा नहीं करता, वह तो अभीप्सा करता है।' (पृ० १५४)

'इच्छा से सर्वथा छुटकारा पा लेने में देर लगती है। किन्तु यदि एक बार भी इसे अपनी प्रकृति में से निकाल बाहर कर सको और यह अनुभव कर सको कि एक शक्ति है जो बाहर से आती है और प्राण और शरीर को अपने पंजे में लेना चाहती है तो तुम्हें इस आक्रमणकारी के चंगुल से छुटकारा पाना सहज हो जायगा।' (पृ० १५७)

'यदि तुम योग करना चाहते हो तो तुमको सभी बातों में, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, अधिकाधिक यौगिक भाव धारण करना चाहिये। हमारे मार्ग में यह यौगिक भाव विषयों का जबरदस्ती निग्रह करके नहीं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अनासक्ति और समता रख कर धारण किया जाता है।' (पृ० १६२)

'इस बात की प्रतीति होना कि अमुक वस्तु रसनेन्द्रिय के लिये सुखकर है कोई बुरी बात नहीं है, पर उस वस्तु के लिये कामना या विह्वलता नहीं होनी चाहिये, उसके प्राप्त होने पर न तो हर्षोल्लास होना चाहिये और न उसकी अप्राप्ति से किसी प्रकार की अप्रसन्नता या खेद।' (पृ० १६२)

'आहार-तत्त्व को जीवन में उसके लिये उपयुक्त स्थान देकर उसे एक कोने में रख दो।' (पृ० १६४)

'इसका उचित मात्रा में (न अत्यधिक न अत्यल्प) सेवन करो, इसके लिये न तो लालसा हो न अरुचि, बल्कि तुम्हारा यह भाव रहे कि शरीर की रक्षा के लिये माता का दिया हुआ यह एक साधन है।' (पृ० १६५)

'कामावेग का प्राण और शरीर पर जो आक्रमण होता है इससे साधक को एक दम अलग रहना होगा—कारण, जब तक वह कामावेग को नहीं जीत लेता तब तक उसके शरीर में भागवत चेतना और भागवत आनन्द का संस्थापन नहीं हो सकता।' (पृ० १७३)

'मैंने यह पाया है कि काम शक्ति पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेने को लक्ष्य बनाना साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है।' (पृ०१८१)

'यह ठीक है कि काम का बाह्य क्रिया में तो निग्रह किया जाय पर दूसरी तरह से उसमें लिप्त रहा जाय तो इससे शारीरिक उपद्रव और दिमागी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं यदि इस पर प्रभुत्व स्थापन करने और इसका संयम करने के लिये सच्चा

आध्यात्मिक प्रयत्न किया जाता है तो मैं नहीं समझता कि कामवासना के इस संयम से कभी हानि होती है।' (पृ० १८७)

'अब रहा इस प्रभुत्व के स्थापन करने की पद्धति के सम्बन्ध में सो यह केवल शारीरिक संयम के द्वारा ही नहीं हो सकता—अनासक्ति और परित्याग की सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा यह किया जाता है।' (पृ० १८८)

'इसका (कामवासना का) पूर्ण त्याग करो परन्तु वह इससे संघर्ष करके नहीं बल्कि इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद करके, अपने आपको इससे अनासक्त करके और इसको अपनी स्वीकृति देने से इन्कार करके।' (पृ० १९०)

'कामुकता एक विकार अथवा अधोगति है जो प्रेम के आधिपत्य की स्थापना में रुकावट डालती है।' (पृ० १९७)

उपर्युक्त उद्धरण जो कुछ विस्तार से दिये गये हैं श्रीअरविन्द की योग सम्बन्धी शिक्षाओं का रसास्वादन कराने के लिये पर्याप्त होंगे। परन्तु लेख को समाप्त करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सच्ची शिक्षापद्धति के आधार के सम्बन्ध में हम उनके विचार का निर्देश कर दें क्योंकि न केवल योग के विद्यार्थियों के लिए अपितु प्रत्येक विद्यार्थी के लिये उसका अत्यन्त महत्त्व है। अपनी छोटी सी कृति "The Brain of India (भारत का मस्तिष्क)" में वे कहते हैं कि आजकल न केवल भारतवर्ष में अपितु सर्वत्र ही आधुनिक शिक्षा का प्रधान लक्ष्य सूचनायें दे देना या ज्ञातव्य समझी जाने वाली बातें बता देना है। "परन्तु" वे विवेचन करते हैं कि "इन सूचनाओं का मिलना या ज्ञातव्य बातों का पता होना बुद्धि की, ज्ञान की नींव का काम नहीं दे सकता। यह केवल उस सामग्री का एक अंश बन सकता है जिससे कि ज्ञाता ज्ञान का निर्माण करता है।" "उन (स्मृति, कल्पना तथा अन्य मानसिक शक्तियों) के द्वारा जिस भवन का निर्माण किया जाता है उसकी नींव तो केवल बल और शक्ति के कोष का संचय करने से पड़ सकती है।" पर यह शक्ति कहाँ से आयगी? इसका उत्तर जो वे देते हैं वह है "प्राचीन आर्य जानते थे कि मनुष्य विश्व से पृथक् नहीं है परन्तु विश्व का केवल एक सजातीय अंश है।" इस समस्त विश्व में अनन्त शक्ति व्याप्त है और अतएव शिक्षण का वास्तविक लक्ष्य यह होना चाहिये कि यह प्रत्येक मानव व्यक्ति में एक उपयुक्त आधार, पात्र या उपकरण तैयार कर उसकी विघ्न-बाधाओं को हटा दे जिससे वह विश्वव्यापी शक्ति में से पोषण प्राप्त कर सके।

क्रियात्मक तौर पर ब्रह्मचर्य वह मुख्य प्रक्रियाओं में से एक था जिस से कि यह विश्वव्यापी शक्ति प्राप्त की जाती थी। श्रीअरविन्द ब्रह्मचर्य पर पूरा पूरा बल देते हैं

और इसे शिक्षासम्बन्धी वह मुख्य रहस्य मानते हैं जो कि प्राचीन आर्यों ने प्राप्त किया था। योरोपियन जड़वाद (या भौतिकवाद) आधार और स्रोत मे घपला कर देता है। परन्तु श्रीअरविन्द स्पष्ट कहते हैं "जीवन और शक्ति का स्रोत भौतिक नहीं, आत्मिक है। किन्तु वह आधार या नींव जिस पर कि जीवन और शक्ति स्थित हैं और काम करते हैं भौतिक है।" "भौतिक को आत्मिक तक उठा ले जाना ब्रह्मचर्य है।" "सब वासनाएं, कामवासना या इच्छा आदि, शक्ति को स्थूल रूप मे या उदात्तीकृत सूक्ष्म रूप में बाहर निकाल कर नाश कर देती हैं।" "कार्य मे अनैतिकता इसे स्थूल रूप मे बाहर फेंकती है और विचार में अनैतिकता सूक्ष्म रूप में।"

"दूसरी ओर सब प्रकार का आत्म संयम रेतस् की शक्ति को संरक्षित रखता है और संरक्षण सदा साथ में वृद्धि को भी लाने वाला होता है।" "इस से यह परिणाम निकलता है कि हम ब्रह्मचर्य के द्वारा तपस्' 'तेजस्' 'विद्युत्' और 'ओजस्' के भण्डार को जितना अधिक बढ़ा सकें उतना ही हम अपने आपको सम्पूर्ण शक्ति से भरपूर कर सकेंगे, शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों को करने के लिये शक्ति से भरपूर हो सकेंगे।"

युद्ध का अन्त

(ले०—स्वामी शुद्धानन्द जी भारती)

आजकल का सबसे प्रधान विषय है युद्ध। सज्जन हो या दुर्जन, कोई भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं है। हमारे भोजन, पानी और यहां तक कि सांस लेने की हवा तक पर इसका असर पड़ा है। पूरब और पश्चिम, उत्तर और दक्खिन, नीचे और ऊपर, पृथ्वी और समुद्र सर्वत्र नर रक्त की नदी बह रही है। इतना बहुमूल्य मानव शरीर, जो प्रकृति के युग युगान्तर के क्रमविवर्तन का फल है, आज सामूहिक रूप में विध्वंस किया जा रहा है। वर्षों की मेहनत मिनटों में नहस नहस हो रही है। प्रकाण्ड प्रकाण्ड जहाज, विशालकाय टैंक, बड़े बड़े हवाई जहाज बनाये जा रहे हैं और टुकड़े टुकड़े किये जा रहे हैं। जिस सोने और चांदी को वर्षों व्यवसाय वाणिज्य, उद्योग धंधा करके मनुष्य ने इकट्ठा किया है वह चिता के धूएँ की तरह न मालूम कहां गायब हो रहा है। आज मनुष्य सर्वत्र त्राहि त्राहि पुकार रहा है, नारकीय धूएँ के घोर अंधकार में वह शुद्ध वायु का सांस लेने के लिये छटपटा रहा है।

आज मानो सदाचार, धर्म, न्याय और उनकी ज्योतिर्मयी शक्तियां मानव-मन के घेरे से एकदम विलुप्त होगयी हैं। जापान की तृष्णात्मक महत्त्वाकांक्षा प्राचीन चीन को बेतरह सता रही है। रक्त पिपासु नाज़ी-दल अपनी कठोर सत्यानाशी चक्की के नीचे निरपराध देशों को पीस रहा है। दूसरी तरफ से इन पर भी प्रहार किये जा रहे हैं। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस युद्ध के कारण हमारा धर्मप्राण भारत भी आज किस किस प्रकार दुःख पा रहा है।

आज मनुष्य इस तरह हृदयहीन पागल क्यों हो रहा है, जंगली पशुओं की तरह खून के लिये क्यों लालायित हो रहा है ? इस प्रकार शक्ति, द्रव्य और बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करने का क्या कारण है ? क्या इस रक्त-स्नान को बंद करने का कोई उपाय नहीं है ? आइये, इन बुराइयों की जड़ का पता लगावें और उस पर आघात करें।

(१)

मनुष्य, देवता और पशु के ठीक बीच का प्राणी है। वह एक पशु है जो अपनी पशुता से ऊपर उठ रहा है, वह एक देवता है जो भविष्य में अपने देवत्व को प्राप्त करने जा रहा है। उसके अन्दर दो प्रकार की शक्तियां वर्तमान हैं अच्छी और बुरी जिन्हें सुर और असुर, देव और दानव या ईश्वर और शैतान कोई भी नाम दिया जा सकता है।

मनुष्य जीवन इन्हीं दो शक्तियों का सनातन युद्ध है और यह युद्ध अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। मनुष्य के अन्दर जो 'देव' है वह मूलत भगवान् है, शुद्ध, आनन्दमय, शान्तिमय है। वह सर्वदा मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है। किन्तु मनुष्य के अन्दर जो शैतान या असुर है वह उसे अहकार और महत्त्वाकाक्षा के निम्न स्तर की ओर खींचा करता है। जीवन मानो इन्हीं दोनों शक्तियों की परस्पर खींचातानी है। बुरी शक्तिया हमारी सत्ता के प्राणमय और मनोमय भाग मे उत्पन्न होती हैं। सब प्रकार की बुरी कामनाए, वासनाए, ईर्ष्या द्वेष, घृणा दुश्चिन्ताए इत्यादि प्राणिक अहकार और मानसिक अज्ञान से उत्पन्न होती हैं। जब तक मनुष्य अपनी सत्ता के इन निम्नतर भागों का दास बना हुआ है तब तक वह न तो स्वय शान्ति पा सकता है और न अपने आसपास ही शान्ति को रहने दे सकता है। प्रकृति ने अपना सारा आश्चर्यमय भडार मनुष्य को इसलिये दिया है कि वह अपने सामूहिक जीवन को समृद्धिशाली बनावे। उसने उसे देश और काल को जीतने के लिये बिजली की शक्तिया दी हैं। परन्तु मनुष्य ने प्रकृति की शक्तियों का उपयोग किया है अपने स्वार्थ की वृद्धि के लिये, महत्त्वाकाक्षापूर्ण प्रतियोगिता और सत्यानाशी युद्ध चलाने के लिये। उसके अन्दर विराजमान आत्मा ने उसे तीक्ष्ण बुद्धि दी है जिसमे वह प्रकृति की शक्तियों को महान् कार्यों मे व्यवहृत करे। उसने उसे मन और शरीर का ज्ञान दिया है, भौतिक तत्त्वों का विज्ञान—गणित, पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र, यन्त्रविज्ञान इत्यादि—सिखाया है, उसने उसे प्रकृति के उन खजानों का पता दिया है जो खानों मे छिपे पडे थे जैसे, कोयला, लोहा, ताबा, पैट्रोल, मैगनेट इत्यादि। परन्तु मनुष्य ने जीवनसम्बन्धी प्रश्नों को हल करने और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये समय बचाने के लिये इन दोनों का कोई सदुपयोग न कर इनका दुरुपयोग ही किया है और अपने विचार और जीवन को असुर का कारखाना बना डाला है। वास्तव मे टैंक और टारपेडो की उत्पत्ति जर्मनी या अमेरिका के कारखानों मे नहीं होती। वर्तमान या भूतकाल मे युद्ध के जितने भी सहारकारी अस्त्र शस्त्र बने हैं वे सब मनुष्य के अन्दर विद्यमान मनोमय असुर की ही सृष्टि हैं और वे प्राणिक आकाक्षा को तृप्त करने के लिये ही तैयार किये गये हैं। युद्धके कारण न तो चर्चिल ही हैं न हिटलर। मनुष्य के अशुद्ध प्राणों की जो पागल आकाक्षा है वही इस भयानक खेल को खेल रही है। कोई भी प्रचारकार्य, युद्ध या सधि मनुष्य के इस अगणित भयावह दृश्य उत्पन्न करनेवाले युद्धोन्माद को दूर नहीं कर सकती। अगर आसुरिक शक्तियों के इस विनाशकारी युद्ध के फलस्वरूप सभी वैज्ञानिक और विमान चालक पृथ्वी से विलुप्त भी हो जायँ तो भी युद्ध का अन्त न होगा, यह फिर से धीरे-धीरे मनुष्य के प्राणिक अहकार और मानसिक बर्बरता के अन्दर से उत्पन्न होगा और

जब तक महत्त्वाकाङ्क्षी सत्ता के अन्दर एक बूँद भी रक्त बाकी रहेगा तब तक वह ऐसे ही दुष्कर्म किया करेगी। यह समझना एक निस्सार स्वप्न है कि किसी राजनीतिक कौशल या धार्मिक प्रचार के द्वारा संसार में कभी शान्ति स्थापित होगी। हिटलर और टोजो, स्टालिन और चर्चिल या रूजवेल्ट तो केवल नाम और रूप हैं, ये न तो पहले थे और न बाद में ही रहेंगे। जो कुछ भी आज युद्ध का साज सरजाम है वह सब द्रुतगामी काल के चक्राकार प्रवाह में कल ही विलुप्त हो जायगा, महत्त्वाकाङ्क्षा की आतिशबाजी की राख भर बाकी रह जायगी। इस जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं है, भाग्य की निम्नगामी धारा म सब कुछ बह जाता है। जिस आतंक की आज सृष्टि हुई है, आखिर उसका अन्त होगा ही। परन्तु मनुष्य के अन्दर जो प्राणमय दानव है, उसके अन्दर जो मानसिक अज्ञान है, प्रेम और घृणा, अच्छे और बुरे का जो द्वन्द्व-भाव है, वह फिर उसके अन्दर महत्त्वाकाङ्क्षा को जगायेगा, फिर उसे वही दुःखान्त नाटक खेलने के लिये प्रवृत्त करेगा।

(३)

अतएव इसकी दवा वहीं है जहां इसका कारण है। शान्ति वहीं है जहां युद्ध उत्पन्न होता है। सब कुछ अन्दर से ही आता है। मनुष्य के अन्दर जो कुछ भला या बुरा है उसके लिये सबसे पहले उसमें विचार उठता है, तब शब्द और उसके बाद क्रिया होती है। जब मनुष्य का अन्तःकरण अशुद्ध होता है और उसके प्राण अहंकारमयी आकाङ्क्षा से भरे हुए होते हैं तब उसके विचार, शब्द और कर्म उस सत्यानाशी आकाङ्क्षा से दूषित हो जाते हैं। मनुष्य के अन्दर का यही वह शैतान या अहिमान है जो उसे एक बुराई से दूसरी बुराई की ओर, एक युद्ध से दूसरे युद्ध की ओर, एक स्वार्थ से दूसरे स्वार्थ की ओर ले जाया करता है। आह! कितने ही निर्दोष राष्ट्र प्राणमय मनुष्य की महत्त्वाकाङ्क्षा रूपी चक्की के नीचे पीसे जा चुके हैं। यही प्राणमय दानव एक राष्ट्र के मन प्राण के अन्दर प्रवेश कर उसके द्वारा दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार कराता है। ऐसे कितने ही देश इस राक्षसी शक्ति के द्वारा पददलित और लाञ्छित हुए हैं जिन्होंने कभी अपनी तलवार को दूसरे देश के रक्त से अपवित्र नहीं किया।

(४)

अतएव संसार में यदि कभी स्थायी शान्ति आये, अगर मनुष्य मनुष्य में परस्पर सद्भाव और सुसंगति स्थापित हो तो इसके लिये सबसे पहले उसके अन्तःकरण का सर्वाङ्ग परिवर्तन होना जरूरी है। इसे हम और भी स्पष्ट रूप में समझने की चेष्टा करें।

हमारी सत्ता के दो भाग हैं—जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष। शरीर, प्राण और मन हमारे जड़ भाग के अन्तर्गत हैं और जीव या अन्तरात्मा हमारा चेतन भाग है।

इन दोनों के बीच में है उच्चतर बुद्धि, या विज्ञानतत्त्व या परा बुद्धि, जो हमारी सत्ता के इन दोनों तत्त्वों को जोड़ती है। मनुष्य को इस मध्यवर्ती पराबुद्धि को पाने की चेष्टा करनी चाहिये और ऐसा जीवन यापन करने का प्रयास करना चाहिये जिसमें हमारा आत्मा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो रहा हो, जिसमें हमारी आध्यात्मिक सत्ता जड़मय सत्ता के अन्दर तक ओतप्रोत हो रही हो। आत्मा सम्पूर्ण शान्ति, आनन्द, सत्य, चैतन्य है। जड़ तीनों गुणों और द्वन्द्व-विकारों का सम्मिश्रण है। जो मनुष्य केवल जड़मय चेतना में निवास करता है वह अवश्य ही चार्वाक या कम से कम नीत्शे का अतिमानव बन जाता है और वह अस्त्र शस्त्र तथा युद्ध सामग्री बनाने में ही अपना सारा जीवन नष्ट कर देता है। वह सदा ही अपने पड़ोसी को द्वेष और घृणा की दृष्टि से देखता है। उसकी स्वार्थ भरी क्रूर खच का कोई खयाल न कर अपनी ही उन्नति के लिये नाना प्रकार के हथियारों का आविष्कार करती है और फिर वह एक घर से दूसरे घर में, एक शहर से दूसरे शहर में, एक देश से दूसरे देश में कूदता फांदता चला जाता है। उसकी अहंकार मयी वाणी दूसरे देशों को मूक बनाती है, उनकी मातृभाषा को, उनकी बहुमूल्य परंपरा को नष्ट करती है और अपने स्वार्थ भरे बेलगाम फ़र्मान जारी करती है। हम प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के अन्दर एक ही प्रकार की दमन, अत्याचार और अहम्मन्यता की क्रिया देखते हैं। इस बुराई का प्रधान कारण यही है कि मन प्राण-शरीरस्थ मनुष्य कभी अपने पड़ोसी को आमने-सामने नहीं देख सकता, 'मैं, अकेला मैं, अकेला मेरा' यही उसकी वक्र भृकुटी पर बड़े बड़े अक्षरों में लिखा होता है, वह कभी दूसरे आदमी की उन्नति को नहीं सह सकता। क्योंकि उसको यह ज्ञान ही नहीं है कि दूसरा या तीसरा आदमी भी वही एक आत्मा है जिसने एक ही तत्त्व से बने कई शरीरों को धारण किया है, अन्तर केवल नाम और रूप में ही है। ज्योंही मनुष्य एक बार यह अनुभव कर लेगा कि दूसरे मनुष्य में भी एक ही आत्मा मूर्त्तिमान् हो रहा है त्योंही उसके विचारों में सुसंगति आ जायेगी, उसके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जायगा। मनुष्य को अपने शरीर प्राण और मन के परे उठना चाहिये और शुद्ध पराबुद्धि में निवास करना चाहिये और उसके बाद उस आत्मा को, विशुद्ध आत्मा को जो वह है प्राप्त करना चाहिये। एक बार यदि आत्मा का स्पर्श मिल जाय तो फिर सभी मानसिक कष्टों का, प्राणिक विक्षोभों का अन्त हो जाता है। स्थायी शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। फिर मनुष्य चिरकाल के लिये आनन्दमय हो जाता है। क्योंकि वह आत्मा अपने स्वभाव में सत् चित् आनन्द है। जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह सब को आत्मवत् देखता है, उसके अन्दर बड़प्पन के अहंकार का या राजनीतिक उग्रता का लेश भी नहीं रह जाता। वह अपने अन्दर सारे जगत् को देखता है और सारे जगत् में अपने

आप को देखता है। इसी विश्व-चेतना को लक्ष्य करके उपनिषद् में यह कहा गया है कि "जो सबके अन्दर अपने को देखता है और अपने अन्दर सबको देखता है वह भला किससे भय करे ?"

(५)

इस परम सत्य के सबसे बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ हैं वेद। वेदों मे ऋषियों द्वारा प्राप्त सत्य वाणियों का सग्रह है। वे शाश्वत सत्य के ग्रन्थ हैं। ससार में ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जो जीवन की इन दो शक्तियों के युद्ध का वर्णन वैसे ही स्पष्ट रूप में करती हो जैसे कि वेदों ने किया है। इन सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों का मुख्य विषय यही है कि अन्धकारमयी विरोधिनी शक्तियों के ऊपर, बल और वृत्र के ऊपर भागवती शक्तियों की विजय कैसे हो।

भगवान सच्चिदानन्द हैं। वह शरीर प्राण, मन तथा इससे ऊपर के ज्ञानमय और आनन्दमय लोकों मे परिव्याप्त हैं। वह मबुद्ध विचारों के प्रेरक हैं। वह हमारी सत्ता मे विद्यमान प्रज्वलित सज्ज्योति है। वह पुरुष हैं, शुद्धात्मा हैं। मनुष्य अपने अन्दर की इस सत्य-ज्योति को न जानने के कारण तथा अहकारमयी प्रवृत्तियों से अंध हो जाने के कारण अपने प्राणों मे निवास करता है, असुर के अधीन रहता है। उसके अतृप्त प्राणों की अधेरी गुफाओं में से विरोधी शक्तिया बाहर निकल आती हैं और उसके जीवन को अस्तव्यस्त कर देती हैं। एक दिन वह जीवन का पर्यवेक्षण करता है, सत्य की एक किरण उसके अन्दर प्रवेश करती है। उसी क्षण विशुद्ध सत्ता के अधिष्ठाता इन्द्र-देवता सामने आते हैं, भागवती शक्ति अग्नि प्रकट होती है बृहस्पति सृजनकारी मत्र प्रदान करते हैं; अश्विन, इन्द्र अर्थात् बुद्धि के रथ को जोतते हैं, स्नायवीय शक्तिया अर्थात् मरुत रथ का खींचते हैं, वरुण, मित्र, अर्यमन और भागवती शक्तियों की एक विशाल सेना रथ का अनुगमन करती है। तब माता अदिति हसती हुई आती हैं, वह देवताओं की महाजननी हैं। वह भागवत सेना को आशीर्वाद करती हैं। तब इन्द्र का विजयी रथ रवाना होता है। इन्द्र के नेतृत्व में भगवान् के, प्रकाश के पुत्र अधकार की शक्तियों को परास्त करते हैं सारे जगत् मे शान्ति का जयघोष करते हैं और अमृतत्व का रसास्वादन करते हैं। यही वेदों का प्रधान सत्य है और यही वह सत्य है जिसकी हमें आज आवश्यकता है। आज पृथ्वी पर [illegible] विपत्ति में डाल रखा है उसे दूर करने का एक मा[illegible] शक्तियों के ऊपर भगवान् की विजय हो।

और यही उपाय [illegible] जिससे कि [illegible]

प्यारे को पाना

[सन्त महात्मा की दृष्टि सदा सत्यस्वरूप श्रीभगवान् पर आबद्ध रहती है और इस कारण वे जो कुछ कहते व लिखते हैं उस द्वारा सदा सत्य ही प्रकाशित होता है और वह साधारण जीवों के लिये मार्गदर्शन का काम करता है। इसी भाव से यह एक महात्मा का पत्र हम नीचे दे रहे हैं जिससे कि जिन्हें व्यक्तिगत रूप से यह पत्र लिखा गया है उनके अतिरिक्त अन्य प्रेमी पाठकों को भी इसका लाभ प्राप्त हो सके। पत्र पाने वाले भक्त भाई ने ही औरों के लाभ के लिये हमें यह पत्र प्रकाशनार्थ दिया है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। यह पत्र बंगला भाषा में काश्मीर से ता० ७ जून १६४० का लिखा हुआ है। —स० अ०]

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मुझे पाना, मेरे पास रहना और मेरी सेवा करना तुम लोगों को कितना प्रिय है। × × × (पत्र लिखने वाले महात्मा का अपना नाम) एक प्राणहीन जड़ पदार्थ नहीं है। वह प्रेममय की पूजा करता है, प्रेम को सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझता है। वह कभी प्रेम की अवहेलना नहीं कर सकता। विश्वास करो, उसका प्राण तुम लोगों के हाथों बिक चुका है। किसी के भी कल्याण के लिये, आनन्द के लिये जिस किसी भी समय वह अपना प्राण दे सकता है। तुम लोग जानते ही हो कि वह जगज्जीव को किस दृष्टि से देखता है, कितना प्यार करता है। मनुष्य उसकी दृष्टि में उसके प्रियतम का ही जीवन्त विग्रह है, जीव की सेवा ही उसकी दृष्टि में शिव की सेवा है। वह दूसरी कोई साधना नहीं जानता। उसने सोचा था, जीव की सेवा में ही वह अपना सारा जीवन बिता देगा। परन्तु शरीर ने उस कार्य में बाधा डाल दी। वह शरीर की उपेक्षा करके भी जीव की सेवा करता, परन्तु उसके गुरुदेव के आदेश तथा मित्रों के अनुरोध ने उसकी सेवा की भावना को कुछ पलट दिया है। फिर भी वह सबको सुखी करने की चेष्टा करता है, सबको सारे अन्तःकरण से आशीर्वाद करता है। उसने अपनी छात्रावस्था में ही भगवान् से कहा था, " 'येन वा भवति सुखजातम्' — जिसमें तुम्हें सुख हो वही तुम करना। मुझे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा है कि तुम मंगलमय हो। जो कुछ शुभ है जो कुछ आनन्दप्रद है—वह किये बिना तुम नहीं रह सकते, इसलिये तुमसे अब मुझे कुछ भी प्रार्थना करनी नहीं है। मेरा जीवन तुम्हारे चरणों में उत्सर्ग हो चुका है।" तो अब उनकी इच्छा पूरी करने के सिवा दूसरा कोई काम करना मेरे लिये उचित नहीं। इसी कारण यह पद—'पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा'—मुझे बहुत अच्छा लगता है। जब तक मैं उनकी इच्छा नहीं जान पाता तब

करते हो, मेरे पास आने की चेष्टा करते हो, मेरे समान होने से सुखी होते हो। विश्वास करो कि मैं भी तुम लोगों को सुखी करने के लिए इच्छुक हूं। परन्तु इस एक शरीर को भला मैं कितने आदमियों को दे सकता हूं? इस वृद्ध, जराजीर्ण शरीर को कितनी जगह ले जा सकता हूँ? इस शरीर को भला तुम लोग कितने दिन तक अपने पास रख सकते हो? शरीर के मोह को दूर करना भी भगवान् का एक उद्देश्य है और इसी कारण यह मेरा भी काम है। कभी कभी प्रियजनों को जो भगवान् हमसे दूर ले जाते हैं उसके अन्दर भी भगवान् का एक मंगलमय उद्देश्य मुझे दिखायी देता है। वह हमारे मन को भीतर की ओर ले जाना चाहते हैं, धीरे धीरे आत्मा के पास पहुंचाकर हमारे जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं, हमको पूर्णानन्द में डुबाये रखना चाहते हैं। वह प्रेममय भला यह कैसे सह सकते हैं कि हम केवल स्थूल शरीर को ही लेकर भूले रहें, इतना धोखा खायें? इस श्लोक को स्मरण करो—

> संगमविरहविकल्पेन सगम विरहोऽपि तस्य।
> सगमे एकरूपता विरहे तन्मय जगत्॥

हमारा प्रियजन जब हमारे पास होता है तब हमारा सारा प्राण उसके स्थूल शरीर की ओर लगा रहता है, जब वह हम से दूर चला जाता है तब हमारा मन उसके गुणों को स्मरण करता हुआ उसके सूक्ष्म भावों की ओर जाने की चेष्टा करता है। अगर हमारा मन उसके आत्मा तक चला जाय तब आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण वह जगत् के सभी पदार्थों में अपने प्रियजन का आस्वादन करता है, उस समय जगत् तन्मय (प्रियजनमय) हो जाता है, मन भी तन्मयता प्राप्त करता है। उसी समय वास्तविक प्रेम सार्थक होता है।

तुम लोग यह अच्छी तरह याद रखना कि किसी को भी केवल स्थूल में पाना चार आना मात्र पाना है, सूक्ष्म में पाना आठ आना है, कारण में पाना बारह आना है, केवल आत्मा में ही पाना सोलह आना पाना है। उस समय पाना अविराम पाना है, उस पाने की सीमा नहीं। उसी पाने में प्रियजन को भी पाया जाता है, आत्मा और परमात्मा को भी पाया जाता है। तुम लोग ऐसी चेष्टा करो जिसमें अपने प्रियजन को थोड़ा अधिक पा सको। उस समय तुम लोग देखोगे कि तुम लोगों का जो प्रिय है वही तुम लोगों का 'परम श्रेय' बन गया है। तुम लोगों का पाना, तुम लोगों का प्रेम भगवत्प्राप्ति में, भगवत् प्रेम में परिणत हो कर सार्थक हो गया है। तुम्हीं लोग इस बात के साक्षी हो कि दूर रह कर अधिक पाया जाता है, सुन्दर रूप में पाया जाता है। इस बात को थोड़ा सोच विचार कर देखो कि जिसे तुम लोग पाना चाहते हो उसे किस तरह पूर्ण रूप से पा सकते हो। अगर मैं पांच आदमियों का समष्टि होऊं तो मेरे भीतर के पांचों आदमियों

को पाये बिना क्या मुझे अच्छी तरह पाया जा सकता है ? मेरे भीतर साधारणत है एक शरीर, एक प्राण, एक मन, एक बुद्धि, एक अहंकार, एक आत्मा। इसके साथ ही यह भी सदा याद रखना चाहिये कि पाने का मतलब है जानना और होना। जब तक किसी को अच्छी तरह जाना नहीं जाता, उसमें तन्मय नहीं हुआ जाता तब तक उसे अच्छी तरह पाया भी नहीं जा सकता। स्थूल शरीर को पाना बड़ा आसान है, क्या तुम लोग केवल उसी को पाना चाहते हो ? उसमें अगर प्राण न हो तब तो उसे मुंह में आग डाल कर विदा कर देना होगा। उसके बाद प्राणयुक्त शरीर का भी यदि पा लो तो उसे भी कितने दिन पकड़ कर रख सकते हो ? प्राण को पाना उतना सहज नहीं है। किसी के प्राण को पाने के लिये उसके प्राण को जानना होगा, उसका प्राण कितना उदार है, उसका प्राण सबका कितना प्यार करता है, सबके सुख के लिये कितनी चेष्टा करता है— यह सब अच्छी तरह जानना होगा, उसी की तरह सोचना, काम करना सीख कर अपने प्राण को उसके प्राण-जैसा बनाना होगा। जिसका प्राण जीव के दुःख के प्रति उदासीन हो वह उसके प्राण को हृदयंगम नहीं कर सकता जो जीव के दुःख से कातर हो उठता है। किसी आदर्श पुरुष के मन को पाने के लिये यह जानना होगा कि उनका मन कितना द्वन्द्वातीत, कामना वासना आसक्ति से रहित, निर्मम, निरहंकार, शुद्ध, शांत, 'सर्वभूत हिते रत' है, उनका ध्यान करके उनके मन के जैसा अपने मन को तैयार किये बिना उनके मन को ज़रा भी नहीं पाया जा सकता। उनकी बुद्धि को पाने के लिये यह अनुभव करना होगा कि उनकी बुद्धि कैसी संकल्प विकल्प रहित, निश्चयात्मिका है, किस प्रकार सच्चे सार पदार्थ का निश्चय कर वह उसमें कैसे तन्मय रहती है, अन्य भावों से रहित होती है, और फिर अपनी बुद्धि को वैसी ही बनाने की चेष्टा करनी होगी। उनके अहंकार को पाने के लिये यह जानना चाहिये कि उन्होंने किस प्रकार अपने व्यक्तिगत तामसिक अहंभाव का त्याग कर, अपने को भगवान् का अंश या प्रतिबिम्ब समझ कर, उसी भाव से आत्म निवेदन कर, उनका (भगवान् का) हो कर दास भाव से उन्हीं की सेवा में, उनके प्रिय कार्य को करने में अपने आप को नियुक्त कर रखा है और इस तत्त्व को ठीक ठीक समझ कर उन्हीं की भांति 'दासोऽहम्'-भाव प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। उनकी आत्मा को अगर पाना हो तो उसे तभी पा सकते हो जब तुम पूर्ण रूप से उन्हीं के साथ तन्मयता प्राप्त कर अपने आत्मा के नित्य, सर्वगत, शुद्ध, बुद्ध, अपाप-विद्ध, आनन्दरूपममृत, शांत, शिवमद्वैतम् तत्त्व का आस्वादन करोगे। याद रखो तभी उन्हें पूर्ण रूप से पाया जा सकता है।

जो लोग चिट्ठी में 'प्राणाधिक' 'मैं तुम्हारा हूँ' इत्यादि बातें पढ़ कर भुलावे में

आ जाते हैं, प्रतारित होते हैं, उनकी बात अलग है। दिना दिये पाया नहीं जा सकता। यह भगवान् का विधान है। अपनी समस्त कामना, वासना, आसक्ति, सुखस्पृहा, प्रतिष्ठा, मोह आदि का विसर्जन कर उन्हीं में तन्मयता लाभ किये बिना, 'तन्निष्ठ तत्परायण' हुए बिना किसी को भी नहीं पाया जा सकता। विचार करके देखो कि वृन्दावन की गोपियों ने कब और किस प्रकार से श्रीकृष्ण को पाया था। वे भगवान को पाने का रास्ता जीव को दिखा गई हैं। तन्मनस्का, तदालापा, तद्विचेष्टा, तदात्मिका होने से जब देह, गेह की स्मृति तक चली गयी थी तभी उन्होंने अपने अभीप्सिततम प्राणाराम को पाया था। उनका वह पाना ऐसा पाना था कि उस पाने के वर्णन मात्र से शुकदेव मतवाले हो गये थे, चैतन्यदेव ध्यान में समाहित हो गये थे। याद रखना आत्मा तक पाये बिना कुछ भी पाना नहीं होता। अगर किसी को भी पाने की साध हो तो पाने के लिये साधना आरम्भ करो। अपने आपको जितना पाओगे उससे अधिक किसी को भी नहीं पा सकते। तुम लोग स्वयं अपने भीतर घुसने की चेष्टा करो, अपने प्रियजन को भी अपने भीतर घुसने में सहायता करो। अपने को जितना पाओगे, प्रियजन को भी ठीक उतना ही पा सकोगे, उससे अधिक जरा भी नहीं। जो अपने आपको जितना सा पाना सीखा है वह किसी भी साधु महात्मा के पास जा कर उन्हें उतना ही पा सकता है। अवश्य ही जिसने अपने आपको अधिक मात्रा में पाया है उसके सान्निध्य में जाने से अपने को प्राप्त करने में बहुत आसानी होती है। किसी 'जगदीश वसु' के पास जाकर विज्ञान पढ़ सकना आसान है। पर जब तक 'जगदीश वसु' के ज्ञान का कोई एक तत्त्व जानकर, उस तत्त्व को हृदय गम कर अपना नहीं बना लिया जाता तब तक उनको उस विषय में जरा भी नहीं पाया जा सकता।

तो स्थूलतः समीप रहकर पाने में जिस तरह एक सुविधा है उसी तरह एक असुविधा भी है, एक महान् विपत्ति भी है। मनुष्य के अन्तर से अहंभाव की प्रतिष्ठा करने का मोह जल्दी नहीं जाता। वह अपने जानने के लिये जितना व्यस्त होता है, उससे अधिक दूसरे को जानकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये व्यस्त होता है। थोड़ा सा पाकर ही स्वयं जो कुछ पाया है उसे दूसरों को जनाने के लिये व्यग्र हो उठता है। इसीलिये पूर्णरूप से पाने से पहले, अहंकार दूर होने से पहले अपने पाने की बात किसी से भी नहीं कहनी चाहिये। मन्त्ररहस्यसिद्धि को मातृजारवत् छिपा कर रखना चाहिये। प्रकाश के नीचे जो अंधकार होता है, महापुरुषों के सन्तान और भक्त जो बहुत बार वंचित होते हैं, पीछे पड़ जाते हैं, इसका कारण भी यही दिखायी देता है। पास रहने की, सेवा करने की वासना बहुत बार इतनी प्रबल हो उठती है कि उस समय अन्य साधना की बात, उपदेश की बात याद ही नहीं रहती। समीप रहकर सावधान होने की अपेक्षा बहुत बार दूर

रह कर सावधान होना आसान होता है। इसीलिये जो लोग सचमुच मे अपना मगल चाहते हैं वे कुछ दिन समीप रहकर, कुछ देख सुन-समझ लेते हैं और फिर उसके बाद कुछ दिन दूर रहकर साधना के द्वारा उस विषय मे सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। जितना सा देखा है, उपदेश सुना है, उतनी सी तन्मयता प्राप्त करने की, उतना सा लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। उसके बाद फिर कुछ दिन और समीप रहकर कुछ जानने, पाने और होने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार करने के कारण पाना भी स्वाभाविक होता है, प्रतिष्ठा का मोह भी नहीं जगने पाता, दूसरा कोई भी धोखा नहीं खाता। मनुष्य मे अपने सुख की इच्छा, अधिक खाने, जल्दी जल्दी खाने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि अपनी हजम करने की शक्ति की ओर वह उस समय एक बार भी नहीं देखता, यहा तक कि उपदेशों को भी ठीक ठीक नहीं समझ पाता। उस समय अन्तर्यामी भगवान् बड़ी चतुराई के साथ उसे ठीक रास्ते पर आने के लिये बाध्य करते हैं। भगवान मे प्रेम की अधिकता होने के कारण वह किसी पर जोर करना पसन्द नहीं करते। हम लोग अपने आप ठीक रास्ते पर चलने, उनको सुखी करने की चेष्टा नहीं करते। वह जितना देना चाहते हैं उसके करोड़ भागों मे से एक भाग भी हम लेना नहीं जानते। वह चूँकि मा हैं, इसलिये कुपथ्य देकर सन्तान का अनिष्ट करना नहीं चाहते। तुम लोग चाहते हो, मैं भी कहता हूँ, खूब पाओ, पूर्ण होओ, थोडे से तृप्त मत होओ, पर उसे हजम करो।

इस प्रकार कई विषयों मे उपदेश और दृष्टान्त के द्वारा तुम लोगों को शिक्षा देने की यथेष्ट चेष्टा की गयी है। परन्तु जितनी शिक्षा की जरूरत थी क्या उतनी शिक्षा हुई है ? मुझे पाने की, मेरा सग प्राप्त करने की यदि इच्छा हो तो तुम लोग यह समझने की चेष्टा करो कि कौन कौन से भाव मुझे प्रिय हैं। उनमे से दो तीन को विशेष रूप से ग्रहण कर उनके अनुसार जीवन बनाने की चेष्टा करो। मैं कैसे चलता हू क्या पसन्द करता हूँ विशेषत युवावस्था मे मैं किस प्रकार चला करता था उसे थोडा और भी अधिक प्राण देकर अच्छी तरह समझने की चेष्टा करो। अपने सस्कार और अभिप्राय का त्याग कर देखना और समझना होगा, अन्यथा भूल होना ही स्वाभाविक है। खूब शान्त होकर विचार करो और देखो कि तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो। यदि कोई सासारिक चीज, किसी प्रकार की प्रतिष्ठा चाहो तो उसे मेरे पास नहीं पा सकते। यदि अन्य सभी अभिलाषाओं को छोडकर अपना कल्याण चाहो, शान्ति चाहो भगवान को चाहो सब यथासम्भव सहायता पा सकते हो। तब खडा होना होगा अपनी इच्छा से अपने पैरों, क्योंकि मैं किसी को भी अपनी इच्छा के अधीन गुलाम बनाकर रखने के लिये बाध्य नहीं। मैं स्वाधीनता पसद करता हूँ और इसी कारण सबको स्वाधीनता देना, स्वाधीन देखना भी पसद करता हूँ। याद

विकार और उद्धार

रचयिता—प० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश'

मानव ! विकार का भार लिये फिरता है।
अपनी करनी से आप स्वयं गिरता है॥

सोने सा सुन्दर तूने नर तन पाया।
तुझ पर विधि ने करुणा का नभ है छाया॥
उठकर 'दिनेश' ने जीवन पथ दर्शाया।
शशि बालाओं ने सौम्य सुधा बरसाया॥
उन सबको खोकर देन न जाने क्यों तू,
घुटता घुलता चिन्ताओं में घिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

तू निर्मल तूने पहिना दूषित बाना।
मन की मृदंग में भूल गया तू गाना॥
छोड़ा विराग का राग मधुर मस्ताना।
यौवन के मद ने बना दिया दीवाना॥
ममता की मृगतृष्णा की भूल भटक में,
ओ अस्थिर ! तेरे सुख में अस्थिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

बहती अनन्त से रहती सुख दुख धारा।
यह मृत्युलोक है उसका एक किनारा॥
उस पार लोक आलोकित ध्येय हमारा।
नर तरते पुरुषोत्तम का लिये सहारा॥
तू परम पिता का पूत कपूत भले ही,
पर वह तेरा उद्धार लिये फिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

गीता में अनासक्ति-योग

(ले०—श्री अनिलवरण राय)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ गीता ६।४

जब मनुष्य इन्द्रियभोग्य विषयों मे अथवा कर्म में आसक्त नहीं होता और सब प्रकार के सकल्पों का त्याग करता है तभी उसे योगारूढ कहते हैं।

जो मनुष्य योग के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है वह किसी इन्द्रियभोग्य विषय मे आसक्त नहीं होता और न किसी कर्म मे ही आसक्त होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विषय का ही त्याग कर देता है, कर्म का ही परित्याग करता है, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि वह साधारण मनुष्यों की तरह इन सब बातों मे आसक्त नहीं हो जाता और यहा पर बस गीता इतना ही कहना चाहती है। साधारण मनुष्य आसक्ति के वश मे होता है और इसी कारण उसका चित्त चचल और विक्षुब्ध रहता है—भोग वस्तु के सामने आने पर उसे पकड़ने के लिये वह चचल हो उठता है, सर्वदा ही कोई न-कोई कर्म करने के लिये वह बेचैन रहता है—इस प्रकार सदा चचल और विक्षुब्ध रहने के कारण वह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु योगी सब प्रकार की आसक्ति को त्याग देता है, सब प्रकार के सकल्पों को छोड़ देता है, वह अपने भोग के लिये कोई चीज नहीं चाहता, अपने लिये कोई काम करने के लिये वह नहीं छटपटाता, इसी कारण वह प्रशान्त रहता है, वह सदा ही गम्भीर शान्ति मे प्रतिष्ठित रहता है और उसीसे ज्ञान परिपक्व होता है और योग में दृढता प्राप्त होती है।

यहा पर कर्म मे आसक्ति का त्याग करने का मतलब यह निकलता है कि योगी वास्तव मे कर्म का परित्याग नहीं करता। परन्तु शकर ने यह अर्थ नहीं ग्रहण किया है। उनके मतानुसार कर्म का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने यहा पर 'अनुषज्जते' शब्द का अर्थ 'आसक्ति' नहीं किया है। गीता के दूसरे सभी व्याख्याकारों ने 'न अनुषज्जते' का सहज और स्वाभाविक अर्थ 'आसक्त नहीं होता' ही ग्रहण किया है। परन्तु शकर की कुशाग्र बुद्धि ने यह देखा कि यह अर्थ ग्रहण करने से अपना मत ही दुर्बल हो जायगा, इसलिये उन्होंने इसका एक अपना कपोलकल्पित कृत्रिम अर्थ कर डाला। वह अर्थ करते हैं कि, नानुषज्जते अनुषंग कर्त्तव्यताबुद्धि न करोति इत्यर्थ । अर्थात् कर्म में जिसकी कर्तव्यबुद्धि नहीं है, अतएव जो कर्म नहीं

करता। परन्तु वास्तव मे आसक्ति का अर्थ कर्तव्यबुद्धि नहीं है, वल्कि आसक्ति का त्याग कर कर्तव्यबुद्धि से सब कर्म करना ही गीता के मतानुसार सच्चा कर्मयोग है। एक दूसरे स्थान मे गीता कहती है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३।१९

इसके अतिरिक्त इसी श्लोक मे केवल कर्म मे अनुषग का त्याग करने को नहीं कहा गया है बल्कि इन्द्रियभोग्य विषय मे भी अनुषग का त्याग करने को कहा गया है। इन्द्रिय विषय मे कर्तव्यताबुद्धि का त्याग करने की अद्भुत बात सुनाना निश्चय ही गीता का उद्देश्य नहीं है। अतएव यहां पर अनुषग का अर्थ आसक्ति ही समझना होगा—बाह्य विषय या कर्म का त्याग नहीं, इन सब चीजों में आसक्ति का त्याग ही गीता की शिक्षा है।

शकर ने आसक्ति के त्याग और कर्म के त्याग, तथा ससार के त्याग दोनों को एक कहा है, उनके मत मे आसक्ति का त्याग करने का अर्थ ही है ससारत्यागी सन्यासी हो जाना। इस तरह शकर ने जो गीता की व्याख्या की है उसी को गीता की वास्तविक व्याख्या मानकर आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों-से बहुत से लोग गीता की शिक्षा के प्रति उदासीन हो गये है। उनका कहना है कि गीता के अन्दर कुछ अच्छी बातें होने पर भी वे सब विरोधपूर्ण है और मानव समाज के लिये कल्याणकारी नहीं है। अभी हाल मे इसी तरह के एक विख्यात लेखक ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि "गीता ग्रथ का ईश्वरवाद प्रलोभक होने पर भी उसके भीतर बहुत से विरोधी तत्वों का प्रसग विद्यमान है। वैराग्यवाद, अनासक्तिवाद और संन्यासवाद पूर्णतर और व्यापकतर जीवन के लिये सहायक नहीं हैं। भारत की अधोगति का मूल कारण यह सक्रामक वैराग्यवाद ही है। कामिनीकाचन का त्याग आदि इसीका एक अवश्यम्भावी क्षुद्र अगमात्र है। तंत्र मे नारी को तथा देवी को ही शक्तिस्थानीया कहा गया है। तान्त्रिक बौद्ध और हिन्दूवाद एक मुहूर्त मे सारे एशिया को अजेय बनाता है। मायावाद और सन्यासवाद के साथ भोग या शक्तिवाद को नहीं युक्त किया जा सकता। विवेकानन्द ने मायावाद का प्रचार किया है—ठाकुर रामकृष्ण ने भी कामिनीकाचन का प्रश्न उपस्थित किया है, अथच कार्यत शक्तिरूपिणी नग्ना शिवसयुक्ता तान्त्रिक महादेवी की ही उन्होंने आराधना की है। इस कारण अवश्यभावी आत्मविरोध, अस्पष्ट प्रतीति और सत्य की अवगुण्ठित मूर्ति का ध्यान आ उपस्थित हुआ है। कुलार्णवतत्र का 'भोगो योगायते सम्यक्' और 'मोक्षायते

संसार' जिस अध्यात्मपुरी का द्वार उन्मुक्त करता है उससे बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक इस देश ने किनारा ही काटने की चेष्टा की है।"

लेखक ने यहाँ पर वैराग्य और अनासक्ति को शंकर का अनुसरण करते हुए कर्मत्याग मूलक संन्यास के साथ एक कर दिया है और इसी कारण उन्हें गीता के अन्दर विरोध दिखाई पड़ा है—क्योंकि गीता ने वैराग्य और अनासक्ति के ऊपर जिस प्रकार जोर दिया है कर्मके ऊपर भी उसी तरह जोर दिया है—कर्मत्याग करने के प्रति आसक्ति का भी त्याग करने को कहा है—"मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।" इसमें कोई संदेह नहीं कि शंकर द्वारा प्रचारित संक्रामक संन्यासवाद भारत की अधोगति की जड़ में मौजूद है, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि गीता ने वैसे संन्यासवाद का प्रचार नहीं किया है—गीता ने जिस वैराग्य, अनासक्ति, संन्यास के आदर्श का प्रचार किया है उसके साथ जीवन का या संसार के कर्म का, यहां तक कि युद्ध जैसे घोर कर्म का भी विरोध नहीं है—गीता का आदर्श भगवान् यों कहते हैं—

> मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥ ३।३०

यहां पर गीता सर्व कर्मों का संन्यास करने को कहती है और साथ ही उत्साह के साथ युद्ध करने को भी कहती है। यहां पर संन्यास का अर्थ कर्मत्याग नहीं है, उसका अर्थ है सब कर्मों को भगवान् में न्यस्त करना, भगवान् को अर्पण करना। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, प्रकृति ही भगवान के आदेशानुसार मेरे स्वभाव द्वारा सब कर्म करती है—यह उपलब्धि होने पर ही सब कर्म भगवान् को अर्पण करना संभव होता है और यही है गंभीर और पूर्ण मुक्ति। इसके लिये आवश्यकता है सब प्रकार के अहंकार, कामना वासना और आसक्ति का त्याग करने की।

पश्चिमी शिक्षा पाये हुए लोग शंकर के साथ सहमत हुए हैं, क्योंकि उनके विचार में कामना, आसक्ति, अहंभाव के न होने पर कर्म हो ही नहीं सकता, यहां तक कि सारा जीवन ही शून्य हो जाता है, अतएव आसक्ति आदि का त्याग करना और संसार छोड़कर संन्यासी हो जाना एक ही बात है। किन्तु गीता ने बार बार ठीक इसी बात का प्रतिवाद किया है।

पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में पड़ कर हमारे देश के शिक्षित लोगों ने वासना और आसक्ति के वशवर्ती अहंभावापन्न जीवन को ही जीवन समझना सीखा है। यह भी एक जीवन है इसमें संदेह नहीं। परन्तु इसी में जीवन की पूर्णता नहीं है, यह मनुष्य को क्षुद्र तुच्छ सुखभोग के प्रति आकृष्ट कर रखता है, इस जीवन के साथ जरा, व्याधि,

मृत्यु, आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक सब प्रकार के दुःख इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि भारत के अध्यात्म शास्त्र में इस जीवन को मृत्यु ही कहा गया है, "मृत्यु सागरात्"। इस जीवन को एकदम छोड़ कर ब्रह्म में लीन हो जाना ही सन्यासियों की शिक्षा है। परन्तु आसक्ति का वर्जन कर इसी जीवन को रूपान्तरित करना, इसी स्थूल जड़ मानव शरीर के अन्दर सच्चिदानन्द के अनन्त ज्ञान, शक्ति, प्रेम, आनन्द को प्रकट करना ही मानव जीवन की सच्ची पूर्णता है, मानव जन्म का वास्तविक लक्ष्य है। वेद, उपनिषद् और गीता में हम ऐसे ही पूर्ण अमृत दिव्य जीवन का संकेत पाते हैं। युग युगान्तर की अभिज्ञता और साधना के द्वारा मनुष्य पृथ्वी पर ऐसे ही दिव्य जीवन को प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और इसी को कार्यतः सुसिद्ध करना वर्तमान युग में श्रीअरविन्द का महान् जीवन व्रत है।

इन्द्रियभोग्य विषयों की आसक्ति को छोड़ना ही होगा। अमुक भोग्य विषय मुझे चाहिये ही, इसके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता—इस प्रकार के भाव को ही आसक्ति कहते हैं। यही दुःख का मूल है, क्योंकि संसार में हम कौन सी चीज पायेंगे या नहीं पायेंगे यह हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। भगवान् की इच्छा के अनुसार ही संसार के सभी कार्य व्यवस्थित होते हैं। अतएव जो लोग किसी चीज के प्रति आसक्त न हो कर भगवान् की इच्छा के साथ अपनी इच्छा युक्त कर देते हैं, मिला देते हैं, भक्ति के साथ यह कहते हैं कि 'हे भगवान्! मैं सुख दुःख, प्रिय-अप्रिय की कोई भी परवाह नहीं करूंगा, तू अपने हाथ से जो कुछ मुझे देगा वैसे ही माथे चढ़ाऊंगा" वे ही वास्तव में संसार का रहस्य समझते हैं वे सब वस्तुओं में, सब घटनाओं में एक समान आनन्द पाते हैं, वे सब वस्तुओं के स्पर्श में परम प्रेमास्पद के आलिंगन का सुख उपभोग करते हैं। किसी बाह्य वस्तु को सुख का आकर, सुख का कारण समझना अज्ञान है। वास्तव में सब प्रकार के आनन्द का मूल स्रोत सच्चिदानन्द आत्मा या भगवान् हमारे अन्तरतम प्रदेश में विराजमान हैं, हम अपनी मूल सत्ता में उनके साथ एक हैं—बाह्य वस्तुओं की आसक्ति का त्याग करने का अभ्यास करने से हमें अपने अन्दर विद्यमान इस अनन्त आनन्द के भंडार का पता मिलता है, उसके अन्दर प्रतिष्ठित होने से हमारा सारा जीवन आनन्दमय बन जाता है। और इस प्रकार अन्तर में जिस आत्मा और भगवान का हमें पता मिलता है, बाहर में विचित्र वस्तुओं और घटनाओं के अन्दर, सब जीवों के, सब मनुष्यों के अन्दर हम उसी एक ही सच्चिदानन्द को देखते हैं, स्पर्श करते हैं, उनके प्रेम का अनुभव करते हैं—इसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण, व्यापक और कौन सा जीवन हो सकता है? जब तक हम वासना और आसक्ति के वश में रहते हैं तब तक

हम अपने आपको तुच्छ, क्षुद्र सुखों के अन्दर ही सीमाबद्ध रखते हैं वे सुख देखते-देखते खतम हो जाते हैं, उन सुखों को पाने में दुःख, उनके भोग में दुःख, आगे, पीछे और बीच में दुःख उनके साथ ओतप्रोत होता है, इसलिये अध्यात्म शास्त्र उन्हें दुःख के अन्दर ही शामिल करता है। आसक्ति का त्याग कर, तथा सब प्रकार की आसक्ति और वासना के मूल क्षुद्र अहभाव का त्याग कर इस व्यापक दुःख का मूलोच्छेद किया जाना है। उस समय फिर इन्द्रिय-भोग्य विषयों का त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, इन्द्रिया भी रूपान्तरित हो जाती हैं, उनमें नवीन शक्तियों का विकास होता है, इसी अवस्था को लक्ष्य करके ही तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—भोगो योगायते सम्यक्। गीता भी कहती है—

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २।६४

केवल इन्द्रियभोग्य विषयों की आसक्ति को ही नहीं, वरन् कर्म की आसक्ति को भी छोड़ना होगा। कर्म की आसक्ति छोड़ने का वास्तविक अर्थ क्या है इसकी धारणा करना आधुनिक मनुष्य के लिये कठिन है, क्योंकि आधुनिक मनुष्य पाश्चात्य भाव से प्रभावित हुआ है, और पाश्चात्य आदर्श है कर्मवाद, activism, dynamism। अनवरत अशान्त भाव से कर्म करो—बस यही पाश्चात्य शिक्षा है। आसक्ति के साथ, आग्रह के साथ कर्म करना ही पाश्चात्य मतानुसार प्रकृत जीवन है। हमारे देश के शिक्षित व्यक्तियों ने भी इसी आदर्श को ग्रहण किया है। और केवल इतना ही नहीं, उन में से बहुतेरों ने गीता के भीतर से भी यही अर्थ बाहर किया है। उनके मतानुसार गीताने पाश्चात्य कर्मवाद या activism की ही शिक्षा दी है। उनके मत में गीताने जो अनासक्ति की बात कही है वह है कर्मफल की आसक्ति का त्याग Duty for the sake of duty। महात्मा गाधी ने अपने गीता भाष्य में गीता की अनासक्ति की यही व्याख्या दी है और गीता के योग को 'अनासक्तियोग' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने लिखा है, "जो मनुष्य परिणाम को ध्यान में रखकर कार्य करता है वह बहुत बार कर्म और कर्तव्य से भ्रष्ट होता है। उसके भीतर अधीरता आती है, उसके कारण वह क्रोध के वशीभूत होता है और फिर जो नहीं करना चाहिये वही करता है। × × × फलासक्ति के ऐसे कटु परिणाम से गीताकार ने अनासक्ति अर्थात् कर्मफल के त्याग का सिद्धान्त बाहर कर अत्यन्त चित्ताकर्षक भाष्य में उसे जगत के सामने उपस्थित किया है।"

इसमें कोई सदेह नहीं कि गीता ने कर्मफल के त्याग की शिक्षा दी है। गीता ने कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। किन्तु साधारणतया लोग जो यह

समझते हैं कि यही गीता का महावाक्य है, यह वास्तव मे ठीक नहीं है, और गीता की अनासक्ति केवल कर्मफल के प्रति ही अनासक्ति नहीं है, बल्कि वह और भी गभीर और व्यापक है। गीता ने जो यह कहा है कि 'कर्म मे तुम्हारा अधिकार है', यह बात पाश्चात्यभावापन्न मन के लिये बहुत आकर्षणीय होने पर भी यही गीता की चरम वाणी नहीं है। यह तो केवल गीता के कर्मयोग की प्रथम अवस्था के लिये उपयोगी उपदेश है क्रमश साधक को इस अवस्था के परे उठना होगा, यह अनुभव करना होगा कि वास्तव मे कर्म मे उसका अधिकार नहीं है। 'मैं कम करता हूँ'—यह धारणा अज्ञान से उत्पन्न होती है। प्रकृति ही सत्त्वादि गुणों के द्वारा हमारे सभी कर्मों को करती है। जब इस सत्य की उपलब्धि होती है तब केवल कर्मफल से ही नहीं, बल्कि कर्म से भी आसक्ति चली जाती है। तभी साधक वास्तव मे मुक्त, योगारूढ़ होता है। उस अवस्था म भी उसके भीतर प्रकृति का कर्म जारी रह सकता है और जारी रहता है, परन्तु यह कर्म किसी प्रकार की भी प्रतिक्रिया या बन्धन की सृष्टि नहीं करता, अतएव उस समय कर्म त्याग की आवश्यकता या सार्थकता भी नहीं रहती। अपनी कोई आवश्यकता न होने पर भी मुक्त पुरुप जगत् के हित के लिये, लोकसग्रह के लिये आवश्यक, कर्तव्य कर्म को सुचारु रूप से ही सपन्न किया करते हैं। अर्थात् मुक्त, स्वाधीन भाव से वे अपनी प्रकृति को उन कर्मों को करने की अनुमति दिया करते हैं। प्रकृति के द्वारा चालित होकर वे कर्म मे लिप्त नहीं हो जाते। यही कर्म मे अनासक्ति है।

परन्तु शकर ने कर्म की आसक्ति का त्याग करने का अर्थ एकदम सब प्रकार के कर्मों का त्याग ही समझा है। उनके मत में सर्वकर्मत्यागी सन्यासी ही सच्चा योगारूढ़ है। आधुनिक मनुष्य शकर की इस शिक्षा को नहीं ग्रहण कर पाते, कर्म उन्हें चाहिये ही, इसी कारण वे कहते हैं कि शकर का अद्वैतवाद महान होने पर भी उनका सन्यासवाद वर्जनीय है। वे देखते हैं कि एक को ग्रहण करने से दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ता है, अन्यथा सगति नहीं रहती। महात्मा गाधी ने अपने गीता भाष्य में इस समस्या का यह समाधान किया है कि सब कर्म त्याज्य नहीं हैं, बल्कि जो कर्म आसक्ति के बिना नहीं हो सकते वे ही सर्वथा त्याज्य हैं। उनके मत में युद्ध, हिंसा, रक्तपात आदि कार्य आसक्ति के बिना नहीं हो सकते, अतएव इन सब कर्मों का त्याग करने की ही शिक्षा गीता देती है। परन्तु गीता ने स्पष्टरूप से यह बात कही है कि अनासक्त होकर हत्या की जा सकती है। गीता ने भी अहिंसा की शिक्षा दी है—परन्तु वह भीतरी, बाहरी नहीं—अनासक्ति के साथ जो युद्ध किया जाता है, हत्या की जाती है वह वास्तव में हिंसा नहीं, अहिंसा ही है—

यस्य नाहकृतो भावो बुद्धि र्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८।१७

गीता ने बाह्य युद्ध का भी इतने स्पष्ट रूप मे उपदेश दिया है कि अहिंसावादी महात्मा गाधी भी उसे अस्वीकार नहीं कर सके हैं। तब उन्होंने कहा है कि वह तो उस समय की बात थी और उस समय की अवस्थानुसार कही गयी है। पर महात्मा जी की ४० वर्ष की व्यक्तिगत अभिज्ञता यह है कि अनासक्त और कर्मफलत्यागी होने के लिये युद्ध जैसे घोर प्रचड कर्म का त्याग करना ही होगा। गीताकार से मतभेद दिखाते हुए उन्होंने कहा है—"कवि सब प्रकार के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जगत् के सामने रखते है। इसी कारण यह बात नहीं कही जा सकती कि उन्होंने स्वय सब समय अपना महत्त्व सपूर्ण रूप से जाना है अथवा जानने के बाद उसे भाषा मे पूर्णरूप मे व्यक्त किया है। इसी मे काव्य और कवि की महिमा है। × × × इसीलिये गीता के महाशब्द का अर्थ युग युग मे बदल रहा है और विस्तृत हो रहा है।"

परन्तु वास्तव मे गीताकार ने कोई भूल नहीं की है। यह हिन्दूधर्म की प्राचीन शिक्षा है कि युद्ध मनुष्य का धर्म हो सकता है। वैदिक युग से ही युद्ध को क्षत्रियधर्म कहा गया है, युद्धे चाप्यपलायनम्, तथा युद्धव्रती क्षत्रिय को समाज मे बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है, यहा तक कि ब्राह्मण लोग भी अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय के शिष्य हुए हैं। गीता के गुरु और शिष्य दोनों ही क्षत्रिय थे, हिन्दूमतानुसार सभी अवतारों ने दुष्ट का दमन करने के लिये युद्ध किया है। सर्वमगला सर्वार्थसाधिका होने पर भी जगन्माता ने स्वय अस्त्र धारण कर असुरदलन किया है। गीता मे श्रीकृष्ण को अर्जुन ने बार बार मधुसूदन, अरिनिषूदन आदि विशेषणों से अभिहित किया है। वास्तव मे महात्मा गाधी ने जिस रूप मे अहिंसा के आदर्श का प्रचार किया है वह हिन्दूधर्म की शिक्षा नहीं है, वह है ईसाई धर्म की शिक्षा, विशेषकर रूसी मनीषी टालस्टाय की शिक्षा।

(अपूर्ण)

—'वर्त्तिका' से

तीनों ओर

प्रत्येक भौतिक वस्तु की तीन तरफ़ होती हैं अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार या प्रमाण (माप) होता है—लम्बाई में (की तरफ़), चौड़ाई में (की तरफ़), मोटाई में (की तरफ़)। संसार में ऐसी कोई भी भौतिक वस्तु नहीं हो सकती जो इस प्रकार तीन तरफ़ से बनी हुई न हो। काल्पनिक तौर पर यह कहा जा सकता है, और केवल काल्पनिक तौर पर यह ठीक भी है, कि बिन्दु वह वस्तु है जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, कि रेखा वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई होती है चौड़ाई मोटाई बिल्कुल नहीं होती, और धरातल या पृष्ठ (सतह) वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई चौड़ाई होती है मोटाई बिलकुल नहीं होती। पर भौतिक तौर पर कोई धरातल बिना मोटाई नहीं बन सकता, बारीक से बारीक खींची गई रेखा की भी कुछ चौड़ाई और कुछ न कुछ मोटाई होती ही है, बिन्दु भी जब भी वह भौतिक रूप में वस्तुतः बनाया जायगा तो उसकी कुछ न कुछ लम्बाई चौड़ाई मोटाई होगी ही। तात्पर्य यह कि ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसकी कि तीन तरफ़ न हों, जो तीन ओर से बढ़ी हुई न हो। हम लम्बाई के स्थान पर कभी ऊंचाई शब्द बोल सकते हैं, ऐसे चौड़ाई की जगह विस्तार या फैलाव आदि शब्द बोले जा सकते हैं, मोटाई को कभी कभी गहराई जैसे किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाना अधिक ठीक हो सकता है। परन्तु यह बात सर्वत्र कायम रहती है कि प्रत्येक वस्तु का तीन ओर से प्रमाण (माप) किया जा सकता है चाहे उन तीनों तरफ़ों या विस्तारों को हम किन्हीं भिन्न अवस्थाओं में कुछ भिन्न नाम से पुकारते हों।

तीन ओर

यह जो कहा जाता है कि दिशाएं छः होती हैं और अतएव प्रत्येक वस्तु की छः दिशाएं हो सकती हैं, वह भी इसीलिये है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार होता है और फिर ध्रुवीकरण होने से प्रत्येक विस्तार के दो ध्रुव, दो सिरे (छोर) होते हैं, जैसे ऊपर और नीचे, बायें और दायें (उत्तर और दक्षिण), आगे (पूर्व) और पीछे (पश्चिम)। पर प्रत्येक वस्तु के विस्तार (dimensions) तीन ही होते हैं, एक ऊपर नीचे की तरफ़ का, दूसरा आगे पीछे की तरफ़ का, तीसरा दायें बायें का (या इधर उधर का)।

ज़रा दूसरे रूप मे कहें तो ससार की प्रत्येक वस्तु की गति तीन तरफ़ की ही हो सकती है, या तो वह ऊपर नीचे गति करेगी, चाहे वह ऊपर जावे या नीचे, या वह दायें बायें गति करेगी चाहे दायें जाय या बायें, या आगे पीछे को गति करेगी चाहे आगे जाय या पीछे।

आत्मा की त्रिविध गति

यह जो प्रत्येक वस्तु त्रिविध विस्तार वाली होती है और प्रत्येक वस्तु की जो त्रिविध ही गति हो सकती है इसका कुछ कारण है। उस कारण का निर्देश तो यथास्थान आ जायगा। पर इस वर्णन से आशा है पाठकों का मन आत्मा की गति को समझने के लिये भी तैयार हो गया होगा। आत्मा तो अभौतिक वस्तु है, उसको भौतिक तरीकों से समझ लेना सम्भव नहीं। तो भी हम भौतिक अवस्थाओं मे रहने वाले लोग अपने भौतिक मन से उसकी तरफ अपनी पहुँच मे भौतिक उदाहरणों से ही बहुत सहायता प्राप्त कर सकते है। जब हम किसी का महात्मा कहते हैं तो उसकी आत्मा के महान् होने का अर्थ बेशक यह नहीं होता कि वह भौतिक तौर पर लम्बी चौड़ी और मोटी है, तो भी यह जरूर होता है कि उसकी आत्मा महान अर्थात् विशाल, विस्तीर्ण, व्यापक है। 'महात्मा' शब्द से कहाने लायक वही महानुभाव है जिसकी आत्मा मे इस प्रकार की कुछ महत्ता है। एक मेरे मित्र ने 'सन्त कौन है' इस विषय पर मुझे कुछ लिख भेजने को कहा था, जब कि वे 'सन्त सुधा' नामक एक पत्रिका प्रारम्भ करने लगे थे। मैंने उन्हें तीन वाक्य लिख भेजे थे। उन्हें यहा उद्धृत कर देना सप्रयोजन होगा। 'सन्त' के स्थान पर 'महात्मा' शब्द का प्रयोग करते हुए वे तीन वाक्य निम्न हैं —

"महात्मा वह है जो ऊँचाई म सत्यलोक की ओर बढता है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशमान अवस्थाओं म से गुजरता हुआ 'ऋतभरा प्रज्ञाओं' को प्राप्त करता हुआ ऋतस्वरूप को पहुचता है।

"महात्मा वह है जो गहराई मे अन्दर अन्दर पैठता हुआ और खोजता हुआ अपने अन्तरात्मा को पा लेता है, और उसका मन, प्राण और शरीर, उसकी सब बाह्य और आन्तर क्रियायें, इसी अन्तरात्मा द्वारा सचालित होने लगती है।

"महात्मा वह है, जो विस्तार मे अपने को फैलाता हुआ एक एक प्राणी और एक एक जीव मे, भूतमात्र मे अपने आपको पहिचानने और अनुभव करने लगता है और सब ससार के साथ अपनी एकता कर लेता है।"

मतलब यह है कि आत्मा भी तीन ओर गति या उन्नति करता है ऊँचाई मे, गहराई मे, विस्तार मे। इन तीनों ओर ही उन्नति करने से, बढ़ने से आत्मा महान् होता

यह प्रार्थना क्या है, बद्ध मानव आत्माओं की तड़पन है कि वे बन्धनों से, तीनों बन्धनों से किसी तरह छुटकारा पाकर अदिति की निःसीमता, अनन्तता, अमित बन्धन, मुक्तता में स्वतन्त्र हो विचर सकें।

पाठक देखेंगे कि यह वही अति प्रसिद्ध (चारों वेदों में पायी जाने वाली, अथर्ववेद में एक के भी बजाय दो बार गायी गयी) ऋचा है जिसके कि अन्तिम चरण को हम अपना आदर्श वाक्य करके अपना चुके हैं। पीछे के गाथा-काल में जब कि गाथा द्वारा सत्यों के वर्णन करने की प्रथा थी वेद के इस प्रसिद्ध मंत्र से या इन सूक्तों से सम्बद्ध भी एक गाथा कही गयी है। कहते हैं कि शुनःशेप नाम का एक ऋषि था जिसे कि उसके माता पिता ने यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिये राजा को बेच दिया था। जब उसे बलि चढ़ाने के लिये यज्ञस्तंभ से तीन जगह (ऊपर, मध्य और नीचे) बांध दिया गया तो उसने व्याकुल हो कर अग्नि, भग, सविता आदि देवों से रक्षा के लिये, बन्धन मुक्ति के लिये प्रार्थना की, अन्त में वरुण देवता को पुकारा। अन्तिम क्षण उसकी प्रार्थना सुनी गई और वह बन्धनमुक्त हो गया। मूल वेद में तो स्पष्ट ही ऐसी किसी कहानी का निशान भी नहीं है। पर यह गाथा जिस सत्य को चित्रित करने के लिये रची गई है उसके अनुसार शुनःशेप और कुछ नहीं है वह मानवीय आत्मा के लिये एक मनुष्य का रूपक है। हम सभी बद्ध किन्तु मुमुक्षु मानव आत्मायें शुनःशेप हैं, सुख को उत्पन्न करना चाहने वाले हैं ('शुनःशेप' शब्द का शब्दार्थ यही प्रतीत होता है)। इस वेदमंत्र में तो एकवचन में नहीं, किन्तु बहुवचन में प्रार्थना है। इसलिये कथा के उस एक शुनःशेप की नहीं किन्तु बन्धन मुक्त होना चाहने वाले सभी मानव जीवों की (शुनःशेपों की) यह नित्य प्रार्थना है। शुनःशेप का नित्य इतिहास आज भी घटित हो रहा है। पाप के त्रिविध बन्धन से बंधी हुई समस्त मानवता की ही यह पुकार है, वरुण देव के प्रति मोक्ष के लिये उसकी आन्तरिक अभीप्सा है, क्योंकि अदिति के पुत्र (आदित्य) वरुण आदि देवों की दिव्य शक्तियां ही हैं जो उसे इन पाशों से छुड़ा सकती हैं। यह असल में मानवता की आत्मा की उस प्यास, तृष्णा का वर्णन है जो कि सीमा, परिमितता के बन्धनों को खोल अदिति (देवमाता, जगन्माता) की अनन्तता, निर्बाध असीमता में मुक्त होना चाहती है। वरुण वह दिव्य शक्ति है जो अपरिमित विस्तार का अधिपति है। अतः उससे अदिति की असीमता में मुक्त कर देने की प्रार्थना की गई है। उसे कहा गया है कि "हमारे ऊपर, मध्य और नीचे के पाशों को खोल दो जिससे कि, हे अदिति के पुत्र। हम तेरे नियम में, व्रत में रहते हुए अनागस् हो जायें, अदिति के लिये अनागस् हो जायें।" इस गाथा के चित्र को पूरा न देखना चाहें

शुनःशेप की गाथा

तो हम समझ सकते हैं कि हम सभी को हमारे माता पिता द्यावापृथिवी ने अन्धकार के राजा के हाथ नीचे के अदिव्य सुखों के धन के बदले बेच दिया है। और इस जगत चक्र रूपी यज्ञ में जीवन रूपी यज्ञस्तम्भ के साथ मन, प्राण और अन्न (शरीर) की अनृतगति (पाप) रूप त्रिविध रज्जु से हम बांध दिये गये हैं। बहुत से लोग हर रोज बलि भी चढ़ रहे हैं। पर जो सच्चे सुख के लिये अभीप्सु हो 'बलि का बकरा' नहीं होना चाहते, जो दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये 'अदिति' के बनना चाहते हैं और आन्तरिक भाव से बन्धनमुक्तता की प्रार्थना करते हैं उन शुनःशेपों की प्रार्थना सुनी जाती है और वरुण आदि दिव्य शक्तियां उन्हें अदिति के लिये तीनों बन्धनों से मुक्त कर देती हैं, वे मुक्त हो अपरिमित दिव्य जीवन प्राप्त करते हैं।

तीन बन्धन

पर ये ऊपर, मध्य और नीचे के बन्धन क्या हैं? यह तो ऊपर मोटे तौर पर कह दिया गया है कि ये मन, प्राण और अन्न के बन्धन हैं या इन तीनों की अनृतगति रूप पाप के बन्धन हैं। पर इसे और स्पष्ट किये जाने की जरूरत है।

हम ऊपर सिर में, मध्य में हृदय में और नीचे मूलाधार (नाभि के भी नीचे) में बँधे हुए हैं। ऊपर का उत्तम बन्धन मन का है, बीच का मध्यम बन्धन (सूक्ष्म) प्राण का है और नीचे का अधम बन्धन (स्थूल) शरीर का है। आत्मा (मानव आत्मा) को परिमित, सीमित अतएव बद्ध करनेवाले ये मन प्राण शरीर ही हैं। मनुष्य का ज्ञान उसकी प्रकाश की तरफ, सत्त्व की तरफ ऊर्ध्वगति मन द्वारा बँधी हुई है। मन का स्थान सिर में है। अतएव यह उत्तम बन्धन कहाता है। इसे सत्त्व का बन्धन, सात्त्विक बन्धन भी कह सकते हैं। सत्त्व ने या मन ने मानसिक शरीर द्वारा या आहंकारिक कारण-शरीर द्वारा आत्मा को बांध रखा है। मध्य का बन्धन प्राण का है इसने भावों, भावावेशों, उद्वेगों, आवेगों, रागद्वेषों द्वारा हृदय में हमें बांध रखा है। अशान्तिमय प्राणों के इस बन्धन को राजसिक बन्धन या सूक्ष्म शरीर का बन्धन भी कहा जा सकता है। अधम बन्धन बिलकुल नीचे भौतिक या 'अन्न' का बन्धन है जिसने अपनी जड़ता से ज्ञान और जीवन की परिमित गति को भी बांध दिया और हमें अत्यन्त सीमित कर दिया है। यह तामसिक बन्धन या स्थूल शरीर का बन्धन है।

यहां हम यह भी देख सकते हैं कि वस्तुओं के त्रिविध विस्तार का मन, प्राण शरीर से क्या सम्बन्ध है। यह हम जानते हैं कि स्थावर योनि (वृक्ष वनस्पति) अन्न-प्रधान है, इनमें प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है, तिर्यक् योनि (पशु पक्षी) प्राण-

प्रधान है ये अन्न से तो ऊपर हुए हैं पर इनमें भी मन विकसित नहीं हुआ है। मानव योनि मन प्रधान है, मनुष्य अन्न प्राण से ऊपर उठे हैं और इनमें मन भी विकसित हुआ है। इसलिये शरीरप्रधान स्थावरों में मुख्यतया मोटाई है, चौड़ाई (विस्तार) और लम्बाई (ऊंचाई) उनमें विकसित नहीं हुई। पर प्राणप्रधान तिर्यक्योनि में मुख्य गुण चौड़ाई (विस्तार) है, लम्बाई (ऊंचाई) इसमें भी विकसित नहीं हुई। तिर्यक् गति का अर्थ संस्कृत में होता है तिरछी, आड़ी, दिगन्तसम (Horizontal) गति। वेद में तथा संस्कृत साहित्य में प्राण की गति या आकृति तिरश्चीन मानी गई है इसीलिये पशुपक्षी पड़ी हुई, चौड़ाई के रुख अवस्था में रहते हैं। पर मनप्रधान मानव प्राणी खड़ा हो गया है, लम्बाई या ऊंचाई के रुख हो गया है। वृक्ष वनस्पति का मेरुदण्ड सुप्त है या उलटा है। पशु पक्षियों का मेरुदण्ड प्राण के द्वारा तिर्यक्, पड़ा हुआ दिगन्तसम हो गया है। और मनुष्य का मेरुदण्ड मन के जाग जाने से खड़ा, लम्बाई की ओर हो गया है। मतलब यह कि अन्न (स्थूलभूत) का गुण मोटाई है, प्राण का चौड़ाई और मन का ऊंचाई। इसलिये हमारे इस जगत की सब चीजें लम्बाई चौड़ाई मोटाई इस त्रिविध विस्तारवाली बनी हुई हैं। और इसीलिये मन ऊपर की गति को बांधता है (और यदि खुल जाय तो ऊपर के रास्ते को खोलता है), तथा प्राण और अन्न मध्यम और नीचे की गति को बांधते हैं (और यदि खुल जायें तो इन दोनों मार्गों के खोलने वाले बन सकते हैं।)

पर बात यह है कि इन बन्धनों में भी कुछ मजा है इसलिए बहुत से मानव प्राणी भी इन बन्धनों में अपने एक निम्न कोटि के सुख में रह रहे हैं। पर जहां आत्मा जाग चुका है, जहां उच्च सुख की प्यास लग चुकी है वहां ये तीनों बन्धन उत्तरोत्तर असह्य होते जाते हैं। अन्त में ऐसी अवस्था आ जाती है जब उनका आत्मा तीनों तरफ के इस आवरण को, ढकने को, बन्धन को खोलने, भेदन करने और तोड़ देने के लिये उद्यत हो जाता है।

यह तो कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी अवस्था लाने के और इसे पार करने के जो साधन हैं उन्हें योगसाधन नाम से पुकारा जाता है। योग का जो एक प्रकार से ज्ञान योग, भक्तियोग और कर्मयोग यह त्रिविध विभाग किया जाता है वह हमारे इस प्रकरण में बहुत उपयुक्त है। ज्ञानयोग है जिससे कि ऊपर का बन्धन खुलता है। ज्ञान की सत्त्वगुणी वस्तु होने से ऊर्ध्वमुखी गति होती है। ज्ञान की उपासना करने से अन्त में आत्मा ऊपर के बन्धन को खोल ऊपर चढ़ने का रास्ता बना लेता है और ऊपर एक से एक बड़े प्रकाशमय लोकों में पहुँचता हुआ,

तीन प्रकार का योग

ज्योतिष्मती ऋतम्भरा आदि प्रज्ञाओं को प्राप्त करता हुआ, श्रीअरविन्द की परिभाषाओं के अनुसार उच्च मानस, प्रकाशित मानस, स्फुरणात्मक मानस, अधिमानस से होता हुआ अतिमानस तक पहुँच जाता है। इस ऋचा में जो ऐसा कहा गया है कि 'ऊपर के बंधन को ऊपर की तरफ खोल दे' (उत्तम पाश उत् श्रथाय) इसका आशय अब पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा। क्योंकि यह ऊपर ऊपर जाना मानसिक चेतना से ऊपर, मानवीय चेतना को अतिक्रान्त कर ऊपर अतिचेतन में पहुंच जाना है। सो बन्धन को ऊपर की तरफ खोलने का मतलब यह हुआ कि उसके खुलने से ऊपर की तरफ गति हो सके। एवं भक्तिमार्ग द्वारा हृदय का मध्यवर्ती बन्धन खुलता है। यह प्रेम का मार्ग है। प्रेम की साधना द्वारा हम हृदय की गहराई में रहने वाले अपने प्रेममय अन्तरात्मा को पावें, यही संक्षेप में भक्ति साधना है। उस अन्दर पाने से फिर वह बाहर भी पाया जाता है, और वही सच्चा प्रेम बाहर की सब क्रियाओं का भी प्रेरक हो जाता है। पर यह काफ़ी कठिन काम है। विशुद्ध व्यापक आत्मिक प्रेम द्वारा प्राण के बाकी सब आवेगों, उद्वेगों भावावेशों रागद्वेषों को पराभूत कर आत्मिक प्रेम का राज्य स्थापित करना आसान काम नहीं है, इसीलिये शायद इस मध्य बन्धन को खोलने के लिये वेदमन्त्र में 'वि' विशेषण लगाया गया है, जिसका अर्थ है विशेषतया या विविध प्रकार से। और तीसरे स्थूल शरीर के अधम बन्धन को खोलने का साधन कर्मयोग है। शरीर से भी निष्काम भगवदर्पण पूर्वक कर्म करने की साधना से आत्मविशुद्धि होती है और इस स्थूल भौतिक जगत में भी सब जगह, सब भूतों में प्रत्येक छोटी बड़ी वस्तु में परमात्मदर्शन सहज हो जाता है। स्थूल जगत् में भी परमात्मप्राप्ति होने से स्थूल शरीर भी हमारे लिये बन्धनकारक नहीं रहता स्थूल हमें परिमित करने वाला नहीं रहता। हमारा अपना स्थूल देह तो आत्मा के कार्य में बाधक रहता ही नहीं। पर यह काम पूरा तब होता है जब आत्मा का प्रकाश स्थूल देह से भी नीचे अवचेतना तक में पहुंच जाता है, नहीं तो अवचेतना की शुद्धि हुए बिना, अवचेतना के विकार हमारे स्थूल देह को खराब करते ही रहते हैं। अतः वेदमन्त्र में 'अव श्रथाय' का अभिप्राय 'नीचे की ओर, नीचे तक, अवचेतना तक खोल दो' ऐसा समझना चाहिये।

यह दोहराने की जरूरत नहीं कि जैसे आत्मा की ऊंचाई, गहराई और विस्तार की गति आखिर में एक हो जाती है, आत्मा के लिये ये शब्द बोलना केवल मानवीय भाषा प्रयोग करने के कारण ही है, वैसे ज्ञान, भक्ति और कर्म भी प्रत्येक अपनी पराकाष्ठा में पहुंच शेष दो से अभिन्न हो जाते हैं। पर साथ ही यह भी ठीक है कि साधना की अवस्था में इन तीनों मार्गों—ज्ञान भक्ति कर्म की आवश्यकता होती है, किसी एक या

दो से काम नहीं चल सकता। कम से कम श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग इन तीनों का ही समन्वय चाहता है। सचमुच महात्मा होने के लिये तीनों ही दिशाओं में प्रगति करके तीनों ओर ही महान् होना होता है, तीनों बन्धन तोड़ना आवश्यक होता है।

इन तीनों पाशों, बन्धनों से छूट जाने पर क्या होता है? क्या तब हम लय को प्राप्त हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर प्रकृति में लीन हो जाते हैं? वैदिक प्रार्थना का इस प्रयोजन के लिये नहीं है। तीनों बन्धनों से छुड़ाने की याचना करने के बाद वेद मन्त्र के तीसरे चरण में जो कहा गया है वह तो यह है 'जिससे हम तेरे व्रत में, हे आदित्य, हो जायें'। तीनों बन्धनों से छुटकारा इसलिये मांगा गया है जिससे कि 'आदित्य के व्रत में हम आयें और अदिति के लिये अनागम् हो जाय'। मन, प्राण, देह नष्ट नहीं होते किन्तु वे बदल जरूर जाते हैं, इनका दिव्य रूपान्तर हो जाता है। ये अब दिव्य व्रत के, दिव्य नियम के अधीन हो जाते हैं अपने अदिव्य नियमों को छोड़ देते हैं। मन के बन्धन के खुलने का अर्थ यही है कि मन तब अपने मानसिक (अदिव्य) नियम को छोड़ देता है, उस नियम-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इसी तरह प्राण और देह भी अपने प्राणगत और दैहिक नियम के बन्धन से मुक्त हो दिव्य नियम में, आदित्य के व्रत में चले जाते हैं। ये सब एक अबद्ध, असीम आत्मा के नियम में आ जाते हैं, अन्य सभी नियमों से मुक्त हो जाते हैं।

आदित्य के व्रत में

वैसे तो दिशायें अनन्त हैं, जो जिधर चाहता है उधर ही जाता दीखता है। पर सूक्ष्मतया देखने से मुख्य छः दिशायें हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जब तक मनुष्य सचमुच में मुमुक्षु नहीं होता तब तक वह बद्ध रहता छओं दिशाओं में गति करता है अर्थात वह ऊपर जाता है तो नीचे भी जाता है, इधर (उत्तर) जाता है तो कभी उधर (दक्षिण) भी जाता है, सामने जाता है तो पीछे भी हटता है। पर मुमुक्षु हो जाने पर मानो उसकी तीन ही दिशायें हो जाती हैं। वह ऊपर ही जाता है, उत्तरायण पथ का अवलम्बन करता है, आगे (प्राक्) ही जाता है, बन्धन तोड़ने के लिये वह इन तीनों ओर ही जाता है। पर बन्धनमुक्त हो जाने पर ये तीनों दिशायें भी एक हो जाती हैं। यों कहना चाहिये कि वह दिशाओं की दुनिया से ही पर आदित्यलोक का हो जाता है जहां से सब दिशा, आठों दिशा, उत्पन्न होती हैं वहां का वह हो जाता है। अब एक दिशा का न रह, अनन्त का, असीम का, अदिति का हो जाता है।

आगस्, पाप तभी तक हो सकते हैं, होते हैं जब तक कि मन, प्राण और देह बन्धनमुक्त नहीं होते, जब तक कि ये अपने नियमों से चलते हैं अतएव अनृत गति भी करते हैं, जब तक ये आदित्य के व्रत में नहीं आ जाते। तीनों पाशों को तोड़ आदित्य

के अन्त मे आ जाने से हम 'अनागस्' हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर आत्मप्रेरित दिव्यनियमानुसार चलते हुए बिलकुल अनागस्, शुद्ध, निष्पाप, त्रुटिरहित, अविकल, पूर्ण कार्य करने वाले हो जाते हैं।

तब हम वस्तुत 'अदिति के लिये' हो जाते हैं। अदिति जो बन्धनरहित मुक्ति स्वरूपा है, असीम अनन्त देवजननी जगज्जननी है उसके 'अमृत पुत्र' हो जाते हैं, अमृत पुत्र होकर रहते हैं।

श्रीअरविन्द निकेतन का उद्घाटन

श्रीअरविन्द निकेतन के बाकायदा उद्घाटन की विधि ७६ मार्च, १६४३ सोमवार को सायकाल, नगरस्थ केन्द्र, कनाट सर्कस मे एस० एन० सण्डरमन कम्पनी के भवन मे अदा की गयी। यह उद्घाटन श्री लार्ड सिंह के कर कमलों से किया गया। शहर के बहुत से नरनारियों की भारी भीड इस अवसर पर उपस्थित हो गई थी। जो प्रतिष्ठित व्यक्ति उस समय उपस्थित थे उनमे श्रीमती सिंह, श्री जी० एस० मेहता, श्री ला० हंसराज गुप्त, श्रीयुत वीरेन राय चौधरी और श्री आशु दे भी सम्मिलित थे।

लार्ड सिंह—

पहिले श्रीअरविन्द निकेतन का उद्घाटन श्रीयुत वरदाचारी—जो भारत की फीडरल कोर्ट के जज हैं और अभी पिछले दिनों इसके चीफ जस्टिस का कार्य भी करते रहे हैं—के हाथों से होना निश्चित हुआ था। पर दैवयशात् वे उद्घाटन के दिनों देहली मे उपस्थित नहीं थे, नहीं हो सकते थे। तो भी सौभाग्य से श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह—जो माटेगु चेम्सफोर्ड सुधारों के लागू होने के दिनों में सन् १६१६-२० के लगभग बिहार और उडीसा के गवर्नर रहे थे और लार्ड थे, अतएव जो लार्ड सिंह या लार्ड सिन्हा नाम से अधिक परिचित हैं—उस समय श्री डा० अग्रवाल से अपनी आँखों का इलाज कराने के लिये देहली मे ठहरे हुए थे। वे श्रीअरविन्द के नये भक्तों व प्रशंसकों में से हैं। उन्होंने हमारी प्रार्थना पर इस उद्घाटन कार्य को सम्पन्न करना बडी प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इस अवसर पर सभापति के आसन से बोलते हुए उन्होंने सुनाया कि जब सन् १६४० म मेरी धर्मपत्नी ने श्रीअरविन्द-दर्शन के लिये पाण्डिचेरी

चलने को मुझे कहा तो मैंने उन्हें कोरा इन्कार कर दिया और कहा कि मैं तो तुम्हारे साथ चलने को तैयार नहीं हूँ। 'पर विधाता की लीला और श्रीअरविन्द के तरीके बड़े गहन हैं,' क्योंकि मैंने देखा कि अपनी उस भावना के होते हुए भी मैं गत फरवरी में दर्शनार्थ पाण्डिचेरी पहुँचा हुआ था। और तब वहां जो मैंने देखा वह बहुत अद्भुत था। वह आश्रम अन्य बहुत से उन आश्रमों की तरह नहीं है जहां लोग बैठ कर ध्यान लगाते हैं, और कुछ नहीं करते। पाण्डिचेरी आश्रम के साधक प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक काम करते हैं। वे इसी हमारे संसार में रहते हैं, इसी में काम करते हैं पर फिर भी वे इसके नहीं होते। उनके पास कुछ नहीं होता, पर फिर भी उन्हें किसी चीज की कमी भी नहीं प्रतीत होती।

लार्ड सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह ने इस निकेतन के बारे में कहते हुए एस० एम० सहरमल कम्पनी के मालिक श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर की बहुत प्रशंसा की और उनका धन्यवाद किया कि उन्होंने कितनी उदारतापूर्वक इस निकेतन के कार्य को चलाने के लिये अपने ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेवारी ली है।

श्री दिलीपकुमार राय—

परन्तु उद्घाटन की इस सब कार्यवाही में सबसे अधिक कीमती और प्रभावोत्पादक भाग था श्री दिलीपकुमार राय के संगीत का। निश्चय ही इस समारोह में बहुसंख्यक लोग श्री दिलीपकुमार का संगीत सुनने के लिये ही एकत्रित हो गये थे। पाठक जानते होंगे कि दिलीपकुमार राय (प्रसिद्ध बंगला लेखक द्विजेन्द्रलाल राय के पुत्र) भारत के एक अति प्रसिद्ध गायक हैं जो विदेशों में भी भारतीय संगीत की धाक बैठा चुके हैं। अपने इस विदेश भ्रमण के बाद से वे श्रीअरविन्द के योगपथ के यात्री बन चुके हैं। अब वे बहुत वर्षों से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक के तौर पर रहते हैं। आश्रम से कहीं बाहर जाते आते हैं तो श्रीअरविन्द व माता जी की अनुमति से ही जाते आते हैं। अवश्य ही उनकी इस अवसर पर उपस्थिति बहुत महत्त्व की बात थी। इस समारोह की कार्यवाही उनके संगीत से ही प्रारम्भ हुई। फिर बीच में दो बार और उनका संगीत हुआ। इन तीनों बार उन्होंने अपने भगवद्भक्तिपूर्ण गीतों से जो अपूर्व आनन्द और प्रेम बरसाया वह शब्दों में नहीं लाया जा सकता। जिन्होंने उन्हें सुना वे उनके 'हम उस देश के वासी हैं' आदि गीतों को और उनकी ध्वनियों को बहुत दिनों तक याद करते और दोहरा दोहरा कर गंभीर [illegible] उपभोग करते रहे हैं। श्रीअरविन्द निकेतन के अतिरिक्त [illegible] दो तीन [illegible] इन्हीं दिनों श्री दिलीप जी का संगीत हुआ था, जहां [illegible] हजार [illegible] संगीत गानों

को नहीं, किन्तु इनके प्रभुभक्ति के गभीर रसपूर्ण सगीतों को सुनती हुई) घटों तक मन्त्रमुग्ध सी हुई बैठी रही। नि सदेह दिलीप जी का सगीत कोई कठ और ध्वनि की साधना मात्र नहीं है, इसमें भी वे बेशक किसी तरह कम नहीं हैं। उनकी विशेषता है अध्यात्ममूलकता में। स्पष्ट ही वे अपने भक्ति बरसाने वाले और भगवत्प्रेम को उद्बुद्ध करने वाले सगीत की शक्ति अपनी गभीर आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा प्राप्त करते हैं।

सगीत के बाद उनका एक भाषण भी हुआ जो कि अपनी अपूर्व सुन्दरता रखता था। कई लोगों पर उसका बहुत ही असर हुआ। वे खडे तो हुए थे कृतज्ञता और धन्यवाद के दो शब्द कहने के लिये, पर उनके वे दो शब्द एक सुन्दर भाषण के रूप मे सहज भाव से ही विकसित हो गये। उनके भाषण की प्रधान विशेषता वास्तव मे उस वायु मण्डल की थी जो कि उनके हार्दिक शब्दों ने उस समय पैदा कर दिया था। वह भाषण एकदम शुरू से अत तक उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों से पूर्ण था। वे अनुभव उनके अपने आध्यात्मिक विकास का इतिहास बतलाते थे, वे उनकी अध्यात्म जिज्ञासा की जगह जगह की खोज की कथा सुनाते थे, और अत मे उन्होंने श्रीअरविन्द के पास पहुच जो अपूर्व तृप्ति और सतुष्टि प्राप्त की उसका मार्मिक हाल बताने वाले थे। उनकी गुरुभक्ति लोगों के लिये मुग्ध कर देने वाला अतीव सुन्दर अनुभव था। उस समय उन्होंने जो जो अनुभव की घटनायें सुनाईं उनका यहा देना तो शक्य नहीं है। जैसे, उन्होंने अब से १८, २० वर्ष पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के श्रीअरविन्द से मिलने की बात सुनाई थी। मिलने के बाद कविवर की जो भावना थी उसे ही दिलीप जी ने अपने सुन्दर मार्मिक ढग से कह सुनाया था। उन्होंने बताया कि जब कवि श्रीअरविन्द से मिलकर बाहर आये तब उनका मुख विशेष उत्साह से उज्ज्वल हो रहा था। उन्होंने तब विशेष भावुक रूप म कहा था कि 'श्रीअरविन्द एक असाधारण, ज्वलन्त, दीप्तिमान् व्यक्तित्व हैं। मुझे पता नहीं था कि भारत मे ऐसी विभूति उपस्थित है।' फिर कुछ हँसते हुए कहा, 'एकान्तवास से निश्चय ही अपूर्व आत्मबल हस्तगत हो जाता है। अब मैं भी एकान्त ग्रहण करूगा।'

ऐसी ऐसी घटनाओं के वर्णन द्वारा पुष्ट करते हुए जो कुछ उन्होंने प्रतिपादित किया था, कहना चाहा था वह यह था कि श्रीअरविन्द का उद्देश्य है न केवल वैयक्तिक किन्तु सामाजिक जीवन का भी—मनुष्य प्रकृति का ही—पूर्ण रूपान्तर सिद्ध करना। यह आदर्श आज हम इसलिये असभव दिखायी देता है चूकि आध्यात्मिक जीवन की शक्ति तथा वास्तविकता से हमारा सस्पर्श जाता रहा है, छूट चुका है। श्रीअरविन्द की शक्ति व प्रभाव कितना महान् है यह समझने के लिये आवश्यकता है वास्तविक सच्ची जिज्ञासा

चलने को मुझे कहा तो मैंने उन्हें कोरा इन्कार कर दिया और कहा कि मैं तो तुम्हारे साथ चलने को तैयार नहीं हूँ। 'पर विधाता की लीला और श्रीअरविन्द के तरीके गहन हैं,' क्योंकि मैंने देखा कि अपनी इस भावना के होते हुए भी मैं गत फरवरी में दर्शनार्थ पाण्डिचेरी पहुँचा हुआ था। और तब वहां जो मैंने देखा वह बहुत अद्भुत था। वह आश्रम अन्य बहुत से उन आश्रमों की तरह नहीं है जहां लोग बैठ कर ध्यान लगाते हैं, और कुछ नहीं करते। पाण्डिचेरी आश्रम के साधक प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक काम करते हैं। वे इसी हमारे संसार में रहते हैं, इसी में काम करते हैं पर फिर भी इसके नहीं होते। उनके पास कुछ नहीं होता, पर फिर भी उन्हें किसी चीज की कमी भी नहीं प्रतीत होती।

लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह ने इस निकेतन के बारे में कहते हुए एम० एन० सहगल कम्पनी के मालिक श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर की बहुत प्रशंसा की और उनका धन्यवाद किया कि उन्होंने कितनी उदारतापूर्वक इस निकेतन के कार्य को चलाने के लिये अपने ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेवारी ली है।

श्री दिलीपकुमार राय—

परन्तु उद्घाटन की इस सब कार्यवाही में सबसे अधिक कीमती और प्रभावोत्पादक भाग था श्री दिलीपकुमार राय के संगीत का। निश्चय ही इस समारोह में बहुसंख्यक लोग श्री दिलीपकुमार का संगीत सुनने के लिये ही एकत्रित हो गये थे। पाठक जानते होंगे कि दिलीपकुमार राय (प्रसिद्ध बंगला लेखक द्विजेन्द्रलाल राय के पुत्र) भारत के एक अति प्रसिद्ध गायक हैं जो विदेशों में भी भारतीय संगीत की धाक बठा चुके हैं। अपने इस विदेश भ्रमण के बाद से वे श्रीअरविन्द के योगपथ के यात्री बन चुके हैं। अब वे बहुत वर्षों से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक के तौर पर रहते हैं। आश्रम से कहीं बाहर जाते आते हैं तो श्रीअरविन्द व माता जी की अनुमति से ही जाते आते हैं। अवश्य ही उनकी इस अवसर पर उपस्थिति बहुत महत्त्व की बात थी। इस समारोह की कार्यवाही उनके संगीत से ही प्रारम्भ हुई। फिर बीच में दो बार और उनका संगीत हुआ। इन तीनों बार उन्होंने अपने भगवद्भक्तिपूर्ण गीतों से जो अपूर्व आनन्द और प्रेम बरसाया वह शब्दों में नहीं लाया जा सकता। जिन्होंने उन्हें सुना वे उनके 'हम उस देश के वासी हैं' आदि गीतों को और उनकी ध्वनियों को बहुत दिनों तक याद करते और दोहरा दोहरा कर गंभीर आनन्द का उपभोग करते रहे हैं। श्रीअरविन्द निकेतन के अतिरिक्त देहली में दो तीन अन्य जगह भी इन्हीं दिनों श्री दिलीप जी का संगीत हुआ था, जहां चार चार हजार तक की भीड़ (रंगीले गानों

वो नहीं, किन्तु इनके प्रभुभक्ति के गभीर रसपूर्ण सगीतों को सुनती हुई) घटों तक मन्त्रमुग्ध सी हुई बैठी रही। नि सदेह दिलीप जी का सगीत कोई कठ और ध्वनि की साधना मात्र नहीं है, इसमे भी वे वेशक किसी तरह कम नहीं हैं। उनकी विशेषता है अध्यात्ममूलकता मे। स्पष्ट ही वे अपने भक्ति बरसाने वाला और भगवत्प्रेम को उद्‌बुद्ध करने वाले सगीत की शक्ति अपनी गभीर आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा प्राप्त करते हैं।

सगीत के बाद उनका एक भाषण भी हुआ जो कि अपनी अपूर्व सुन्दरता रखता था। कई लोगों पर उसका बहुत ही असर हुआ। वे खडे तो हुए थे कृतज्ञता और धन्यवाद के दो शब्द कहने के लिये, पर उनके वे दो शब्द एक सुन्दर भाषण के रूप मे सहज भाव से ही विकसित हो गये। उनके भाषण की प्रधान विशेषता वास्तव में उस वायुमण्डल की थी जो कि उनके हार्दिक शब्दों ने उस समय पैदा कर दिया था। वह भाषण एकदम शुरू से अन्त तक उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों से पूर्ण था। वे अनुभव उनके अपने आध्यात्मिक विकास का इतिहास बतलाते थे, वे उनकी अध्यात्म जिज्ञासा की जगह जगह की खोज की कथा सुनाते थे, और अन्त मे उन्होंने श्रीअरविन्द के पास पहुच जो अपूर्व तृप्ति और सतुष्टि प्राप्त की उसका मार्मिक हाल बताने वाले थे। उनकी गुरुभक्ति लोगों के लिये मुग्ध कर देने वाला अतीव सुन्दर अनुभव था। उस समय उन्होंने जो जो अनुभव की घटनायें सुनाईं उनका यहा देना तो शक्य नहीं है। जैसे, उन्होंने अब से १८, २० वर्ष पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के श्रीअरविन्द से मिलने की बात सुनाई थी। मिलने के बाद कविवर की जो भावना थी उसे ही दिलीप जी ने अपने सुन्दर मार्मिक ढग से कह सुनाया था। उन्होंने बताया कि जब कवि श्रीअरविन्द से मिलकर बाहर आये तब उनका मुख विशेष उत्साह से उज्ज्वल हो रहा था। उन्होंने तब विशेष भावुक रूप म कहा था कि 'श्रीअरविन्द एक असाधारण, ज्वलन्त, दीप्तिमान् व्यक्तित्व हैं। मुझे पता नहीं था कि भारत में ऐसी विभूति उपस्थित है।' फिर कुछ हँसते हुए कहा, 'एकान्तवास से निश्चय ही अपूर्व आत्मबल हस्तगत हो जाता है। अब मैं भी एकान्त ग्रहण करूगा।'

ऐसी ऐसी घटनाओं के वर्णन द्वारा पुष्ट करते हुए जो कुछ उन्होंने प्रतिपादित किया था, कहना चाहा था वह यह था कि श्रीअरविन्द का उद्देश्य है न केवल वैयक्तिक किन्तु सामाजिक जीवन का भी—मनुष्य प्रकृति का ही—पूर्ण रूपान्तर सिद्ध करना। यह आदर्श आज हमे इसलिये असभव दिखायी देता है चूकि आध्यात्मिक जीवन की शक्ति तथा वास्तविकता से हमारा सस्पर्श जाता रहा है, छूट चुका है। श्रीअरविन्द की शक्ति व प्रभाव कितना महान् है यह समझने के लिये आवश्यकता है वास्तविक सच्ची जिज्ञासा

की और श्रीअरविन्द के साथ सम्बन्ध स्थापित होने की। योग जिज्ञासुओं की अन्त प्रकृति को बदल देने की, और उनकी आन्तरिक कठिनाइयों और बाधाओं को हटा दे की जो श्रीअरविन्द मे शक्ति है वह वास्तव मे महान् है।

डा० इन्द्रसेन जी—

श्रीअरविन्द निकेतन की तरफ से इस अवसर पर यह बताया जाना तो जरू ही था कि इस संस्था की स्थापना क्यों, किस प्रयोजन से की जा रही है। सो निकेत के मन्त्री श्री डा० इन्द्रसेन जी ने अपने भाषण द्वारा यह सब बतलाया। उनका भाष निम्न प्रकार था —

'निश्चय ही श्रीअरविन्द के पास मानव जाति को देने के लिये एक महान् संदे है। योग और दर्शनशास्त्र मे दीर्घकाल तक निमग्न रहने से उन्हें कुछ ऐसी उपलब्धिय हुई हैं जो कि सम्पूर्ण मनुष्यजाति के लिये गभीरतम महत्त्व रखती हैं। उन्होंने आ मनुष्य के सामने आध्यात्मिक जीवन का सच्चा और स्थूल नक्शा खोल कर रख दिया और उसकी प्राप्ति के लिये क्रियात्मक साधनों की एक पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन क दिया है। व्यक्ति में तथा समाज मे आध्यात्मिक चेतना की उन्नति ही, श्रीअरविन्द क दिव्य दृष्टि के अनुसार, उन हजारों बीमारियों का सच्चा इलाज है जिनसे कि हम पीड़ित हैं। नि संदेह उनकी आध्यात्मिकता निवृत्ति से या पारलौकिक जीवन मे पहुँच कर व्यक्ति के मुक्त हो रहने से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उनकी दृष्टि के अनुसार आध्यात्मिक चेतना का पूर्णतर जीवन योग की सहायता से सम्पूर्ण मनुष्य जाति में यहां इस जीवन मे ही उत्तरोत्तर चढ़ती सीढ़ियों द्वारा अवश्य विकसित हो जाना चाहिये। यह बात हमारे व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और जातीय वर्तमान वैर-विरोधों की निराशाजनक परिस्थितियों में भले ही विचित्र प्रतीत होती हो, किन्तु श्रीअरविन्द पूर्णतया अनन्यचित्त हो कर तथा अन्तिम विजय मे पूर्ण विश्वास के साथ जिस आदर्श के लिये सचमुच कार्य कर रहे हैं वह तो केवल जीवन की बाह्य वस्तुओं मे कुछ परिवर्तन या सुधार करने के द्वारा नहीं अपितु मुख्यभूत मानव प्रकृति को ही स्वत सुधारने या पूर्ण बनाने के द्वारा इस पृथ्वी और पार्थिव जीवन को अधिक सुखमय अवस्था में बदल देने का आदर्श है। यह सहज मे ही देखा जा सकता है कि व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की हमारी सब समस्याएं आखिरकार मानव प्रकृति की समस्याएं हैं। अतएव श्रीअरविन्द की सर्वतो मुखी और तत्त्वज्ञानी आत्मा हमारी प्रकृति का वास्तविक रूपान्तर करना चाहती है। और संसारव्यापी सम्पूर्ण सन्देहवाद के बावजूद भी वे ऐसे रूपान्तर को केवल एक सम्भावना के तौर पर ही नहीं बल्कि विकासात्मक प्रक्रिया की अनिवार्य चरम सीमा

के तौर पर स्पष्ट देखते हैं। यह वही 'असम्भवता' है जिसे सम्भव बनाने के लिये वे गत तीस वर्षों से निरन्तर यत्नशील हैं और अब इसे एक निश्चित 'सम्भव' में बदल डालने के लिये आत्मविश्वास के साथ आगे की ओर देखते हैं। पाडिचेरी आश्रम का जीवन इसे ही निष्पन्न करने की मूर्त प्रक्रिया है।

'पिछले कुछ ही वर्षों में, शायद उस भयानक सांस्कृतिक संकट के कारण जिसमें कि हम फंसे हुए हैं, आध्यात्मिक जीवन की मांग व जिज्ञासा बढ़ती चली गई है। और यह ऐसी आवश्यकता अनुभव होने के कारण ही है कि श्रीअरविन्द निकेतन नाम की संस्था जिज्ञासु जनता तक श्रीअरविन्द का गंभीर संदेश पहुँचाने के लिये दिल्ली में स्थापित की गई है। इस संस्था का मुख्य स्थान नई दिल्ली से लगभग ७ मील दूर कुतुब के पास श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर का मकान है जो अधचिनी गांव के साथ लगा है, और शहर में इसका प्रतिनिधित्व करने वाला केन्द्र एम० एन० सडरसन एण्ड कम्पनी (कनाट सर्कस, नई दिल्ली) के कार्यालय के साथ विद्यमान है। इस समय इसकी प्रवृत्तियां निम्न लिखित हैं —

(१) श्रीअरविन्द साहित्य का हिन्दी तथा उर्दू में प्रचार।

(२) 'अदिति' पुस्तिका या पत्रिका का प्रकाशन।

(३) श्रीअरविन्द वाचनालय चलाना।

(४) अध्ययन मण्डलों और ज्ञानचर्चा-गोष्ठियों को संगठित करना।

'हमें आशा है कि आध्यात्मिक जीवन के सभी जिज्ञासु और मानव जीवन के गंभीरतर अभिप्राय में दिलचस्पी रखने वाले सभी सज्जन श्रीअरविन्द निकेतन द्वारा दिये गये इस सुअवसर का स्वागत करेंगे।'

लेखकों का परिचय

श्री अनिलवरण जी—

इनका परिचय पहिले दिया जा चुका है। पर उसके साथ इनके विषय में पाठकों को यह भी विदित हो जाय तो अच्छा है कि कांग्रेस-कार्य से भी पहिले ये फिलासफी के प्रोफेसर थे। उस पद को छोड़ कर तथा अन्य त्याग करके आप कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे। बंगाल की कांग्रेस में भी ये अपनी योग्यता के कारण शीघ्र ही ऊंचे चढ़े और स्वनामधन्य देशबन्धु चित्तरंजनदास के वहां ये दायें हाथ समझे जाते थे। पर फिर कांग्रेस को भी छोड़कर ये श्रीअरविन्द के योग आश्रम में आ गये।

स्व० श्री पं० चमूपति जी—

आप हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के उत्कृष्ट लेखक और कवि थे। आर्यसमाज के महान् सेवक और व्याख्याता थे। गुरुकुल कांगड़ी के आप मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद पर भी रहे थे। आपकी जो कविता इस बार प्रकाशित हुई है वह आपके एक शिष्य स्नातक ने हमें प्रदान की है। इस कविता को उन्होंने माता जी के निम्न शब्दों का व्याख्यारूप पाया है —

Take the Divine alone into your soul's confidence

श्री नारायणप्रसाद जी—

आप श्रीअरविन्द आश्रम के साधक हैं। आश्रमवासी बने आपको लगभग ७, ८ वर्ष हो गये हैं। वैसे आप बिहार प्रान्त के हैं। इस लिखने व कविता करने की प्रवृत्ति आश्रम में आ जाने के बाद ही आप में जगी है।

श्री शुद्धानन्द जी भारती—

एक प्रसिद्ध महापुरुष से सन्यास ग्रहण कर आप सन्यासी 'शुद्धानन्द भारती' बने हैं। अपने प्रान्त में राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी रहे हैं। तामिल के आप प्रख्यात कवि हैं। तामिल में आपका रचा हुआ बहुत बड़ा आध्यात्मिक साहित्य है। अंग्रेजी फ्रेंच, संस्कृत के भी आप विद्वान् और लेखक हैं। बहुत वर्षों तक आप मौन भी रहे हैं। राजयोग, हठयोग आदि सभी योगों के अनुभवी ज्ञाता हैं। श्री रमण महर्षि के संपर्क में भी आप रहे हैं। अब चिरकाल से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक हो कर रह गये हैं।

प्रकाशक और मुद्रक श्री डा० इन्द्रसेन जी मंत्री श्रीअरविन्द निकेतन, द्वारा
जगना प्रिंटिंग वर्क्स देहली में मुद्रित।

अदिति

(देवजननी)

सम्पादक

आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार

प्रकाशक

श्रीअरविन्द निकेतन

कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया।

लेखकों का परिचय

श्री अनिलवरण जी—

इनका परिचय पहिले दिया जा चुका है। पर उसके साथ इनके विषय में पाठकों को यह भी विदित हो जाय तो अच्छा है कि कांग्रेस-कार्य से भी पहिले ये फिलासफी के प्रोफेसर थे। उस पद को छोड़ कर तथा अन्य त्याग करके आप कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे। बंगाल की कांग्रेस में भी ये अपनी योग्यता के कारण शीघ्र ही उच्च पद और स्वनामधन्य देशबन्धु चित्तरंजनदास के वहां ये दायें हाथ समझे जाते थे। पर फिर कांग्रेस को भी छोड़कर ये श्रीअरविन्द के योग आश्रम में आ गये।

स्व० श्री प० चमूपति जी—

आप हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के उत्कृष्ट लेखक और कवि थे। आर्यसमाज के महान् सेवक और व्याख्याता थे। गुरुकुल कांगड़ी के आप मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद पर भी रहे थे। आपकी जो कविता इस बार प्रकाशित हुई है वह आपके एक शिष्य स्नातक ने हमें प्रदान की है। इस कविता को उन्होंने माता जी के निम्न शब्दों का व्याख्यारूप पाया है —

Take the Divine alone into your soul's confidence

श्री नारायणप्रसाद जी—

आप श्रीअरविन्द आश्रम के साधक हैं। आश्रमवासी बने आपको लगभग ७,८ वर्ष हो गये हैं। वैसे आप बिहार प्रान्त के हैं। इन लिखने व कविता करने की प्रवृत्ति आश्रम में आ जाने के बाद ही आप में जगी है।

श्री शुद्धानन्द जी भारती—

एक प्रसिद्ध महापुरुष से सन्यास ग्रहण कर आप सन्यासी 'शुद्धानन्द भारती' बने हैं। अपने प्रान्त में राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी रहे हैं। तामिल में आप प्रख्यात कवि हैं, तामिल में आपका रचा हुआ बहुत बड़ा आध्यात्मिक साहित्य है। अंग्रेजी, फ्रैंच, संस्कृत के भी आप विद्वान् और लेखक हैं। बहुत वर्षों तक आप मौन भी रहे हैं। राजयोग, हठयोग आदि सभी योगों के अनुभवी ज्ञाता हैं। श्री रमण महर्षि के संपर्क में भी आप रहे हैं। अब चिरकाल से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक हो कर रह गये हैं।

प्रकाशक और मुद्रक श्री डा० इन्द्रसेन जी मंत्री श्रीअरविन्द निकेतन, द्वारा जगत प्रिंटिंग वर्क्स देहली में मुद्रित।

अदिति

(देवजननी)

सम्पादक

आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार

प्रकाशक

श्रीअरविन्द निकेतन

कनाट सर्कस, नई दिल्ली ।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया ।

२४ एप्रिल १६४३ के
श्रीअरविन्द दर्शन
के उपलक्ष में
भेंट

विषय-सूची

मातृ-वचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

[श्रीमाता जी बहुत वर्षों से अपनी दिनचर्या पुस्तक में प्रार्थनाएं तथा ध्यान विचार लिखती रही हैं। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, अद्भुत हैं, आत्मा को एकदम ऊँचा उठाने वाले हैं। मूलत ये फ्रेंच में हैं। इनमें से कुछ का अंग्रेज़ी अनुवाद भी हुआ है। प्रत्येक बार हम उनमें से, एक प्रार्थना का श्री चन्द्रदीपजी का किया हुवा मूल से हिन्दी अनुवाद 'प्रार्थना व ध्यान' इस शीर्षक से अदिति के पाठकों को भेंट किया करेंगे। संपादक]

ज्यों ही मैं अपने आपको सभी सासारिक दायित्वों से अलग कर लेती हूँ त्योंही इन सब चीज़ों से संबध रखने वाले सभी विचार मुझसे कोसों दूर भाग जाते हैं और मैं एकनिष्ठ होकर तेरे अन्दर डूब जाती हूँ, तेरी सेवा मे पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाती हूँ। और तब पूर्ण शान्ति और निस्तब्धता के अन्दर मैं अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ एक कर देती हूँ, और उस सर्वांगपूर्ण निश्चल नीरवता के भीतर मैं तेरे सत्य को प्रकट करने वाली वाणी को सुनती हूँ।

तेरी दिव्य इच्छा के विषय में सज्ञान होने तथा तेरी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को एकाकार कर देने से ही हम सच्ची स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ता के रहस्य का पता पा सकते हैं, अपनी शक्तियों को पुन जागरित करने और अपनी सत्ता को रूपान्तरित करने के रहस्य को जान सकते हैं।

तेरे साथ निरन्तर सर्वांगीण एकता बनाये रखना ही इस विषय में एकदम निश्चित हो जाना है कि हम सारी बाधाओं को पार कर जायेंगे, बाहरी और भीतरी सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

प्रभु। हे प्रभु। असीम आनन्द मेरे हृदय में भर रहा है, आनन्द-गान की अद्भुत तरगें मेरे मस्तक में लहरा रही हैं और तेरी ध्रुव विजय मे पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं चरम शान्ति और अजेय शक्ति प्राप्त कर रही हूँ। तू मेरी सत्ता के अन्दर ओत-प्रोत होकर विराजमान है, तू इसे संजीवित कर रहा है, इसके प्रसुप्त शक्ति-स्रोतों को गतिशील बना रहा है, इसकी बुद्धि को आलोकित कर रहा है इसके जीवन को तीव्रता

प्रदान कर रहा है, इसके प्रेम को दस गुना बढा रहा है, और अब मैं यह समझने असमर्थ हू कि मैं यह विश्व हूँ या यह विश्व 'मैं' है, तू मेरे अन्दर है या मैं तेरे अन्दर है। एक मात्र तू ही विद्यमान है और सब कुछ 'तू' है, और तेरी अनन्त कृपा की लहरें जगत् में भर रही हैं, जगत् को डुबा रही हैं।

गाओ, गाओ, सब देश, सब समाज, सब मनुष्य, गाओ,
भागवत सामंजस्य विद्यमान है, गाओ।

११ मई १९१३

—मूल फ्रेंच से अनूदित

'मातृवाणी' का एक अध्याय

क्या योगी सब प्रश्नों का उत्तर दे सकता है ?–विज्ञानमय अवस्था तक पहुंच–शारीरिक परिवर्त्तन के लिये ध्यान या एकाग्रता—ध्यान द्वारा सफलता पाने की शर्तें

प्र०—"क्या योगी चेतना की किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो सकता है, जिस अवस्था में पहुँचकर वह सब कुछ जान सके, समस्त प्रश्नों का, यहां तक कि सायस की कठिन समस्याओं का, जैसे कि 'सापेक्षता-वाद' के विषय में भी, उत्तर दे सके ?"

उ०—विचारात्मक रूप से और सिद्धान्तत यह ठीक है कि योगी के लिये सब कुछ जान लेना असम्भव नहीं है, पर सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि, वह योगी कौन है।

ज्ञान ज्ञान में भेद होता है। मन जिस तरीके से जानकारी लाभ करता है, योगी का ज्ञान वैसा नहीं होता। योगी यदि सब कुछ जानता है, तो उसका कारण यह नहीं कि वह यह सब इसलिये जान पाता है चूँकि हरेक सभावित खबर के अन्दर उसका प्रवेश होता है, या चूँकि उसके मन के अन्दर विश्व के समस्त तथ्य भरे पडे होते हैं या चूकि उसकी चेतना किसी अद्भुत विश्वकोष के जैसी होती है। वह जान पाता है वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों के साथ उसकी जो धारणात्मक रूप से या सक्रिय रूप से तादात्म्य हो जाने की क्षमता होती है, उसके कारण। अथवा वह इसलिये जान पाता है कि वह चेतना की एक ऐसी भूमिका में रहता है या एक ऐसी चेतना के सस्पर्श में होता है जिसमें सत्य और ज्ञान स्थित है।

यदि तुम सत्य चेतना में होओ, तो तुम्हें मिलनेवाला ज्ञान भी सत्य का ज्ञान ही होगा। इस अवस्था में भी ज्ञेय के साथ अपने को एक करके ही तुम उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि तुम्हारे सामने कोई समस्या उपस्थित की जाय, यदि तुमसे यह पूछा जाय कि, अमुक अवसर विशेष पर क्या करना चाहिये, तो तुम उस विषय पर पर्याप्त ध्यान देकर और एकाग्र होकर उस विषय के आवश्यक ज्ञान और सत्य उत्तर को अनायास प्राप्त कर सकते हो। इस ज्ञान को तुम किसी सिद्धान्त का यत्नपूर्वक

उपयोग करके अथवा उसे किसी मनोमय प्रक्रियाद्वारा कार्यान्वित करके प्राप्त नहीं करता। इन पद्धतियों की आवश्यकता तो भौतिक विज्ञानवादी (Scientific) मन को ही सत्य निर्णयों तक पहुचने के लिये होती है। परन्तु योगी का ज्ञान तो सीधा और तत्क्षण होता है, वह निगमनात्मक नहीं होता। यदि किसी इञ्जीनियर को एक मेहराब बनानी हो तो वह उसके ठीक ठीक स्थान को, उसकी गोलाई की रेखा और उसके पोले स्थान के कद को नाप-जोखकर ठीक करता है, इस विषय को वह अपनी भौतिक विद्या की सामग्री से मिला-जुलाकर ठीक करता है। परन्तु योगी को इस तरह की किसी चीज की जरूरत नहीं होती, वह तो उस वस्तु की तरफ दृष्टि डालता है, अपनी दिव्य दृष्टि से उसके स्वरूप को ग्रहण करता है और वह देख पाता है कि इस चीज को इस प्रकार से करना होगा, केवल इसी प्रकार से करना होगा और किसी दूसरे प्रकार से नहीं, और उसका यह देखना ही उसका ज्ञान होता है।

यद्यपि सामान्यतया और किसी अर्थ में यह ठीक है कि, योगी अपनी दृष्टि और चेतना के क्षेत्र में से सभी बातों को जान सकता और सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी प्रश्न ऐसे नहीं होते, जिनका उत्तर देना योगी के लिये कठिन न हो, फिर ऐसे भी प्रश्न हो सकते हैं, जिनका उत्तर देना वह चाहेगा नहीं। जिस योगी को प्रत्यक्ष ज्ञान, वस्तुओं के सच्चे सत्य का ज्ञान प्राप्त है, वह उन प्रश्नों का, जो सर्वांशत मानव मन की ही रचनाओं की कोटि के होते हैं, उत्तर देने की परवाह नहीं करेगा, शायद उसे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने में कठिनाई भी हो। यह हो सकता है कि वह वस्तुओं के केवल मिथ्या और बाह्य स्वरूप से सम्बन्ध रखनेवाली तुम्हारी समस्याओं और कठिनाइयों का हल करना न चाहे या न कर सके। उसके ज्ञान की क्रिया मन में नहीं होती और यदि तुम उसके सामने उपर्युक्त प्रकार का कोई वृहद मानसिक प्रश्न करो तो शायद वह उसका उत्तर ही न दे। यह जो आम धारणा है कि जिस प्रकार ऊँचे दर्जे के किसी स्कूल मास्टर से प्रश्न किया जाता है, उसी प्रकार किसी योगी से भी तुम जो कोई अज्ञानयुक्त प्रश्न कर सकते अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य काल के किसी भी समाचार को पूछ सकते हो और वह इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये बाध्य है, यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। यह बात उतनी ही बेढगी है, जितनी कि किसी आध्यात्मिक पुरुष से यह आशा रखना कि वह कोई ऐसे असाधारण पराक्रम या चमत्कार करके दिखावे, जिनसे साधारण असंस्कृत और बहिर्मुख मन को सन्तुष्टि मिलती और वह आश्चर्यचकित रह जाता है।

इसके अतिरिक्त "योगी" शब्द बहुत ही अस्पष्ट और व्यापक है। योगी बहुत तरह के होते हैं, आध्यात्मिक अथवा गुह्य तत्त्वों की साधना की अनेक धाराएं और दिशाएं हैं, और फिर इन साधनों द्वारा प्राप्त होनेवाली चढ़ती उतरती अनेक प्रकार की सिद्धियां हैं। कुछ योगी ऐसे हैं, जिनकी शक्तियां मानसिक भूमिका से ऊपर नहीं होतीं, दूसरे ऐसे हैं जो इस भूमिका से ऊपर उठे हैं। सब कुछ उनकी साधना की भूमिका या उसके स्वभाव पर, जिस ऊंचाई तक वे पहुंचे हैं, उस पर तथा जिस चेतना का स्पर्श उन्हें मिला है अथवा जिस चेतना में उन्होंने प्रवेश किया है, उस पर निर्भर करता है।

प्र०—"क्या यह ठीक नहीं है कि जड़वैज्ञानिक (Scientist) भी कभी-कभी मनोमय भूमिका से परे जाते हैं? ऐसा कहा जाता है कि आइनस्टाइन ने 'सापेक्षता के वाद' का आविष्कार किसी तर्क की प्रक्रिया द्वारा नहीं किया था, बल्कि यह वाद उन्हें एक महा प्रेरणा के रूप में प्राप्त हुआ था। क्या इस प्रेरणा का विज्ञान (Supermind) से कोई सम्बन्ध था?"

उ०—जड़विज्ञान की खोज करनेवाले जिस किसी व्यक्ति को इस तरह की कोई प्रेरणा होती है, जिसके फलस्वरूप वह किसी नवीन सत्य का दर्शन करता है, तो वह उसको अन्तर्ज्ञान देनेवाले मनकी भूमिका से होती है। इस तरह का ज्ञान तब मिलता है जब कि उसका उस उच्चतर मनोमय भूमिका के साथ जो कि और भी अधिक ऊपर की ज्योति द्वारा प्रकाशमान होती है, सीधा सम्बन्ध हो जाता है और वहां से उसको प्रेरणा मिलने लगती है। परन्तु इस सबसे विज्ञान की क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है और यह उच्चतर मनोमय भूमिका विज्ञानमय भूमिका से कोसों दूर है। औसत अवस्था से जरा ऊपर उठते ही मनुष्य बड़ी जल्दी यह विश्वास करने लग जाते हैं कि वे पूर्ण भागवत क्षेत्रों में पहुँच गये। साधारण मानव मन और विज्ञान के बीच अनेक अवस्थाएं, अनेक स्तर और अनेक भूमिकाएं हैं। यदि कोई साधारण कोटि का आदमी इन मध्यवर्ती भूमिकाओं में से किसी एक के भी सीधे सम्पर्क में आ जाय, तो वह चौंधिया जायगा और उसकी आँखें वहां के प्रकाश से अन्धी हो जायंगी, वह वहां की विशालता के भान के बोझ के नीचे कुचल-सा जायगा अथवा अपने सतुलन को गवा देगा, और फिर भी वह अभी तक विज्ञान-लोक से दूर ही होगा।

योगी सभी बातों को जान सकता है और सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, इस साधारण धारणा के पीछे जो असली तथ्य है वह यह है कि, मन के अन्दर एक ऐसा

स्तर है जहा समस्त वस्तुओं की स्मृति सगृहीत हुई रहती है और वह सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवन मे होने वाली समस्त मानसिक क्रियाए इस स्तर मे स्मृतिगत और अकित की जाती हैं। जिन लोगों में वहाँ तक पहुँचने की क्षमता है और जो वहाँ तक जाने का कष्ट उठाना चाहते हैं, वे वहाँ के वहीखातों मे दर्ज किसी भी चीज को बाँच और जान सकते हैं। परन्तु इस क्षेत्र को विज्ञानमय भूमिका समझ लेने की भूल नहीं करनी चाहिये। और फिर भी यहाँ तक पहुँचने के लिये भी तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मन का निश्चित और नीरव कर लेना होगा, तुम्हें इस योग्य बन जाना होगा कि तुम अपने समस्त सवेदनों को एक किनारे रख सको और अपनी साधारण मनोमय क्रियाओं को, फिर चाहे वे कैसी भी क्यों न हों, बद कर सको, तुम्हें अपने प्राण के दायरे से बाहर निकल आना होगा, तुम्हें अपने शरीर की गुलामी से मुक्त हो जाना होगा। ऐसा होने पर ही तुम इस क्षेत्र में प्रवेश पा सकोगे, तथा वहाँ जो कुछ है, उसको देख सकोगे। पर यदि तुम इस प्रयास को करने के लिये पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहाँ पहुँच सकते हो और पृथ्वी की स्मृति मे जो कुछ लिखा हुआ है उसे बाच सकते हो।

इस प्रकार यदि तुम अपने अदर की गहराई में उतरो और वहाँ की निश्चल नीरवता मे पहुच जाओ, तो तुम चेतना की एक ऐसी भूमिका को प्राप्त कर ले सकते हो, जहा पर तुम्हारे लिये यह असभव नहीं है कि तुम अपने सभी प्रश्नों का उत्तर पा लो। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो विज्ञानलोक के पूर्ण सत्य के प्रति सचेतन रूप से उद्घाटित हो, उसके साथ उसका सतत सपर्क हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवाल का उत्तर दे सकता है, जो विज्ञानलोक के प्रकाश से उत्तर दिये जाने लायक हो। ऐसे व्यक्ति से किया जाने वाला प्रश्न अवश्य ही इस तरह का होना चाहिये कि वह वस्तुओं के पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है, उससे सम्बन्ध रखता हो। बहुत से प्रश्न और नियादग्रस्त समस्याए ऐसी होती हैं, जिनको मन मकड़ी के जाल की तरह बुनकर तैयार करता है और वे वस्तुओं के मिथ्या पार्श्व से ही सम्बन्ध रखती हैं। इनका वास्तविक ज्ञान से संबध नहीं होता, ये तो ज्ञान की एक विकृति मात्र होती हैं, उनका सब ताना बाना ही अज्ञान का होता है। अवश्य ही मन के अज्ञान द्वारा उपस्थित की हुई समस्याओं का भी उत्तर विज्ञानमय ज्ञान दे सकता है, पर यह उत्तर उसका अपना उत्तर होगा और बहुत सभव है कि, मन की भूमिका से प्रश्न करने वाले व्यक्तियों को यह जरा भी सतुष्ट न कर सके अथवा यह भी हो सकता है कि, यह उनकी समझ

में ही न आवे। मन की तरह ही विज्ञान भी काम करे, ऐसी तुम्हें आशा नहीं करनी चाहिये और न तुम्हारी यह माग ही होनी चाहिये कि मत्य चेतना मे रहने वाले ज्ञान को इस योग्य होना चाहिये कि उसे अज्ञान मे रहने वाले अर्धज्ञान के साथ टाका जा सके। मन की आयोजना एक बात है, लेकिन विज्ञान बिलकुल दूसरी ही बात है और यदि वह मानसिक आयोजना की माग के अनुसार अपने आपका बना ले, तो उसकी विज्ञानमयता ही जाती रहे। ये दोनों इतने भिन्न हैं कि ये एक ही माप से मापे जाने के लायक नहीं हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते।

प्र०—"चेतना जब विज्ञान के आनन्द को प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह मन के व्यापारों में दिलचस्पी लेना बद कर देती है?"

उ०—मानसिक व्यापारों मे विज्ञान उसी प्रकार से दिलचस्पी नहीं लेता जैसा कि मन लेता है। विश्व की समस्त गतियों मे ही उसके अपने ढंग की दिलचस्पी होती है, किंतु वह एक भिन्न दृष्टिबिंदु से होती है और एक भिन्न चक्षु द्वारा होती है। उसकी दृष्टि के सम्मुख जगत का रूप बिलकुल दूसरे ही प्रकार का दीखने लगता है। यहाँ पर दृष्टिकोण पलट जाता है और इस भूमिका पर से सभी चीजें जैसी कि मन से नजर आया करती हैं, उससे दूसरे ही प्रकार की, बल्कि बहुधा बिलकुल उससे विपरीत तक नजर आती हैं। यहाँ पर वस्तुओं का अर्थ ही बदल जाता है, उनका पहलू, उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषय का सभी कुछ दूसरी ही आँखों से देखा जाता है। यहाँ के सब कुछ के पीछे विज्ञान रहता है, मन की गतियों में, उसी प्रकार प्राण और स्थूल भौतिक गतियों मे भी, इतना ही नहीं बल्कि विश्व की समस्त लीला में ही विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किंतु उसकी वह दिलचस्पी एक दूसरे ही प्रकार की होती है। मन और विज्ञान की दिलचस्पियों के भेद को कठपुतलियों के खेल के दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। कठपुतली के खेल मे एक तो उसकी दिलचस्पी होती है, जो कठपुतलियों की धागडोर अपने हाथ मे रखता है और यह जानता होता है कि इन कठपुतलियों को क्या करना है उस इच्छा को जानता होता है जो उन्हें घुमाती है, और वह यह भी जानता होता है कि केवल उस इच्छा के अनुसार ही वे हिलडुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है, जो इस खेल का दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण क्षण पर बदलते जाने वाली घटनाओं को ही देखता है, अन्य कुछ भी नहीं जानता।

स्तर है जहा समस्त वस्तुओं की स्मृति सगृहीत हुई रहती है और वह सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवन मे होने वाली समस्त मानसिक क्रियाए इस स्तर में स्मृतिगत और अकित की जाती हैं। जिन लोगों मे वहाँ तक पहुँचने की क्षमता है और जो वहाँ तक जाने का कष्ट उठाना चाहते हैं, वे वहाँ के बहीखातों मे दर्ज किसी भी चीज को खोज और जान सकते हैं। परन्तु इस क्षेत्र को विज्ञानमय भूमिका समझ लेने की भूल नहीं करनी चाहिये। और फिर भी यहाँ तक पहुँचने के लिये भी तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मन को निश्चित और नीरव कर लेना होगा, तुम्हें इस योग्य बन जाना होगा कि तुम अपने समस्त सवेदनों को एक किनारे रख सको और अपनी साधारण मनोमय क्रियाओं को, फिर चाहे वे कैसी भी क्यों न हों, बन्द कर सको, तुम्हें अपने प्राण के दायरे से बाहर निकल आना होगा, तुम्हें अपने शरीर की गुलामी से मुक्त हो जाना होगा। ऐसा होने पर ही तुम इस क्षेत्र मे प्रवेश पा सकोगे, तथा वहाँ जो कुछ है, उसको देख सकोगे। पर यदि तुम इस प्रयास को करने के लिये पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहाँ पहुँच सकते हो और पृथ्वी की स्मृति मे जो कुछ लिखा हुआ है उसे बाच सकते हो।

इस प्रकार यदि तुम अपने अदर की गहराई मे उतरो और वहाँ की निश्चल नीरवता मे पहुच जाओ, तो तुम चेतना की एक ऐसी भूमिका को प्राप्त कर ले सकते हो, जहा पर तुम्हारे लिये यह असभव नहीं है कि तुम अपने सभी प्रश्नों का उत्तर पा लो। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो विज्ञानलोक के पूर्ण सत्य के प्रति सचेतन रूप से उद्घाटित हो, उसके साथ उसका सतत सपर्क हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवाल का उत्तर दे सकता है, जो विज्ञानलोक के प्रकाश से उत्तर दिये जाने लायक हो। ऐसे व्यक्ति से किया जाने वाला प्रश्न अवश्य ही इस तरह का होना चाहिये कि वह वस्तुओं के पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है, उससे सम्बन्ध रखता हो। बहुत से प्रश्न और विवादग्रस्त समस्याए ऐसी होती हैं, जिनको मन मकड़ी के जाले की तरह बुनकर तैयार करता है और वे वस्तुओं के मिथ्या पार्श्व से ही सम्बन्ध रखती हैं। इनका वास्तविक ज्ञान से सबध नहीं होता, ये तो ज्ञान की एक विकृति मात्र होती हैं, इनका सब ताना बाना ही अज्ञान का होता है। अवश्य ही मन के अज्ञान द्वारा उपस्थित की हुई समस्याओं का भी उत्तर विज्ञानमय ज्ञान दे सकता है, पर वह उत्तर उसका अपना उत्तर होगा और बहुत सभव है कि, मन की भूमिका से प्रश्न करने वाले व्यक्तियों को वह उत्तर भी संतुष्ट न कर सके अथवा यह भी हो सकता है कि, वह उनकी समझ

में ही न आवे। मन की तरह ही विज्ञान भी काम करे, ऐसी तुम्हें आशा नहीं करनी चाहिये और न तुम्हारी यह माग ही होनी चाहिये कि सत्य चेतना मे रहने वाले ज्ञान को इस योग्य होना चाहिये कि उसे अज्ञान मे रहने वाले अर्धज्ञान के साथ टाका जा सके। मन की आयोजना एक बात है, लेकिन विज्ञान बिलकुल दूसरी ही बात है और यदि वह मानसिक आयोजना की माग के अनुसार अपने आपको बना ले, तो उसकी विज्ञानमयता ही जाती रहे। ये दोनों इतने भिन्न हैं कि ये एक ही माप से मापे जाने के लायक नहीं हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते।

प्र०—"चेतना जब विज्ञान के आनन्द को प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह मन के व्यापारों में दिलचस्पी लेना बद कर देती है?"

उ०—मानसिक व्यापारों मे विज्ञान उसी प्रकार से दिलचस्पी नहीं लेता जैसा कि मन लेता है। विश्व की समस्त गतियों मे ही उसके अपने ढग की दिलचस्पी होती है, किंतु वह एक भिन्न दृष्टिबिंदु से होती है और एक भिन्न चक्षु द्वारा होती है। उसकी दृष्टि के सम्मुख जगत का रूप बिलकुल दूसरे ही प्रकार का दीखने लगता है। यहाँ पर दृष्टिकोण पलट जाता है और इस भूमिका पर से सभी चीजें जैसी कि मन से नजर आया करती हैं, उससे दूसर ही प्रकार की, बल्कि बहुधा बिलकुल उससे विपरीत तक नजर आती है। यहाँ पर वस्तुओं का अर्थ ही बदल जाता है, उनका पहलू, उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषय का सभी कुछ दूसरी ही आँखों से देखा जाता है। यहाँ के सब कुछ के पीछे विज्ञान रहता है, मन की गतियों मे, उसी प्रकार प्राण और स्थूल भौतिक गतियों में भी, इतना ही नहीं बल्कि विश्व की समस्त लीला मे ही विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किंतु उसकी वह दिलचस्पी एक दूसरे ही प्रकार की होती है। मन और विज्ञान की दिलचस्पियों के भेद को कठपुतलियों के खेल के दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। कठपुतली के खेल मे एक तो उसकी दिलचस्पी होती है, जो कठपुतलियों की बागडोर अपने हाथ मे रखता है और यह जानता होता है कि इन कठपुतलियों को क्या करना है, उस इच्छा को जानता होता है जो उन्हें घुमाती है, और वह यह भी जानता होता है कि केवल उस इच्छा के अनुसार ही वे हिलडुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है, जो इस खेल का दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण क्षण पर बदलते जाने वाली घटनाओं को ही देखता है, अन्य कुछ भी नहीं जानता।

जो व्यक्ति खेल का दर्शक होता है और उसके रहस्यों से अनजान होता है उसकी खेल में घटने वाली घटनाओं के प्रति जो दिलचस्पी होती है वह अधिक मात्र उत्सुकता पूर्ण और आवेशमय होती है और वह उसकी अभी तक अज्ञात नाटकीय घटनाओं को उत्तेजना पूर्ण कौतूहल के साथ देखता है, किंतु दूसरा, जिसके हाथ में खेल की बागडोर है और जो तमाशे का संचालक है स्थिर और शांत रहता है। दिलचस्पी की एक ऐसी प्रखरता या प्रगाढ़ता होती है जो अज्ञान से ही आती है और वह भ्रम के साथ जुड़ी हुई होती है और जब तुम अज्ञान से बाहर निकल आते हो, तब यह भी जाती रहती है। वस्तुओं के प्रति मानव-प्राणियों की जो दिलचस्पी होती है, उसकी स्थापना भ्रम पर होती है और यदि भ्रम हटा दिया जाय, तो फिर इस लीला में उनको कोई दिलचस्पी रहेगी ही नहीं, उन्हें यह रूखी और नीरस लगेगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान और भ्रम इतने दिनों तक टिका रह सका है, यह इसलिये है कि मनुष्य इसे पसन्द करते हैं और इससे तथा इसमें जो उन्हें एक विशिष्ट रस मिलता है, उससे वे चिपके रहते हैं।

प्र०—"जो कोई अपनी शारीरिक अवस्था को परिवर्तित करना, किसी रोग का निवारण करना अथवा किसी शारीरिक अपूर्णता को दूर करना चाहता हो, तो उसे क्या करना चाहिये ? क्या उसे अपने प्राप्य लक्ष्य के प्रति तन्मय हो जाना चाहिये और अपने कार्य की पूर्ति के लिये अपनी संकल्पशक्ति का प्रयोग करना चाहिये अथवा उसे केवल इस दृढ़ विश्वास में निवास करना चाहिये कि, यह सब हो ही जायगा या यह भरोसा रखना चाहिये कि, भागवत शक्ति अपने समय पर और अपने तरीके से वाञ्छित परिणाम को ले ही आवेगी ?"

उ०—ये सभी उस एक ही काम को करने के अनेक उपाय हैं और अवस्था विशेष के अनुसार प्रत्येक ही फलदायक हो सकता है। तुम किस पद्धति का उपयोग कर अधिक से अधिक सफलता प्राप्त कर सकोगे यह बात इस पर निर्भर करती है कि तुमने कौनसी चेतना को विकसित किया है अथवा तुम जिन शक्तियों को कार्यक्षेत्र में उतार सकते हो, वे कौनसी हैं। तुम यह कर सकते हो कि तुम उस चेतना में रहने लगो, जहां रोग दूर हो चुका है या उसका पूर्ण परिवर्तन हो चुका है और इस प्रकार तुम्हारा जो आन्तरिक गठन बन जायगा, उसकी शक्ति द्वारा तुम यह कर सकोगे कि धीरे धीरे तुम अपने बाह्य परिवर्तन को भी सिद्ध कर लो। अथवा यदि उस शक्ति को तुम जानते हो

और उसका तुम्हें दर्शन हो चुका है, जो ऐसे कार्यों को सिद्ध कर सकती है, और यदि तुम्हें उस शक्ति का उपयोग करने की कुशलता प्राप्त है तो तुम उसका आवाहन कर सकते हो और जिन अगों मे उसकी क्रिया की आवश्यकता हो, वहा उसका उपयोग कर सकते हो और वह उस परिवर्तन को कार्यान्वित कर देगी। अथवा तुम यह कर सकते हो कि तुम अपनी कठिनाई को भगवान् के सामने, भागवत शक्ति मे विश्वासपूर्ण भरोसा रखते हुए, उपस्थित कर दो और उनसे पूछो कि तुम्हारे रोग का इलाज क्या है।

परन्तु तुम जो कुछ भी करो, तुम किसी प्रक्रिया का उपयोग करो, फिर चाहे उस प्रक्रिया का उपयोग करने में तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो गया हो, तो भी उसका जो फल होगा, उसको तो तुम्हें भगवान् के हाथों में ही छोड़ देना चाहिये। सदा प्रयत्न करते रहना तुम्हारा काम है, किन्तु उस प्रयत्न के फल को देना या न देना, यह भगवान् का काम है। अब यहा पर आकर तुम्हारी अपनी ताकत बन्द हो जाती है और यदि कोई परिणाम होता है, तो उसको तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं बल्कि भागवत-शक्ति लाती है। तुम्हें क्या इस बात की शका है कि भगवान से इन सब चीजों को मागना उचित है या नहीं। परन्तु यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिये भगवान से प्रार्थना करने में कोई बुराई नहीं है, तो फिर किसी भौतिक अशुद्धि या अपूर्णता को दूर करने के लिये भगवान की ओर मुह करना उससे कुछ अधिक बुरा नहीं है। परन्तु तुम जो कुछ भी मागो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब कि तुम अपनी भरपूर चेष्टा कर रहे होओ, फिर चाहे इस चेष्टा में तुम ज्ञान का प्रयोग करते होओ या शक्ति का, तुम्हें यह सदा अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की कृपा पर निर्भर करता है। एक बार यदि तुमने इस योगमार्ग का स्वीकार कर लिया है, तो फिर तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण आत्म समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये—"मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करना चाहता हूँ, मुझ से जो कुछ हो सकता है, वह मैं करता हूँ, किन्तु इसका जो फल होगा, उसके लिये मैं अपने आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों मे सौंपता हूँ।"

प्र०—"यदि कोई ऐसा कहे कि 'मुझे परिणाम के विषय मे निश्चय है, मैं इस बात को जानता हूँ कि जो मैं चाहता हूँ, उसे भगवान् मुझे देंगे' तो क्या इससे कोई सहायता मिलती है?"

उ०—इस बातको तुम इस रूप में ले सकते हो। तुम्हारी श्रद्धा की तीव्रता या अटलता का ही यह अर्थ हो सकता है कि भगवान् ने यह निर्णीत कर रखा है कि

तुम्हारी श्रद्धा जिसका निर्देश करती है वह अवश्य पूर्ण हो। अचल श्रद्धा भागवत सकल्प के विद्यमान होने का चिह्न होती है, जो कुछ होने वाला है, उसकी निदर्शिका होती है।

प्र०—"जिस समय कोई निश्चल नीरव ध्यानावस्था में होता है, उस समय उसके अन्दर कौन सी शक्तियां काम कर रही होती है?"

उ०—यह बात ध्यान करने वाले व्यक्ति पर निर्भर करती है।

प्र०—"परन्तु क्या निश्चल नीरव ध्यान की अवस्था में साधक अपने आपको पूर्ण रूप से शून्य नहीं कर देता? तब फिर कोई भी बात उस पर कैसे निर्भर कर सकती है?"

उ०—यदि तुम अपने आपको सम्पूर्ण रूप से शून्य भी कर डालो तो भी इससे तुम्हारी अभीप्सा में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका कार्यक्षेत्र नहीं बदलता। किसी की अभीप्सा मानसिक भूमिकाओं पर अथवा प्राण के क्षेत्रों में कार्य करती होती है, किसी की अभीप्सा आध्यात्मिक होती है। जिस जाति की तुम्हारी अभीप्सा होगी, वैसी ही शक्ति उसका उत्तर देगी और उसी तरह का काम वह शक्ति आकर करेगी। ध्यान के समय अपने-आपको शून्य कर लेने से यह होता है कि तुममें एक आन्तरिक निश्चल नीरवता पैदा हो जाती है, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारा व्यक्तित्व अस्तित्वविहीन हो गया अथवा तुम कोई निर्जीव या जड़ वस्तु बन गये। तुमने अपने आपको खाली करके रिक्त पात्र कर लिया, तो इसका यह मतलब हुआ कि तुमने उस वस्तु का आवाहन किया जो आकर उस रिक्त स्थान को भर देगी, अर्थात् तुमने अपनी आतरिक चेतना के दबाव को सिद्धि की ओर कर दिया। तो तुम्हारी चेतना के स्वभाव पर और उसका दबाव कितना है, इस पर यह निर्भर करता है कि किन शक्तियों को तुम कार्य क्षेत्र में उतार कर ला सकोगे और यह कि वे शक्तियां तुम्हारे कार्य में सहायता पहुँचावेंगी और उसको सफल करेंगी या तुम्हारे कार्य को विफल करेंगी अथवा यह कि वे तुम्हारे कार्य में हानि करने वाली और बाधा पहुँचाने वाली तक होंगी।

जिन अवस्थाओं के अन्तर्गत तुम ध्यान करने बैठते हो, वे महत्वपूर्ण होती हैं और उन सभी अवस्थाओं का असर ऊपर की ओर या नीचे की ओर उतार लायी गयी शक्तियों पर तथा उनके कार्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अकेले ध्यान करने बैठो, तो तुम्हारी आन्तर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी। और यदि तुम दूसरों के साथ मिलकर ध्यान करने बैठो, तो फिर मुख्य बात होगी दल की सामूहिक अवस्था। परन्तु इन दोनों ही दशाओं में अवस्थायें सदा बदलती रहेंगी और जो शक्तियां नीचे उतर आयेंगी वे

कभी भी दुबारा वे ही न होंगी। उचित रूप से की गई सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति बन जा सकती है। ऐसी एक प्राचीन कहावत है कि "यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्सा को एक करके भगवान् को पुकारें, तो भगवान् प्रकटे बिना न रह सकेंगे।"

परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, उनकी अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये। कारण, यह हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयास करने वाले किसी प्रकार की जड़ता के वश अथवा किसी भ्रांत या विकृत इच्छा के कारण एक हो गये हों और ऐसी अवस्था में प्राप्त होने वाले परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं।

ध्यान के समय जो पहली और अनिवार्य आवश्यकता है, वह यह कि तुम्हारी समस्त चेतना पूर्ण और नितान्त सचाई की अवस्था में हो। यह अपरिहार्य है कि तुम अपने आपको धोखा न दो और न दूसरे के धोखे में आओ। बहुधा लोगों को कोई कामना होती है कोई मन की पसन्द या प्राण की वासना होती है, वे चाहते हैं कि उनके ध्यान में होने वाली अनुभूति किसी विशिष्ट रूप में हो अथवा वह कुछ ऐसा मार्ग ले, जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसन्दों को सन्तोष हो, वे रिक्त और निष्पक्ष होकर नहीं रहते और यह नहीं करते कि जो कुछ घटना घटे, उसे केवल सचाई के साथ साक्षी रूप से देखते रहें। ऐसी अवस्था में यदि ध्यान के समय घटनेवाली घटना तुम्हें पसन्द न हो तो तुम्हारे लिये अपने आपको धोखा देना सहज हो जायगा। तुम देखोगे तो कोई और चीज, किंतु उसको थोड़ा-सा तोड़ मरोड़ कर कोई दूसरी ही चीज बना डालोगे अथवा तुम यह करोगे कि, किसी सहज और स्पष्ट वस्तु को विकृत कर डाला या उसको किसी असाधारण अनुभूति में बढ़ा चढ़ा डालो। तुम जब ध्यान करने बैठो, तब तुम्हें एक बालक की भांति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मन को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए, कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, किसी तरह का हठ नहीं करना चाहिये। यदि यह अवस्था हो जाय, तो बाकी सब कुछ तुम्हारी अन्दर की अभीप्सा पर निर्भर करेगा। यदि तुम अन्दर से शान्ति मांगोगे, तो वह मिलेगी, यदि बल मांगोगे, शक्ति मांगोगे, ज्ञान मांगोगे, तो वे भी मिलेंगे,— किन्तु ये सब न सब प्राप्त होंगे तुम्हारी ग्रहण करने की शक्ति के परिमाण में। और यदि तुम भगवान् का आवाहन करो,—सदा यह मान लेते हुए कि भगवान तुम्हारे आवाहन को सुनने के लिए तैयार हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि यदि तुम्हारा आवाहन उन तक पहुंचने के लिए पर्याप्त रूप से शुद्ध और पर्याप्त रूप से बलवान् है,—तो तुम्हें भगवान का उत्तर भी अवश्य मिलेगा।

श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

३—मनुष्य अर्थात् 'पुरुष'

परमेश्वर प्रकृति की ओर झुकना नहीं छोड सकता है और नाहीं मनुष्य ईश्वरत्व के प्रति अभीप्सा करने से रुक सकता है। यह तो सान्त और अनन्त का नित्य सम्बन्ध है। जब वे एक दूसरे से विमुख होते हुए प्रतीत होते हैं तो यह उनका और भी प्रगाढ़ मेल से मिलने के लिये पीछे हटना होता है।

मनुष्य में आकर जगत् की प्रकृति फिर स्व-चेतन हो उठती है जिससे कि वह (जगत्-प्रकृति) अपने दिव्य भोक्ता के प्रति अधिक लम्बी कूद लगा सके। यह वह दिव्य भोक्ता है जिसे वह न जानते हुए अपने में धारण करती है, जिसे प्राण और इन्द्रिय-वृत्तियां अपने में धारण करते हुए भी अस्वीकार करते हैं और अस्वीकार करते हुए भी ढूंढते हैं। यह जगत्-प्रकृति परमेश्वर को नहीं जानती, केवल इसलिये क्यों कि यह अपने आप को ही नहीं जानती। जब यह अपने आपको जान जाय तो सत्ता के विशुद्ध आनन्द को भी जान जायगी।

एक हो जाने में सब की उपलब्धि रहना और एक हो जाने से किसी का खोया न जाना—यही रहस्य है। परमेश्वर और मनुष्य, संसार और संसारातीत एक हो जाते हैं जब वे एक दूसरे को जान जाते हैं। उनका जुदा जुदा होना अज्ञान का मूल है, जैसे अज्ञान दुःख का मूल है।

पहिले मनुष्य अन्धे की तरह ढूंढता है और यह भी नहीं जानता कि वह स्वयं अपने ही दिव्य स्वरूप को ढूंढ रहा है; क्यों कि यह भौतिक प्रकृति के अन्धकार से चलता है और जब यह देखना शुरु भी कर देता है तब भी देर तक उस प्रकाश से चुंधियाया रहता है जो कि उसके अन्दर बढ़ रहा है।

परमेश्वर भी उसकी खोज का अस्पष्टतया प्रत्युत्तर देता है। वह मनुष्य की अन्धता को खोजता और उसमें आनन्द लेता है जो एक नन्हें बच्चे के उन हाथों के समान है जो अपनी माता को टटोल रहे होते हैं।

परमेश्वर और **प्रकृति** एक बालक और बालिका के समान हैं जो कि एक दूसरे के साथ खेलते है और प्रेम करते हैं। दृष्टिगोचर हो जाने पर वे एक दूसरे से छिपते और भागते है ताकि उनको फिर खोजा जाय, पीछा किया और पकड़ा जाय।

मनुष्य वह **परमेश्वर** है जिसने अपने आप को **प्रकृति-शक्ति** से छिपाया हुआ है ताकि वह उस शक्ति को सघर्ष द्वारा, आग्रह से, जबर्दस्ती से और अचानक हमला करके पा सके। **परमेश्वर** वह विश्वव्यापी और विश्व से भी ऊँचा उठा हुआ परात्पर **मनुष्य** है जिसने अपने आपको मानवीय रूप में विद्यमान अपने ही व्यक्तित्व से छिपाया हुआ है।

पशु **मनुष्य** है जो कि बालों वाली खाल के वेष में है और जो चार टागों पर खडा होता है। कृमि **मनुष्य** है जो अपनी **मनुष्यता** के विकास की ओर मुड़ता-तुडता रेंग रहा है। यहा तक कि भौतिक **प्रकृति** के अविकसित रूप भी अपने गठन रहित शरीर में **मनुष्य** ही है। सभी वस्तुयें **मनुष्य** है, **'पुरुष'** हैं।

क्योंकि, **मनुष्य** से हम क्या अभिप्राय लेते हैं? एक अज और अविनाशी आत्मा जो अपने ही तत्त्वों से बने हुए मन और शरीर में वास कर रहा है।

४—अन्त

मनुष्य और परमेश्वर के मेल का मतलब सदा यही हो सकता है कि ईश्वरीय दिव्यता का मनुष्यता के अन्दर सचार व प्रवेश हो जाय तथा मनुष्य का ईश्वरीय दिव्यता के अन्दर अन्तर्लय हो जाय।

किन्तु वह अन्तर्लय आत्म-विनाश के रूप का नहीं है। इस सब खोज और आवेश, दु ख और उल्लास का परिणाम उच्छेद नहीं है। यदि यही इसका अन्त होना होता तो यह खेल कभी प्रारम्भ ही न हुआ होता।

आनन्द ही रहस्य है। शुद्ध आनन्द को जानो और तुम परमेश्वर को जान जाओगे।

तो फिर इस सब का प्रारम्भ क्या था ? अस्तित्व, जिसने निरे सत्ता के आनन्द के लिये ही अपने आपको बहुगुणित कर दिया और अगणित कोटि कोटि रूपों में प्रविष्ट हो गया ताकि वह अपने आपको असख्य प्रकार से पा सके।

और मध्य क्या है ? विभक्तता जो कि बहुगुणित एकता की ओर प्रयत्नशील है, अज्ञान जो कि विविध प्रकाश के एक प्रवाह के प्रति परिश्रमपूर्वक अग्रसर हो रहा चलता है दुःख-क्लेश जो कि अकल्पनीय आनन्द के सस्पर्श को पाने के लिये घोर तपस्या कर रहा है। क्योंकि यह सब वस्तुएँ छायामय आकृतियां और बिगड़े हुए उलटे कम्पन हैं।

और इस सारी बात का अन्त क्या है ? मानो मधु अपने आपको और अपने सब बिन्दुओं का इकट्ठा स्वाद ले सके और इसकी सब बूंदे एक दूसरे का स्वाद ले सकें तथा इसकी प्रत्येक बूंद अपने आप के तौर पर सम्पूर्ण मधु-छत्ते का स्वाद ले सके, ऐसे ही परमेश्वर और मानवीय आत्मा और इस विश्व का अन्त होगा।

प्रेम आदि स्वर है, आनन्द सगीत है, शक्ति आलाप है, ज्ञान गायक है, वह अनत सर्वात्मा उसका रचयिता और श्रोता है। अभी हम केवल प्रारम्भिक बेसुरे स्वरों को जानते हैं जो उतने ही भयकर हैं जितनी कि उनकी समस्वरता महान होगी। लेकिन हम एक दिन अवश्य ही दिव्य कल्याण मय आनन्दों के समूह-सगीत तक पहुच जायगे।

स्वप्न

(श्रीअरविन्द)

एक दरिद्र आदमी अन्धेरी कोठरी में बैठा हुआ अपनी शोचनीय अवस्था और भगवान् के राज्य में अन्याय और अविचार की बातें सोच रहा था। अभिमान से वशीभूत होकर दरिद्र कहने लगा कि "लोग कर्म की दुहाई देकर भगवान् के सुनाम की रक्षा करना चाहते हैं। यदि गत जन्म के पाप से मेरी यह दुर्दशा हुई होती, यदि मैं इतना ही पापी होता तो निश्चय ही इस जन्म में भी मेरे मन में पाप चिंता का स्रोत अभी भी वहता होता। इतना घोर पातकी मन क्या एक दिन में निर्मल हो सकता है? और उस पाडे के तीनकौडी शील को देखो, उसकी धन दौलत, सोना चांदी दास दासियों को देखो, यदि कर्मफल सत्य है तो पूर्वजन्म में निश्चय ही वह कोई जगद्विख्यात साधु या महात्मा था। परन्तु कहाँ, इस जन्म में तो इसका चिह्नमात्र भी दिखायी नहीं देता। ऐसा निष्ठुर पाजी बदमाश सारे संसार में नहीं है। नहीं, कर्मवाद भगवान् की ठगविद्या है, मन को ढाढस देने का एक बहाना मात्र है। श्यामसुन्दर बडे चतुर चूडामणि है, मेरे पास आकर पकडाई नहीं देते, इसी में उनकी कुशल है, नहीं तो अच्छी तरह से शिक्षा देकर उनकी सारी चालाकी दूर कर देता।"

इतना कहते ही दरिद्र ने देखा कि हठात उसका अंधकार घर अतिशय उज्ज्वल आलोक तरंग में प्रवाहित हो गया, फिर तुरत ही वह आलोक तरंग अंधकार में लीन हो गयी। उसने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक हाथ में दीपक लिये हुए खडा है—धीरे धीरे मुसकरा रहा है पर कुछ बोलता नहीं। उसके सिर पर मोरमुकुट और पावों में नूपुर देखकर दरिद्र ने समझा कि स्वयं श्यामसुन्दर उसे पकडाई देने के लिये आये हैं। दरिद्र अप्रतिभ हो गया एक बार उसके मन में आया कि प्रणाम करूं, किंतु बालक का हंसता हुआ मुखड़ा देखकर किसी तरह भी प्रणाम करने की प्रवृत्ति नहीं हुई। अंत में उसके मुंह से ये वाक्य निकल पडे—"अरे कन्हैया, तू क्यों आया है?"

बालक ने हंसकर उत्तर दिया—"क्यों, तुमने मुझे बुलाया है न? अभी अभी मुझको चाबुक लगाने की प्रबल वासना तुम्हारे मन में थी न, इसीलिये आकर मैंने अपने को पकडवा दिया है, उठकर चाबुक लगाना शुरू करो न।"

दरिद्र और भी अप्रतिभ हुआ, भगवान को चाबुक लगाने की इच्छा के लिये उसके हृदय में अनुताप नहीं हुआ, किंतु इतने सुंदर बालक को स्नेह करने के बदले उसके शरीर पर हाथ लगाना, यह भी ठीक नहीं मालूम हुआ। बालक ने फिर कहा—"देखो हरिमोहन, जो लोग मुझसे भय नहीं करके मुझे सखा की भाँति देखते हैं, स्नेह-भाव से गाली देते हैं, मेरे साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं, वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मैंने क्रीड़ा के लिये ही जगत् की सृष्टि की है, इस क्रीड़ा के उपयुक्त साथी को मैं सदा खोजता रहता हूँ। परंतु भाई, ऐसे साथी मिलते कहाँ हैं? सभी मेरे ऊपर क्रोध करते हैं, दावा करते हैं, दान मान मुक्ति भक्ति, न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं, किंतु कहाँ, मुझे तो कोई नहीं चाहता। जो कुछ ये चाहते हैं वह मैं इन्हें देता हूँ। क्या करूं, इन्हें संतुष्ट तो करना ही पड़ता है, नहीं तो ये मेरी जान के गाहक बन जायें। तुम भी देखता हूँ कुछ चाहते हो। नाराज होने पर गुस्सा उतारने के लिये तुम्हें एक आदमी चाहिये। इसी अभिलाषा को पूरी करने के लिये तुमने मुझे बुलाया है। अस्तु मैं भी तुम्हारे चाबुक की मार खाने के लिये आया हूँ—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। हाँ, यदि प्रहार करने के पहले तुम मेरे मुँह से कुछ सुनना चाहते हो तो मैं तुम्हें अपनी प्रणाली बता दूंगा। क्यों। तुम राजी हो?'

हरिमोहन ने कहा—"तू ऐसा कर सकेगा तो? देखता हूँ तू बहुत बकबक करना जानता है, किंतु तेरे जैसा नन्हासा बालक मुझे कुछ शिक्षा दे सकेगा यह मैं कैसे विश्वास करूं?"

बालक ने फिर हँसकर कहा—"अच्छा, आओ देखो मैं यह कर सकता हूँ या नहीं।'

इतना कहकर श्रीकृष्ण ने हरिमोहन के सिर पर हाथ रखा। हठात् दरिद्र के समस्त शरीर में विद्युत् का स्रोत प्रवाहित होने लगा, मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी शक्ति अग्निमयी सर्पिणी के रूप में गर्जन करती हुई उसके ब्रह्मरंध्र में दौड़ आयी, उसका मस्तिष्क प्राणशक्ति की तरंग से भर गया। इतने में उसे ऐसा दिखायी दिया कि उसके चारों ओर जो उसके घर की दीवार है वह मानो दूर भागी जा रही है, यह नाम रूपमय जगत् मानो उसे छोड़कर अनंत में छिप गया है। हरिमोहन बाह्य ज्ञान शून्य हो गया। जब उसे फिर से चेतना हुई तो उसने देखा कि वह किसी अपरिचित मकान में बाहर के संग खड़ा है और उसके सामने गाल पर हाथ रखे गद्दी पर बैठे हुए एक बयोवृद्ध

रुप प्रगाढ़ चिंता में निमग्न है। घोर चिंता से विकृत, हृदय विदारक निराशा से लिन उनके मुह का देख कर हरिमोहन को यह विश्वास करने की इच्छा नहीं हुई कि ही वृद्ध मामके हर्त्ता कर्त्ता तीनकौडी शील हैं। अत मे अत्यत भयभीत होकर उमने लक से कहा—"अरे कन्हैया, यह तैंने क्या किया, चोर की भाति घोर रात्रि मे दूसरे मकान मे घुम आया? पुलिम आकर हम लोगों को पकडेगी और मारते मारते म दोनों का प्राण ले लेगी। तीनकौडी शील के प्रताप को क्या तू नहीं जानता?"

बालक ने हसकर कहा—"अच्छी तरह जानता हू। परन्तु चोरी मेरा पुराना धा है, पुलिस से मेरी खूब घनिष्ठता है, तुम डरो नहीं। अब तुमको मैं सूक्ष्म दृष्टि देता हू, वृद्ध के मन के भीतर क्या हो रहा है, यह देखो। तीनकौड़ी के प्रताप को तो तुम जानते ही हो, किन्तु मेरे प्रताप को भी देखो।"

अब हरिमोहन वृद्ध तीनकौडी के मन को देखने मे समर्थ हुआ। उमने देखा मानो उम वृद्ध की धनाढ्य नगरी नाना प्रकार के आक्रमणों से विध्वस हो रही है, उमकी तीक्ष्ण और ओजस्विनी बुद्धि में कितनी ही भीषण मूर्त्तिया, पिशाच और राक्षम आदि प्रवेश कर उसके सुख को लूट रहे हैं। वृद्ध ने अपने प्यारे मबसे छोटे पुत्र के माथ कलह किया है, उसे घर से निकाल दिया है, अब वे बुढ़ापे के प्यारे पुत्र को खोकर शोक से मरणातुर हो रहे हैं फिर भी क्रोध, गर्व और हठ उनके हृदय द्वार मे साकल लगाकर पहरा दे रहे हैं। क्षमा को उस द्वार से प्रवेश करने की मनाही है। उनकी कन्या के नाम दुश्चरित्रा होने का कलक लगा है, अत वृद्ध अपनी प्रिय कन्या का घर से निकालकर अब उसके लिये रो रहे हैं, वृद्ध यह जानते हैं कि उनकी कन्या निर्दोष है, किंतु समाज का भय, लोक-लज्जा, अहकार और स्वार्थ स्नेह को दबाकर रखे हुए हैं, उसे उभड़ने का अवसर नहीं देते। हजारों पाप-स्मृतियों से डरकर वृद्ध बार बार चमक उठते हैं, तथापि पाप प्रवृत्तियों को रास्ते पर लाने का साहस या बल उनमे नहीं है। बीच-बीच मे मृत्यु और परलोक की चिन्ता वृद्ध को अत्यन्त कठोर विभीपिका दिखा देती है। हरिमोहन ने देखा कि मरने की चिन्ता के परदे के पीछे से विकट यमदूत वृद्ध को झाक झाक कर देख रहे हैं और उनके दरवाजे को खटखटा रहे हैं। जब जब दरवाजा खटखटाने का शब्द होता है तब-तब वृद्धका अन्तरात्मा भय से व्याकुल होकर चीत्कार कर उठता है। इम भयंकर दृश्य को देखकर हरिमोहन भयभीत हो गया और उमने बालक की ओर देखकर कहा—"अरे कन्हैया। यह क्या, मैं तो सोचता था कि वृद्ध परम सुखी है।"

बालक ने कहा—"यही मेरा प्रताप है। कहो किसका प्रताप अधिक है, इस मुहल्ले के तीनकौड़ी शील का या वैकुण्ठनामी श्रीकृष्ण का? हरिमोहन देखो। हमारे यहां भी पुलिस है, पहरा है, गवर्नमेंट है, कानून है, विचार है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूँ। यह खेल क्या तुमको पसन्द है?"

हरिमोहन ने कहा—"नहीं रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है, क्या तुमको यह खेल अच्छा लगता है?"

बालक ने हंसकर उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसन्द करता हूँ, चाबुक लगाना भी पसन्द करता हूँ और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहर को ही देखते हो, भीतर को देखने की सूक्ष्म दृष्टि का तुमने अभी तक विकास नहीं किया है। इसीलिये तुम कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी है। इस आदमी को पार्थिव किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है—फिर भी यह लखपति तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख यन्त्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों होता है? क्या तुम यह कह सकते हो? बात यह है कि मन की अवस्था में ही सुख है और मन की अवस्था में ही दुःख। सुख और दुःख मन के विकार मात्र हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, विपद् ही जिसकी सम्पद् है वह इच्छा करने पर उस विपद् के अन्दर भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्य में दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःख की ही चिन्ता करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पाप में अपने दिन बिताते हुए केवल दुःख की ही चिन्ता करते हैं। इसीलिये पुण्य से केवल क्षणिक सुख और पाप से केवल क्षणिक दुःख या पुण्य से केवल क्षणिक दुःख और पाप से केवल क्षणिक सुख होता है। इस द्वन्द्व में आनन्द नहीं है। आनन्द के आगार की छवि तो मेरे पास है। जो मेरे पास आता है, मेरे प्रेमपाश में बंधता है, मुझे मापता है, मेरे ऊपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनन्द की छवि को वसूल करता है।"

हरिमोहन बड़ी तत्परता के साथ श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगा। बालक ने फिर कहा—"हरिमोहन और देखो, रूखा-सूखा पुण्य तुम्हारे निकट नीरस हो गया है फिर भी इस संस्कार के प्रभाव को छोड़ देना, इस तुच्छ अहंकार को त्याग देना, तुम्हारे लिये कठिन हो रहा है। इसी तरह पाप भी यद्यपि वृद्ध के निकट नीरस हो गया है फिर भी संस्कार के प्रभाव से ये उसे छोड़ नहीं पाते और इस जीवन में नरक की यन्त्रणा भोग

रहे हैं। इसीको 'पुण्य का बन्धन' और 'पाप का बन्धन' कहते हैं। अज्ञानजनित संस्कार इस बन्धन के लिये रस्सी का काम करता है। परन्तु वृद्ध की यह नरकयन्त्रणा बड़ी ही शुभ अवस्था है। इससे इनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अब तक चुपचाप बालक की बातों को सुन रहा था, अब उसने कहा—"प्यारे कन्हैया, तेरी बातें बड़ी मीठी हैं, किन्तु इनसे मेरा समाधान नहीं हो रहा है। सुख और दुःख मन के विकार हो सकते हैं, किन्तु बाह्य अवस्था ही इनका वास्तविक कारण है। विचार देख, क्षुधा की ज्वाला से प्राण जब छटपटा रहा हो, तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है? रोग या यन्त्रणा से शरीर जब कातर हो रहा हो, तब क्या कोई तेरी बात को सोच सकता है?"

बालक ने कहा—"आओ हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखाऊगा।"

इतना कहकर बालक ने हरिमोहन के सिर पर पुनः अपना हाथ रखा। हाथ के स्पर्श का बोध होते ही हरिमोहन ने देखा कि तीनकौड़ी शील के मकान का अब कहीं पता भी नहीं है, अब उसके सामने किसी निर्जन सुरम्य पर्वत के वायुसेवित शिखर पर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न अवस्था में बैठे हैं, उनके चरणों के नीचे एक प्रकाण्ड व्याघ्र प्रहरी की तरह लेटा हुआ है। बाघ को देखकर हरिमोहन के पैर आगे बढ़ने से रुके, किन्तु बालक उसे खींचकर सन्यासी के निकट ले गया। बालक के संग जोर न लगा सकने के कारण हरिमोहन को लाचार होकर चलना पड़ा। बालक ने कहा—"हरिमोहन देखो।"

हरिमोहन ने देखा कि संन्यासी का मन उसकी आखों के सामने एक खुली हुई बही के समान पड़ा हुआ है, इस बही के हरेक पन्ने पर श्रीकृष्णनाम हजार बार लिखा हुआ है। संन्यासी निर्विकल्प समाधि के सिंह-द्वार का अतिक्रमण कर सूर्य के आलोक में श्रीकृष्ण के संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने और भी देखा कि संन्यासी कई दिनों से अन्न और जल के बिना जीवन बिता रहे हैं तथा गत दो दिनों में भूख और प्यास से उनके शरीर को बहुत कष्ट हुआ है। हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या? महात्मा तुमसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये क्षुधा और पिपासा की पीड़ा भोग करते हैं। तुझे क्या साधारण सी बुद्धि भी नहीं है। इस निर्जन व्याघ्रसकुल अरण्य में कौन इन्हें आहार देगा।" बालक ने कहा—"मैं दूगा, किंतु एक और मजा देखो।" हरिमोहन ने देखा कि बाघ ने खड़े होकर अपने पंजे के आघातसे निकटवर्ती वल्मीक को तोड़ दिया।

बालक ने कहा—"यही मेरा प्रताप है। कहो किसका प्रताप अधिक है, इस महल्ले के तीनकौडी शील का या वैकुण्ठवासी श्रीकृष्ण का? हरिमोहन देखो। हमारे यहा भी पुलिस है, पहरा है, गवर्नमेंट है, कानून है, विचार है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूँ। यह खेल क्या तुमको पसन्द है?"

हरिमोहन ने कहा—"नहीं रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है, क्या तुमको यह खेल अच्छा लगता है?"

बालक ने हसकर उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसन्द करता हूँ, चाबुक लगाना भी पसन्द करता हूँ और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहर को ही देखते हो, भीतर को देखने की सूक्ष्म दृष्टि का तुमने अभी तक विकास नहीं किया है। इसीलिये तुम कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी है। इस आदमी को पार्थिव किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है—फिर भी यह लखपति तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख यन्त्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों होता है? क्या तुम यह कह सकते हो? बात यह है कि मन की अवस्था मे ही सुख है और मन की अवस्था मे ही दुःख। सुख और दुःख मन के विकार मात्र हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, विपद् ही जिसकी सम्पद् है वह इच्छा करने पर उस विपद् के अन्दर भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्य में दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःख की ही चिन्ता करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पाप में अपने दिन बिताते हुए केवल दुःख की ही चिन्ता करते हैं। इसीलिये पुण्य से केवल क्षणिक सुख और पापसे केवल क्षणिक दुःख या पुण्य से केवल क्षणिक दुःख और पाप से केवल क्षणिक सुख होता है। इस द्वन्द्व में आनन्द नहीं है। आनन्द के आगार की छवि तो मेरे पास है। जो मेरे पास आता है, मेरे प्रेमपाश में बधता है, मुझे साधता है, मेरे ऊपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनन्द की छवि को वसूल करता है।"

हरिमोहन बड़ी तत्परता के साथ श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगा। बालक ने फिर कहा—"हरिमोहन और देखो, रूखा-सूखा पुण्य तुम्हारे निकट नीरस हो गया है फिर भी इस संस्कार के प्रभाव को छोड़ देना, इस तुच्छ अहंकार को जीत लेना, तुम्हारे लिये कठिन हो रहा है। इसी तरह पाप भी यद्यपि वृद्ध के निकट नीरस हो गया है फिर भी संस्कार के प्रभाव से वे उसे छोड़ नहीं पाते और इस जीवन में नरक की यन्त्रणा भोग

रहे हैं। इसीको 'पुण्य का बन्धन' और 'पाप का बन्धन' कहते हैं। अज्ञानजनित संस्कार इस बन्धन के लिये रस्सी का काम करता है। परन्तु वृद्ध की यह नरकयन्त्रणा बड़ी ही शुभ अवस्था है। इससे इनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अब तक चुपचाप बालक की बातों को सुन रहा था, अब उसने कहा—"प्यारे कन्हैया, तेरी बातें बड़ी मीठी हैं, किन्तु इनसे मेरा समाधान नहीं हो रहा है। सुख और दुःख मन के विकार हो सकते हैं, किन्तु बाह्य अवस्था ही इनका वास्तविक कारण है। विचार देख, क्षुधा की ज्वाला से प्राण जब छटपटा रहा हो, तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है? रोग या यन्त्रणा से शरीर जब कातर हो रहा हो, तब क्या कोई तेरी बात को सोच सकता है?"

बालक ने कहा—"आओ हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखाऊंगा।"

इतना कहकर बालक ने हरिमोहन के सिर पर पुनः अपना हाथ रखा। हाथ के स्पर्श का बोध होते ही हरिमोहन ने देखा कि तीनकौडी शील के मकान का अब कहीं पता भी नहीं है, अब उसके सामने किसी निर्जन सुरम्य पर्वत के वायुसेवित शिखर पर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न अवस्था में बैठे हैं, उनके चरणों के नीचे एक प्रकाण्ड व्याघ्र प्रहरी की तरह लेटा हुआ है। बाघ को देखकर हरिमोहन के पैर आगे बढ़ने से रुके, किन्तु बालक उसे खींचकर सन्यासी के निकट ले गया। बालक के संग जोर न लगा सकने के कारण हरिमोहन को लाचार होकर चलना पड़ा। बालक ने कहा—"हरिमोहन देखो।"

हरिमोहन ने देखा कि सन्यासी का मन उसकी आखों के सामने एक खुली हुई बही के समान पड़ा हुआ है, इस बही के हरेक पन्ने पर श्रीकृष्णनाम हजार बार लिखा हुआ है। संन्यासी निर्विकल्प समाधि के सिंहद्वार का अतिक्रमण कर सूर्य के आलोक में श्रीकृष्ण के संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने और भी देखा कि सन्यासी कई दिनों से अन्न और जल के बिना जीवन बिता रहे हैं तथा गत दो दिनों में भूख और प्यास से उनके शरीर को बहुत कष्ट हुआ है। हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या? महात्मा तुमसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये क्षुधा और पिपासा की पीड़ा भोग करते हैं। तुम्हे क्या साधारण सी बुद्धि भी नहीं है। इस निर्जन व्याघ्रसंकुल अरण्य में कौन इन्हें आहार देगा।" बालक ने कहा—"मैं दूगा, किंतु एक और मजा देखो।" हरिमोहन ने देखा कि बाघ ने खड़े होकर अपने पंजे के आघातसे निकटवर्ती वल्मीक को तोड़ दिया।

अब रगा था, उस मिट्टी के ढेर मे से हजारों दीमक निकल कर मारे क्रोध के संन्यासी के बदन पर चढकर उन्हें काटने लगे। सन्यासी उसी अवस्था में बैठे हैं, ध्यानमग्न, निश्चल, अटल। अब बालक ने सन्यासी के कान मे अति मधुर स्वर से आवाज लगायी—"सखे।" सन्यासी ने आँखें खोलीं, आरभ म उन्होंने इस मोह-ज्वालामय दशन का अनुभव नहीं किया, अभी भी उनके कानों में वही विश्व-वांछित चित्त को हर लेने वाली वशी बज रही थी—ठीक उसी तरह जिस तरह वह वृन्दावन में श्री राधा के कानों मे बजी थी। इसके बाद उन हजारों दीमकों के काटने से उनकी बुद्धि शरीर की ओर आकृष्ट हुई। सन्यासी अपने आसन से हिले नहीं—विस्मयपूर्वक मन-ही मन कहने लगे—"यह क्या? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ओहो। यह तो श्रीकृष्ण मेरे सग क्रीड़ा कर रहे हैं, क्षुद्र दीमक समूह के वेश मे मुझे काट रहे हैं।" हरिमोहन ने देखा कि दीमकों के काटने की पीड़ा अब सन्यासी की बुद्धि तक नहीं पहुच पाती, प्रत्येक दशन मे तीव्र शारीरिक आनद का अनुभव कर, श्रीकृष्ण नाम लेते हुए तथा अत्यत आनद पूर्वक तालियाँ बजाते हुए, वे नाचने लगे। दीमक मिट्टी मे गिर कर भाग गये। हरिमोहन ने आश्चर्य पूर्वक पूछा—"अरे कन्हैया, यह क्या माया है।"

बालक ताली बजाकर एक पैर के बल दो बार घूमकर नाचा, ठठाकर हसा और बोला—"मैं ही हूँ जगत् का एकमात्र जादूगर। इस माया को तुम नहीं समझ सकोगे, यह मेरा परम रहस्य है। देखा! यत्रणा में भी सन्यासी मुझे स्मरण कर सके तो! और देखो।"

सन्यासी अब पुन: प्रकृतिस्थ होकर बैठे, उनका शरीर अब भूख प्यास अनुभव करने लगा, किंतु हरिमोहन ने देखा कि सन्यासी की बुद्धि उस शारीरिक विकार का अनुभवमात्र करती है, लेकिन न तो वह इससे विकृत ही हो रही है न लिप्त ही। इसी समय पहाड़ पर से किसी ने वशी विनिन्दित स्वर से पुकारा, "सखे!" हरिमोहन चौंक पड़ा। यह तो श्यामसुन्दर का ही मधुर वंशीविनिन्दित स्वर है। इसके बाद उसने देखा कि पहाड़ी चट्टान के पीछे से एक सुदर कृष्णवर्ण बालक थाली में उत्तम आहार और फल लिये हुए आ रहा है। हरिमोहन हतबुद्धि होकर श्रीकृष्ण की ओर देखने लगा। बालक उसके पास खड़ा है, फिर भी जो बालक आ रहा है वह भी अविकल श्रीकृष्ण ही है। दूसरा बालक वहाँ आकर और सन्यासी को रोशनी दिखाकर बोला—"देखो, क्या लाया हू।"

सन्यासी ने हसकर कहा—"आ गया ? इतने दिनों तक भूखा ही रखा ? खैर, जब आया है तो बैठ मेरे संग खा।"

सन्यासी और बालक उस थाली की सामग्रियों को खाने लगे, आपस में छीना-झपटी होने लगी। आहार समाप्त होने पर बालक थाली लेकर अधकार मे विलीन हो गया।

हरिमोहन कुछ पूछने जा रहा था, हठात् उसने देखा कि श्रीकृष्ण अब वहाँ नही है, अब न वहाँ सन्यासी है, न बाघ, न पर्वत ही। अब तो वह एक भले आदमियों के महल्ले मे वास कर रहा है। अगाढ़ धन-दौलत है, स्त्री है, परिवार है, नित्य ब्राह्मणों और भिक्षुकों को दान देता है, त्रिकाल सध्या करता है, शास्त्रोक्त आचार-विचार की यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ रघुनदनप्रदर्शित पथ पर चल रहा है। आदर्श पिता, आदर्श स्वामी और आदर्श पुत्र होकर जीवन यापन कर रहा है। परतु दूसरे ही क्षण उसने भयभीत होकर देखा कि जो लोग इस भद्र महल्ले में वास रहे हैं उनके अदर लेशमात्र भी सद्भाव या आनद नहीं है, ये लोग यत्र की तरह बाह्य आचार-रक्षा को ही पुण्य समझ रहे हैं। इस जीवन से हरिमोहन को आरभ में जितना आनद हुआ था, उतनी ही अब उसे यत्रणा होने लगी। उसे बोध हुआ मानो उसको भयानक प्यास लगी है किंतु उसको जल नहीं मिल रहा है, वह धूल फॉक रहा है। वहाँ से भागकर वह एक दूसरे गाँव मे गया, वहाँ एक प्रकाड अट्टालिका के सामने अपूर्व जनता का और उसके द्वारा दिये गये आशीर्वाद का कोलाहल मचा हुआ था। हरिमोहन उस जन समूह के कुछ पास गया, उसने देखा कि तीनकौड़ी शील दालान मे बैठे हुए उस जनता को दोनों हाथों से धन दे रहे हैं, कोई भी वहाँ से निराश होकर नहीं लौट रहा है। हरिमोहन ठठाकर हस पड़ा, उसने सोचा—"यह कैसा स्वप्न। तीनकौड़ी शील और दाता ? आश्चर्य !" इसके बाद उसने तीनकौड़ी के मन को देखा। उसे ज्ञात हुआ कि तीनकौड़ी शील के मन मे लोभ, ईर्ष्या, काम, स्वार्थ आदि हजारों प्रकार की अतृप्तिया और कुप्रवृत्तिया 'दो, दो' कहती हुई चिल्ला रही हैं। पुण्य के लिये, यश के लिये, गर्व के वश तीनकौड़ी उन भावों को अतृप्त अवस्था में ही किसी तरह ढॉक कर रखे हुए हैं, लेकिन ये भाव उनके चित्त से दूर नहीं हो गये हैं। इसी समय हरिमोहन को पकड़ कर कोई जल्दी-जल्दी परलोक में घुमा लाया। हिंदू का नरक, क्रिस्तान का नरक, मुसलमान का नरक, यूनानियों का नरक, हिंदू का स्वर्ग, क्रिस्तान का

स्वर्ग, मुसलमान का स्वर्ग, यूनानियों का स्वर्ग—न मालूम कितने नरकों और कितने स्वर्गों को हरिमोहन देख आया। इसके बाद उसने देखा कि वह अपने ही मकान में, अपनी पूर्व परिचित फटी हुई चटाई और अपने उसी मैले-कुचैले तोशक पर बैठा हुआ है, और उसके सामने ही श्याम सुन्दर खड़े हैं। बालक ने कहा—"रात बहुत बीत गयी है, यदि मैं घर न लौटूंगा तो मेरे घर वाले मुझे डाटेंगे, पीटेंगे। इसलिये अधिक बातें करने का अवकाश नहीं है, संक्षेप मे इतना ही कहता हूँ कि जिन स्वर्गों और नरकों को तुमने देखा है, ये सब स्वप्न-जगत् की कल्पना से सृष्ट हुए हैं। मनुष्य मरणांतर स्वर्ग और नरक मे जाता है, अपने गत जन्म के भाव को वहाँ भोगता है। तुम पूर्वजन्म में पुण्यवान् थे, किंतु उस जन्म मे प्रेम को तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं मिला। न तुमने ईश्वर से प्रेम किया न मनुष्य से। इसलिये प्राण त्याग करने पर स्वप्न-जगत् मे भले आदमियों के उस मुहल्ले मे वास करके पूर्व जीवन के भावों का तुम भोग करने लगे, भोग करते-करते उस भाव से तुम ऊब गये, तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे और तुम वहाँ से निकल कर धूलिमय नरक मे वास करने लगे, अंत में जीवन के पुण्य फलों को भोग कर पुन तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवन में छोटे-छोटे नैमित्तिक दानों को छोड़कर, नीरस बाह्य व्यवहार को छोड कर किसी के अभाव को दूर करने के लिये, तुमने कुछ नहीं किया। इसीलिये इस जन्म में तुम्हें इतना अभाव है। अभी भी तुम जो नीरस पुण्य करते हो इसका कारण यह है कि केवल स्वप्न जगत् के भोग से पाप और पुण्य का संपूर्ण क्षय नहीं होता, इनका संपूर्ण क्षय तो कर्म फल को पृथ्वी पर भोगने से ही होता है। तीनकौड़ी गत जन्म में दाता कर्ण थे, हजारों व्यक्तियों ने आशीर्वाद से इस जन्म मे लखपति हुए हैं, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है। परंतु उनका चित्त शुद्ध नहीं होने के कारण अतृप्त कुप्रवृत्तियों को, पाप कर्मों के द्वारा, उन्हें इस समय तृप्त करना पड़ रहा है। कर्मवाद समझे क्या? न तो यह पुरस्कार है न दंड—यह है अमंगल के द्वारा अमंगल की और मंगल के द्वारा मंगल की सृष्टि, प्रकृति का कानून। पाप अशुभ है अत उसके द्वारा दुःख की सृष्टि होती है, पुण्य शुभ है इसलिये उसके द्वारा सुख की सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्त की शुद्धि के लिये, अशुभ के विनाश के लिये की गयी है। देखो हरिमोहन, पृथ्वी हमारे वैचित्र्यमय जगत् का एक छोटा सा अंशमात्र है, और कर्म के द्वारा अशुभ का नाश करने के लिये तुम लोग यहाँ जन्म ग्रहण करते हो। और फिर जब पाप और पुण्य के हाथों से परित्राण पाकर प्रेम राज्य में पदार्पण करते हो तब इस कार्य से छुटकारा मिलता

है। अगले जन्म मे तुम भी छुटकारा पाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी शक्ति और उसकी सहचरी विन्या को तुम्हारे निकट भेजगा, परतु देखो एक शर्त है कि तुम मेरे इस खेल के साथी बनागे, मुक्ति नहीं माँग सकोगे। क्यों, राजी हो?" हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया। तैंने मेरा बड़ा उपकार किया। तुझे गोद में लेकर प्यार करने की बड़ी इच्छा होती है, ऐसा मालूम होता है मानो इस जीवन मे मुझे अब कोई वासना नहीं रह गयी है।"

बालक ने हँसकर कहा—"हरिमोहन, कुछ समझे क्या?" हरिमोहन ने उत्तर दिया—"समझा क्यों नहीं।" इसके बाद उसने कुछ सोचकर कहा—"अरे कन्हैया, तैंने मुझे फिर ठगा। अशुभ का सृजन तैंने क्यों किया इसकी तो कोई कैफियत दी ही नहीं।" इतना कहकर उसने बालक का हाथ पकड़ लिया। उसके हाथ से अपना हाथ छुडाकर और उसको धमकाते हुए बालक ने कहा—"दूर हटो। वाह, एक घण्टे मे ही मेरी समस्त गुप्त बातें कहला लेना चाहते हो?" इतना कहकर बालक ने दीपक को हठात बुझा दिया और हरिमोहन से कुछ दूर हटकर हँसते हुए कहा—"देखो हरिमोहन, चाबुक मारना तो तुम एकदम ही भूल गये। इसी से तो मैं तुम्हारी गोद मे नहीं बैठा कि कहीं तुम बाह्य दुःख से क्रुद्ध होकर मुझे अच्छी तरह पीटने न लगो। तुम पर मेरा लेशमात्र भी विश्वास नहीं है।'

हरिमोहन ने अन्धकार में अपना हाथ बढाया, बालक और अधिक दूर हट गया और बोला—"नहीं, इस सुख को मैं तुम्हारे दूसरे जन्म के लिये बाकी रख छोड़ता हूँ। अच्छा अब चलता हूँ।"

इतना कहकर उस अन्धकारमय रात्रि मे बालक न जाने कहा अदृश्य हो गया। हरिमोहन उसकी नूपुरध्वनि को सुनते सुनते जाग उठा। जागकर उसने सोचा कि "यह कैसा स्वप्न देखा। नरक देखा, स्वर्ग देखा और भगवान को तू कहा, छोटा-सा बालक समझकर डाटा, डपटा। यह बड़ा भारी पाप किया। परन्तु जो कुछ भी क्यों न हो प्राण में एक अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ।" हरिमोहन अब उस कृष्णवर्ण बालक की मोहिनी मूर्ति का ध्यान करने लगा और बीच बीच में कहने लगा "कितनी सुन्दर, कितनी सुन्दर।"

वर्तमान युद्ध पर श्रीअरविन्द के विचार

(केवल श्रीअरविन्द के साधकों व शिष्यों के लिये)

हम अनुभव करते हैं कि यह केवल एक ऐसी लड़ाई ही नहीं है जो न्याय्य आत्म-सरक्षण के लिये या जर्मनी के संसार व्यापी प्रभुत्व की पिपासा से तथा नाजी जीवन पद्धति से सन्त्रस्त राष्ट्रों के परित्राण के लिये छेड़ी गयी है, बल्कि यह कि इस युद्ध का अर्थ है सभ्यता और उसकी उच्चतम प्राप्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संपत्तियों की तथा मानव-जाति के सारे भविष्य की ही रक्षा। इस कार्य के लिये हमारी सहायता और सहानुभूति अटल बनी रहेगी, कुछ भी क्यों न हो, हम ब्रिटेन की विजय की आशा और प्रतीक्षा करते हैं और इस बात की कि इस विजय के परिणाम स्वरूप एक ऐसा युग आवे जहाँ शान्ति हो, विभिन्न राष्ट्रों में एकता हो और एक अच्छी तथा अधिक सुरक्षित जग-व्यवस्था हो।

१६. ६. १६४० श्रीअरविन्द
माँ

जोर दे कर और स्पष्ट रूप से यह बता देना आवश्यक हो गया है कि वे सब जो अपने विचारों और इच्छाओं के द्वारा नाजी दल का समर्थन कर रहे हैं और उसकी विजय मना रहे हैं, वे इसी बात के द्वारा भगवान् के विरुद्ध असुर के साथ सहयोग कर रहे हैं और असुर की विजय कराने में सहायक हो रहे हैं।

हिटलर को अपना यन्त्र बना कर जो आसुरी शक्ति कार्य कर रही है और उसके द्वारा संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है वह वही शक्ति है जो श्रीअरविन्द के कार्य का विरोध करती रही है और उसे नष्ट कर देने की तथा भगवान् के कार्य की पूर्ति में विघ्न डालने की चेष्टा करती रही है।

अतएव वे जो नाजियों और उनके सहगामियों की विजय चाहते हैं अब समझ लें कि इस तरह की इच्छा करना हमारे कार्य को नष्ट करने की इच्छा करना तथा श्रीअरविन्द के प्रति विश्वासघात करना है।

६. ५. १६४१ माँ

तुम्हारा कहना है कि तुम सन्देह करने लगे हो कि क्या यह माता का युद्ध है और यह चाहते हो कि मैं तुम्हें फिर से अनुभव करा दू कि हा यह माता का युद्ध ही है। तो सुनो, मैं तुम्हें पूरे बल के साथ यह दुबारा कहता हूँ कि हा यह माता का युद्ध है। तुम्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि यह लडाई दूसरों के विरुद्ध कतिपय राष्ट्रों के लिये है या यह भी कि यह युद्ध भारत के लिये है। यह सघर्ष है एक आदर्श के लिये जिसे मानव-जाति के जीवन मे पृथिवी पर स्थापित होना है, उस सत्य की प्रतिष्ठा के लिये जिसे अभी पूर्ण रूप से यहा सिद्ध होना है और यह उस अनाचार और मिथ्यात्व के विरुद्ध है जो निकट भविष्य में पृथिवी और मानवता को अभिभूत कर देने की चेष्टा कर रहे हैं। देखना है उन शक्तियों को जो इस संग्राम के पीछे कार्य कर रही है, इस या उस किसी बाह्य अवस्था को नहीं। राष्ट्रों के दोषों और भूलों पर दृष्टि केन्द्रित करने से कोई लाभ नहीं, सभी राष्ट्र दोषों से भरे पडे हैं और गहरी भूलें करते हैं, जो बात महत्त्व रखती है वह यह कि इस सग्राम मे कौन राष्ट्र किस पक्ष का होकर खडा हुआ है। यह सघर्ष है इसलिये कि मनुष्य समाज को अपना विकास करने की स्वाधीनता रहे, ऐसी अवस्थाए रहें जिसमें मनुष्य को अपने अन्दर के प्रकाश के अनुकूल चिंतन और कर्म करने की स्वतन्त्रता तथा उपयुक्त क्षेत्र मिले, वह सत्य मे आत्मा मे सवर्द्धित हो सके। इसमे जरा भी सन्देह की गुंजायश नहीं कि यदि एक पक्ष की जीत हो तो इस तरह की स्वतन्त्रता का तथा प्रकाश और सत्य की आशा का अन्त हो जायगा और जिस कार्य को करना है वह ऐसी अवस्थाओं के अधीन हो जायगा कि उसे कम से-कम मानुषिक शक्ति से पूरा करना असम्भव हो जायगा; असत्य और अन्धकार का राज्य छा जायगा, अधिकाश मानवजाति का इतना क्रूर पददलन होगा, इतनी अधोगति होगी जिसकी कि इस देश के लोग कल्पना भी नहीं कर रहे, जिसे कि वे अभी जरा भी अनुभव नहीं कर सकते। यदि दूसरे पक्ष की जीत हुई, उस पक्ष की जीत हुइ जिसने यह घोषणा की है कि वह मानवजाति के स्वतन्त्र भविष्य का हिमायती है तो यह भयानक खतरा टल जायगा और ऐसी अवस्थाओं की सृष्टि हो जायगी जिसमे मानव जाति के स्वतन्त्र विकास के सिद्धान्त को पनपने की, भगवान् के कार्य को करने की, जिस आध्यात्मिक सत्य के लिये हम हैं उसकी इस पृथिवी पर स्थापना होने की आशा रहेगी। जो लोग इस ध्येय के लिये लड़ रहे हैं वे भगवान के लिये लड़ रहे हैं और असुर का राज्य हो जाने की प्रबल विभीषिका का अन्त करने के लिये लड़ रहे हैं।

२६ ७ ४२

—श्रीअरविन्द

हमारा आदर्श

(लेखक—श्रीयुत नलिनीकान्तजी)

हमारा अर्थात् श्रीअरविन्द का आदर्श क्या है ? सीधे सादे तौर पर थोड़े मे हम कह सकते हैं कि यह आदर्श है मनुष्य को देवता बनाना, मर को अमर बनाना जड को चेतन बनाना अर्थात् जड़ के अन्दर आत्मा को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करना तो क्या यह आदर्श सभव है ? व्यवहार्य है ? हम इस लेख मे क्रमश यही दिखाने की चेष्टा करेंगे कि यह सभव है, और व्यवहार्य है, बल्कि साथ ही यह अनिवार्य भी है।

सबसे पहले हम यह देखें कि यह सभव है। साधारणतया लोग यह समझते हैं कि यह आदर्श असंभव है, एक मिथ्या कल्पना है, क्योंकि उन्हें इसके अन्दर साफ ही स्वतोविरोध दिखायी देता है। उनका कहना है कि क्या देवत्व ठीक मनुष्यत्व के विरुद्ध नहीं है, अमरत्व मृत्यु के, आत्मा जड के एकदम विपरीत नहीं है ? ये तीनों जोड़े तो ऐसी दो दो स्वतंत्र वस्तुओं से बने हुए हैं जिन दोनों में परस्पर कोई मेल ही नहीं। मायावाद की ठीक ऐसी ही मान्यता है। परन्तु फिर भी क्या यह आवश्यक और अनिवार्य है कि यह बात ऐसी ही हो ? आखिरकार मायावाद ने इस विरोध को एक स्वत सिद्ध सिद्धान्त ही तो मान लिया है और इसी तरह दूसरे भी किसी अन्य स्वत सिद्ध सिद्धान्त को मानकर चल सकते हैं। सच बात तो यह है कि जीवन और जगत् सबधी जितने भी विचार और मत हैं वे सभी मूलत किसी न किसी आध्यात्मिक अनुभूति के ऊपर अवलंबित हैं और प्रत्येक ऐसी अनुभूति का एक न एक अपना स्वत सिद्ध सिद्धान्त होता है।

तो हम आरंभ में ही यह बात अस्वीकार करते हैं कि जड़ और आत्मा, देह और देही या मनुष्य और देवता के बीच कोई विभेद या विरोध है या होना अनिवार्य है। हम एक ऐसी अनुभूति, एक ऐसे साक्षात्कार को आधार मे रखकर चलते हैं जो इस द्वैत के बीच मूलत एकत्व और तादात्म्य का होना घोषित करता है। इसी बात को हमें सबसे पहले स्पष्ट और निश्चित रूप में स्थापना के तौर पर मान लेना होगा। इसके बाद फिर यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार ये दोनों तत्त्व एक और अभिन्न हैं और इस प्रश्न पर अवश्य यहाँ कुछ विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि यहाँ पर यह संदेह किया जा सकता है कि क्या ये दोनों ठीक उसी अर्थ में एक और अभिन्न हैं

जिस अर्थ मे 'सूर्य' और 'आफताब' या 'जल' और 'H_2O' (अर्थात २ भाग हाइड्रोजन + १ भाग आक्सिजन जिनके मिलने से पानी बनता है) एक और अभिन्न है ? क्या मत मतान्तर के निरर्थक झगडे को अलग रख हम यह नहीं कह सकते कि यह एक सार्वदेशिक, सनातन और अटल अनुभव है कि देवता (भगवान्) को प्राप्त करने के लिये हमे मनुष्य को अवश्य पीछे छोड़ना चाहिये, अमर बनने के लिये हमे पहले मर्त्य अवस्था से अवश्य ऊपर उठना चाहिये और आत्मा मे निवास करने के लिये हमे जड को अवश्य अस्वीकार करना चाहिये ? इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर है, बात ऐसी ही है और ऐसी नहीं भी है। क्योंकि वास्तव में इस पहेली को जितना जटिल बना दिया गया है उतनी जटिल यह है नहीं।

एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति के अनुसार जड़ केवल अपने बाह्य और प्रत्यक्ष रूप में ही आत्मा से भिन्न मालूम होता है और उसकी यह भिन्नता भी केवल दीखने में है और आपेक्षिक ही है। यहीं इस पहेली की प्रधान ग्रंथि है। इस दृष्टि के अनुसार आत्मा ही जड़ का रूप धारण करता है, वही जड़ भी है—अन्न ब्रह्म एव। आत्मा चेतना (चित्) है और जड़, कहते हैं, अचेतना (अचित्) है। परन्तु हमारे विचार में यह कोई जरूरी नहीं है, और न ऐसा है ही, कि अचेतना पूर्ण रूप से चेतना के अभाव या एकदम लोप की अवस्था हो, अचेतना चेतना की आत्म समाहित या आच्छादित एक अवस्थामात्र है। अगर हम चेतना को जागरूकता की अवस्था कहें तो अचेतना को विस्मृति के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। अचेतना वह अवस्था है जिसमें चेतना मानो प्रतीक्षा कर रही हो या किसी बाधा के कारण अभिव्यक्त न हो पाती हो, केवल सुप्त हो, नष्ट न हो गयी हो।

इस तरह जड़ का चेतन (आत्मा) बन जाना, चैतन्यमय हो जाना केवल इसी एक कारण से संभवनीय हो जाता है कि जड़ और चेतन (आत्मा) पूर्ण रूप से परस्पर भिन्न, विरोधी या असमान तत्त्व नहीं हैं, बल्कि वे दोनों एक ही सद्वस्तु हैं, एक ही सद्वस्तु केवल दो अलग-अलग रूपों में विद्यमान है, जैसे एक ही पानी भाप और बर्फ दो विभिन्न रूप ग्रहण करता है। आत्मा जड़ बना है और जड़ अपने मूल रूप में आत्मा ही है। जहाँ आत्मा जड़ के अन्दर अपने आपको छिपाये हुए है वहाँ जड़ स्वयं एक ऐसा रूप है जो आत्मा के अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान है। जड़ आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। आत्मा स्वयं अपने आप को दबाकर, धीरे धीरे जमकर, अन्त मे ठोस जड़ात्मिका सद्वस्तु के रूप में परिवर्तित हो गया है। दाना बंधने (Crystallisation),

अपने आपको सीमित करने तथा अपने ही अन्दर पूर्णरूपेण एकाग्र होने की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा जड बन गया है। यह प्रक्रिया आत्मविकृति की एक विशेष धारा का अनुसरण करती है और क्रमश नीचे की ओर कई स्तरों को पार करती हुइ अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है। यह आत्मा की आत्मविकृति की अनन्त प्रकार की प्रक्रियाओं मे से एक प्रक्रिया है जो एक विशेष उद्देश्य और निश्चित परिपूर्णता को सामने रख कर चुनी गयी है और स्वतन्त्र रूप से विकसित की गयी है।

निवर्तन (Involution) की एक क्रिया क्रमश चेतना के अनेक स्तरों से होती हुई, धीरे धीरे बाहरी मूल्यों को घटाती हुई नीचे की ओर उतरी और अन्त में उसने आत्मा को जड़ के अन्दर पर्यवसित कर दिया। अब अगर यह बात ऐसी ही हो तो फिर यह बात भी सहज ही समझ में आ जाती है कि विवर्तन (Evolution) की, प्रत्यागमन की एक क्रिया के द्वारा फिर से जड आत्मा के अन्दर उन्नीत हो सकता है। इस तरह आत्मा का जड़ बनना ही, जड का आत्मा का एक विशेष रूप होना ही तुरत इस सम्भावना को उत्पन्न कर देता है कि जड आत्मा में रूपान्तरित हो सकता है। तब इस संभावना को स्वीकार कर लेने पर भी यहा यह तर्क किया जा सकता है कि उस समय इस रूपान्तर का फल होगा आत्मा के अन्दर जड़ का विलीन हो जाना, इसका अर्थ होगा उस विशेष रूप और सगति का विनाश जिसे हम जड़ के नाम से पुकारते हैं। आधुनिक विज्ञान के प्रताप से आज हम सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जड़ को शुद्ध शक्ति के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है, परन्तु उस समय जड़ जड नहीं रहता, वह अपने जड स्वरूप को एक दम खो देता है।

यही कुछ पुराने आध्यात्मिक साधन मार्गों की शिक्षा है। उनका कहना है कि यद्यपि आत्मा और जड के बीच कोई ऐसी खाई नहीं है जिसे पाटा न जा सके, यद्यपि ये दोनों एक दूसरे से एकदम भिन्न नहीं हैं बल्कि एक ही सद्वस्तु हैं, फिर भी आत्मा मूलगत सद्वस्तु है और जड़ उसीका एक निकृष्टतर रूप। जड़ अनन्त आत्मा से ही बाहर निकला है और यह फिर अन्त मे केवल आत्मा के ही अन्दर समा सकता है और इसे समा जाना ही होगा।

यहीं पर हमे दूसरे प्रधान सिद्धान्त को जानने की आवश्यकता है जिसे श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक दृष्टि प्रस्थापित करती है और वह यह है कि आत्मा का एक 'निकृष्टतर' रूप, 'निम्न' स्तर मे उसकी प्रसुप्तावस्था, अपने बाह्य और क्रियाशील स्वभाव और व्यवहार मे भी, वास्तव मे या मूलत केवल क्षणिक नहीं है; अप्रधान सद्वस्तु नहीं है, इसका एकमात्र कार्य केवल वास्तविक सद्वस्तु को बाधा देना, घटा

देना और छिपा देना नहीं है जिसके कारण मूलस्रोत की ओर वापस आने के समय रास्ते में धीरे धीरे उसे त्याग दिया जाय और नष्ट कर दिया जाय। वास्तव में इस 'निकृष्टतर' रूप का कार्य द्विविध होता है अवरोहण के (नीचे उतरने के) मार्ग में यह उच्चतर सद्वस्तु को सीमित करता है, आच्छादित करता है, पथभ्रष्ट करता है और अन्त में उसे एकदम मिथ्या बना देता है, और इसके साथ ही साथ वह जिसे कि यह आवृत करता है उसे स्थूल रूप भी प्रदान करता है, क्रियाशील बनाता है और सशरीर करता है। किन्तु आरोहण के मार्ग में अर्थात् हीनतर से उच्चतर अवस्था की ओर प्रत्यागमन करने की अवस्था में यह कोई आवश्यक नहीं है कि यह क्रिया सदा अन्तर्धान होने और विलुप्त हो जाने की ही हो, बल्कि यह क्रिया शुद्ध करने, आलोकित करने और परिपूर्ण करने की भी हो सकती है। उस अवस्था में हमारा दृष्टान्त यह नहीं होगा कि जड़ अपना जड़त्व खोकर शुद्ध शक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकता है, बल्कि यह होगा कि जड़ रूपान्तरित होकर एक ज्योतिर्मय वस्तु बन सकता है जिस ज्योतिर्मय होने की प्रक्रिया में वह अपने आपको नष्ट नहीं कर देगा बल्कि वह एक अमर प्रकाशमय उपादान द्वारा नय सिरे से गठित हो जायगा।

रूपान्तर करने वाले क्रमविवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया का होना केवल सम्भव या व्यवहार्य ही नहीं है बल्कि यही है जो स्वयं प्रकृति के अन्दर हो रहा है। प्राकृतिक क्रमविवर्तन का यही अर्थ है, इससे कम कुछ भी नहीं। सर्वप्रथम क्रमविवर्तन का अर्थ है प्रकृति की विलोम गति, क्योंकि यह निवर्तन की प्रक्रिया के प्रत्यागमन की एक क्रिया है। हम कह चुके हैं कि परम सत्य और सद्वस्तु ने—जिसे सच्चिदानन्द भी कहते हैं—आत्म प्रकाश की शक्ति को कम करने वाले या आत्मगोपन के परिमाण को बढ़ाने वाले अनेक स्तरों और अवस्थाओं से होकर—जिनमें प्रधान हैं, अतिमानस, अधिमानस, उच्चतर मन, मन, प्राण और शरीर या जड़—धीरे धीरे अपने आपको घनीभूत किया और अनेक रूपों को ग्रहण किया। परन्तु जड़ की अवस्था तक, जो इस निवर्तन की गति की अन्तिम अवस्था है और जो अपनी मूल अवस्था से अत्यन्त दूर दिखायी देती है, पहुँचने के बाद यह गति पीछे की ओर लौट पड़ती है और फिर उन्हीं स्तरों से हो कर जिन्हें वह पार कर आयी है, ऊपर जाने की चेष्टा करती है। परन्तु यह प्रत्यागमन की गति लुप्त या नष्ट हो जाने की प्रक्रिया नहीं है बल्कि महत्तर परिपूर्णता की ओर समन्वय साधित करने की प्रक्रिया है उन्नयन की ओर साथ ही साथ सर्वांगपूर्ण बनाने की प्रक्रिया है।

जड से ही क्रम विवर्तन की क्रिया आरम्भ होती है। इस अवस्था में जड़ एक भौतिक रासायनिक पदार्थमात्र होता है। परन्तु सब से पहिले यह उस समय परिवर्तित और रूपान्तरित होता है जब प्राणतत्त्व इसे ग्रहण करता है, जब यह प्राण क्रिया को स्वीकार कर सजीव प्राणियों की सृष्टि का आधार बनता है। इस समय यह प्राणमयीभूत जड़ अपने मूल रूप भौतिक रासायनिक पदार्थ से एकदम भिन्न प्रकार की क्रिया करता है। उसके बाद जड़ में इससे भी महान् परिवर्तन उस समय दिखायी देता है जब यह और भी ऊपर उठता है और इसे मन तत्त्व ग्रहण करता है, जब यह मनोमय सृष्टि की तरंगों को स्वीकार करता है और अपने अन्दर रूप ग्रहण करने देता है। इस मनोमयीभूत जड़ में एक तीसरे ही प्रकार का आचरण दिखायी देता है। इस तरह जब हम प्राकृतिक क्रमविवर्तन की धारा को ध्यानपूर्वक देखते हैं तो हमें मालूम होता है कि जड़ धीमी गति से रूपान्तरित होता हुआ अधिकाधिक नमनीय और स्वत स्फुरणायुक्त होता जा रहा है, उत्तरोत्तर संज्ञापूर्ण और प्रकाशयुक्त होता जा रहा है।

यह क्रम विकास प्रकृति के अन्दर सतत और स्थायी रूप से चल रहा है और प्रकृति निरन्तर जड के अन्दर अधिकाधिक उच्चतर रूपान्तर साधित करने का कठिन प्रयास कर रही है। वर्त्तमान स्थिति में भले ही यह कल्पना करना कठिन हो कि जड़ भविष्य में कैसा रूप ग्रहण करेगा या किन किन अवस्थाओं में से होकर गुजरेगा जैसा कि अवश्य ही एकदम आरम्भ में मनोमयीभूत जड़ या प्राणमयीभूत जड़ के विषय में कल्पना करना असम्भव था, परन्तु इसी कारण इस बात के अनिवार्य होने में कोई कमी नहीं आ जाती।

प्रकृति के अन्दर इस विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के होने के कारण ही यह अनिवार्य हो जाता है कि एक अवस्था ऐसी आयेगी जब जड़ के अन्दर एक दूसरा परिवर्तन दिखायी देगा, और भी गम्भीर और पूर्ण रूपान्तर साधित होगा, मन से भी एक उच्चतर सद्वस्तु इसे अधिकृत करेगी और उस सद्वस्तु की ज्योति और शक्ति इसके अन्दर ओत प्रोत हो जायगी, आध्यात्मिक चेतना प्रकट होगी और इसके साथ ही साथ अध्यात्ममयीभूत जड, आत्मचैतन्यमय जड़ उद्भूत होगा, जैसे कि इसके पूर्व मनोमय चेतना और मनोमयीभूत जड़ उत्पन्न हुआ था और उससे भी पहले प्राणमय चेतना और प्राणमयीभूत जड़। अवश्य ही इस आत्मचैतन्यमय अवस्था के भी अनन्त स्तर हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृति आत्मा को उतने ही अंश में पार्थिव शरीर में अभिव्यक्त कर सकेगी जितने अंश में स्वयं शरीर आत्ममयीभूत हो सकेगा। एकमात्र पूर्ण क्रियात्मिका आध्यात्मिक

चेतना में ही वह शक्ति होगी कि वह शरीर, प्राण और मन को पूर्ण रूप से आत्मचैतन्यमय बना सके। परम आत्मा की इसी शक्ति और स्तर को श्रीअरविन्द 'अतिमानस' के नाम से पुकारते हैं।

अब हम जरा यह समझने की भी चेष्टा करें कि इस उन्नयन और रूपान्तर का स्वरूप क्या होगा। उदाहरण के तौर पर हम मन को लें। हम यह जानते हैं कि मन एक यन्त्र है जो स्वयं आत्मा के ज्ञान या सत्य चेतना को प्राप्त करने में असमर्थ है। अपने वर्तमान स्वरूप में यह केवल उस ज्ञान और चेतना के अनुपयुक्त ही नहीं है बल्कि उनकी प्राप्ति में बाधक भी है। इसकी तरंगों और रचनाओं से उच्चतर छन्द विकृत और नष्ट हो जाता है, यही कारण है कि उपनिषदों में यह बार बार कहा गया है कि—

नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ)
या तान् मनसा न मनुते (केन)
अथवा न मनसा प्राप्तुं शक्य (कठ) इत्यादि

—फिर भी यही मन जब स्वतन्त्र नहीं रहता, स्वयं अपने आप अपना स्वामी नहीं रहता, बल्कि उच्चतर ज्योति के अधीन हो जाता है, उसके अनुकूल बन जाता है, तब वह उस ज्योति के मूर्तिमान् होने का एक यंत्र बन जाता है, पार्थिव जीवन में उसके प्रवाहित होने और अभिव्यक्त होने में एक प्रणाली का कार्य करता है। इसी कारण उपनिषद् में यह भी वचन आता है कि "मनसैवेदमवाप्तव्यम्" (कठ) अर्थात् मन से भी इसे जानना चाहिये। जो मन तर्क-वितर्क की क्रिया द्वारा कठोरतापूर्वक सीमित नहीं है बल्कि दिव्य स्फुरणा, अन्तर्ज्ञान और सत्यदृष्टि तथा और भी परे के उच्चतर स्रोतों के प्रकाश और छन्द के अन्दर पुन गठित हुआ है वह तुरत एक रूपान्तरित पात्र, एक सुयोग्य यंत्र बन जाता है जो साधारणत बहुत दूर और ऊपर रहने वाले सत्यों और सद्वस्तुओं को भौतिक और जडात्मक क्षेत्र में अभिव्यक्त करता और क्रियाशील बनाता है। उदाहरण के तौर पर कवि या कलाकार के अन्दर प्राय कुछ इसी तरह की बात देखी जाती है यद्यपि यह होती है अत्यन्त कम मात्रा में। एक कवि जो सूक्ष्म दृष्टि और दिव्य स्फुरणा के वश होकर कार्य करता है वह मन से रहित नहीं होता, न उसे ऐसा होने की कोई आवश्यकता ही है। उसका मन नष्ट नहीं हो जाता और न निष्क्रिय ही बन जाता है, बल्कि यह उन्नत हो जाता है, एक नये साँचे में ढल जाता है, और भी ऊँची अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अगर उसके अन्दर विचार वितर्क की क्रिया बंद भी हो जाय तो भी इसका मतलब यह नहीं है कि उसकी

मानसिक शक्ति ही नष्ट हो गयी, वल्कि उसका मतलब है कि उसकी मानसिक शक्ति एक नयी कोटि मे और भी बढ़ गयी। ठीक यही बात मनुष्य की चेतना और सत्ता के अन्य भागों और स्तरों के विषय में भी लागू हो सकती है।

अवश्य ही, अगर कोई चाहे तो आत्मा और जड के बीच विद्यमान चेतना के इन मध्यवर्ती स्तरों को एक किनारे छोडकर सीधे, दोनों के बीच एक प्रत्यचा की भाति ऊपर की ओर जा सकता है। परन्तु यह कोई जरूरी भी नहीं है कि सन्यासियों के इस सूने, सीधे रास्ते से ही ऊपर जाया जाय, हम और भी विस्तृत, वृत्ताकार या सर्वतोमुखी गति का अनुसरण कर सकते हैं जो केवल पहुँचाती ही नहीं प्रत्युत परिपूर्णता भी प्रदान करती है। स्वय प्रकृति की यही क्रियापद्धति है, क्योंकि प्रकृति सपूर्ण सद्वस्तु है। पहली ऐकान्तिक गति केवल व्यष्टि के लिये है और सर्वतोमुखी समष्टि दृष्टि मे इसका भी मूल्य और अर्थ है, क्योंकि समष्टि की अग्रगति और परिणति मे यह भी सहायता करती है।

हमने यह देख लिया कि जड का आत्ममय होना ही उसकी अनिवार्य परिणति है जिसे पूरा करने का प्रयास विवर्त्तनशीला प्रकृति कर रही है। अब हम थोडा और आगे बढकर यह कह सकते हैं कि यह दूर भविष्य मे एक न एक दिन पूरी होनेवाली कोई अनिवार्य बात नहीं है, बल्कि लगभग निकट भविष्य में पूरी होने वाली एक निश्चित बात है। क्योंकि केवल प्रकृति की विवर्तनकारिणी शक्ति ही इस कार्य मे अकेली नहीं लगी हुई है, वही इस महान् उद्देश्य के पूरा होने का एकमात्र आश्वासन नहीं है। इस कार्य की सिद्धि के लिये स्वयं भगवान् समय समय पर अवतरित होते हैं, सहयोग देते हैं और विवर्तनकारिणी शक्ति को अपने हाथ मे लेते हैं। इस पार्थिव लीला के अन्दर जब जिस सत्य को स्थापित करना होता है तब उस सत्य को लेकर वह एक क्रियात्मिका चेतन शक्ति के रूप मे अवतरित होते हैं, क्रिया करते हैं और सर्व प्रथम ऊपर से, फिर अन्दर से और वस्तु की समता मे होकर विकासात्मिका शक्ति को आगे बढाते हैं और इस तरह अकेली प्रकृति को जिस कार्य के करने मे शायद कई युग—ब्रह्मा के कई युग—लग जाते उसे वह शीघ्रता से थोडे समय में ही पूरा कर डालते हैं। वास्तव में प्रकृति के क्रमविवर्तन के प्राय सभी सन्धिक्षणों मे, जब उसने सृष्टि के एक स्तर से दूसरे स्तर मे जाने की चेष्टा की इसी प्रकार के अवतरण के द्वारा कार्य बड़ी शीघ्रता के साथ पूरा हुआ है। यह अवतरण उस पार्थिव वस्तु पर जो और किसी प्रकार भी न तो शीघ्र आगे बढती और न परिवर्तित होती,

मानो एक अदम्य स्थूल दबाव डालता है और इस तरह परिवर्तन का कार्य बड़ी शीघ्रता से पूरा हो जाता है।

अवश्य ही भागवत चेतना के इस अवतरण के भी विभिन्न स्तर हैं; जब जो कार्य पूरा करना होता है तब उसी कार्य के अनुसार अवतरण भी होता है। विकसनशीला प्रकृति के निम्नतर क्षेत्रों मे, जिन्हें मन, प्राण और जड का निम्नतर गोलार्द्ध भी कहते हैं, अवतरण आंशिक, अप्रत्यक्ष और आपेक्षिक होता है, क्योंकि वहा जड़ मे थोड़ा-बहुत परिवर्तन भर करना होता है, उसका पूर्ण रूपान्तर करना नहीं, रूपान्तर का कार्य तब सम्भव होता है जब प्रकृति मन के अन्दर पहुचती है और वहा उससे भी आगे, उच्चतर गोलार्द्ध मे, क्रियात्मक आध्यात्मिक सत्य के क्षेत्र मे पदार्पण करने के लिये अपने आपको प्रस्तुत करती है।

जब प्रकृति मन को अतिक्रमण करने का प्रयास करती है तब उसके अन्दर भागवत चेतना के अधिकाधिक प्रत्यक्ष और पूर्ण अवतरण के लिये द्वार खुल जाता है और जब यह चेतना अपने उच्चतम स्तर से अर्थात अतिमानस लोक से अवतरित होती है तब पार्थिव जीवन के सभी साधारण मूल्य बदल जाते हैं, सारा जीवन शीघ्र और पूर्णतर रूप से रूपान्तरित होने लगता और ऊर्ध्वस्थित आध्यात्मिक सद्वस्तुओं की प्रतिमूर्त्ति बनने लगता है। फिर अन्त में भागवत चेतना का परिपूर्ण मात्रा मे अवतरण, अपनी परम पवित्रता और परिपूर्णता के साथ उसका परिप्लावन अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि केवल वही उस पूर्णता को सिद्ध कर सकता है जो प्रकृति का चरम लक्ष्य है। केवल तभी जड़ और प्राण भी स्वय भगवान् के प्रत्यक्ष स्पर्श और आलिंगन के सामने पूर्ण रूप से हार मान सकते हैं अर्थात पूर्ण मात्रा मे रूपान्तरित हो सकते हैं।

इस युग मे हम भी प्रकृति के क्रमविवर्तन के इतिहास के एक ऐसे ही सधिक्षण मे पहुचे हुवे हैं। इस बार के अवतरण का पूरा पूरा अर्थ क्या होगा, तत्काल कितनी मात्रा मे क्या कार्य सिद्ध होगा, अवतरण का आकार और प्रकार क्या होगा— ये सब बातें ऐसी हैं जो कि पर्दे की ओट ही रहेंगी जब तक यह कार्य सिद्ध नहीं हो जाता। तो भी आध्यात्मिक दृष्टि तथा श्रद्धालु हृदय के सामने इसका थोड़ा-सा रहस्य अवश्य खुल सकता है अथवा उन्हें थोड़ा-बहुत मालूम हो सकता है जिन्हें स्वयं भगवान् कृपा करके बताना चाहें—यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।

वह भूख !

(लेखिका—श्री लीलावतीजी)

याद पड़ता है, तब बच्ची थी। माता पिता अपनी लाड़ली को देख देख कर खिल उठते थे। दादा दादी शैशव की किलकारियां सुन कर अपना जीवन सार्थक समझते थे। खाना, चहकना और रात को दादी के बिस्तरे पर पड़ कर राजा और उसकी सात रानियों की कहानी सुनना—इन तीन कामों के अतिरिक्त और भी कोई काम हो सकता है इसका ज्ञान शायद तब नहीं था। स्कूल और घर दोनों तक ही मेरा संसार सीमित था। पर वह तृप्ति, वह पूर्णता क्या पूर्ण थी इसमें, न जाने क्यों, अब सन्देह हो रहा है। आज जान पड़ता है तब भी वह तृप्ति कहीं कोई अभाव लिये हुए थी। एक भूख शायद तब भी थी।

× × × ×

धीरे धीरे बड़ी हुई। शैशव ने चुपचाप बड़ी उदारता के साथ अपना समस्त अधिकार कौमार्य को सौंप दिया। दादी की कहानियों में अब वह रस नहीं आता था। उस रस का स्थान अब एक उपेक्षामय हँसी ने ले लिया था। माता पिता की संगति से जी खिंचने लगा। पहले की सरलता और सन्तोष धीरे धीरे लोप हो रहे थे और मन नई नई उमंगों और आकांक्षाओं से ओत प्रोत हो उठा। स्कूल कालिज की संगी सहेलियों की बातों में, उनके सहवास में जो आनन्द-प्राप्ति होती थी वह एक नई वस्तु प्रतीत हुई। दिन प्रति दिन वह आकर्षण बढ़ने लगा। पर वह पहले की भूख तो जैसी की तैसी ही बनी रही। कहीं कोई कमी है, कहीं कोई कमी है—की पुकार तो उस अन्तरतम प्रदेश से सदा ही निकलती रही। पर तब इसका ज्ञान शायद उतना नहीं था। और फिर उस समय अन्तर की ओर देखने और समझने का अवकाश और बुद्धि भी किसे थी? हाँ इतना याद पड़ता है कि जितना ही मन उस समय नित नये नये विविध उपायों से उस कमी को दूर करने का विफल प्रयास करता था उतनी ही तो यह भूख बढ़ती थी।

× × × ×

समय के साथ साथ सहेलियां और उनका प्रेम समुद्र में उठती हुई तरंगों के समान पीछे हटने लगा और उनका स्थान एक नये संसार ने ले लिया। एक नये जीवन का पदार्पण हुआ। अपना घर है, पति है, सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण हैं, सजा सजाया

मकान है। वाह! इससे अधिक सुख और कहाँ मिल सकता है। लोगों को ऐसे भाग्य पर ईर्ष्या होती थी। मन को भी यह विश्वास हो गया था कि यह सब कुछ 'अपना' पाकर इस भूख के शान्त होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। इतने दिन की प्रतीक्षा के बाद हृदय को अब शायद वह वस्तु मिल जायगी जिसके अभाव में वह रह रह कर मचल उठता था। और कुछ समय तक ऐसा प्रतीत भी हुआ कि मानों सब कुछ मिल गया है। एक अनोखी तृप्ति सी जान पड़ी थी। पर यह क्या? उन मनोरंजन के साधनों का पहला ज्वारभाटा शान्त होते ही फिर वही अतृप्ति, वही अभाव! हृदय निराश हो गया, ठगा सा खड़ा रह गया। फिर एकबारगी ही चिल्ला उठा—हा! मैंने धोखा खाया है। इनसे मेरी भूख शान्त नहीं होगी। मेरी तृप्ति का साधन कहीं और है, कहीं और है, और तब यह भूख अपने पूरे वेग से छटपटा उठी। मन से न रहा गया, उसके काम में बाधा पड़ने लगी। वह झुंझला उठा—यह हृदय आखिर चाहता क्या है? किस वस्तु का अभाव है इसे? पर बताने में वह सदा की भांति तब भी असमर्थ ही रहा। उसकी भूख, उसकी अतृप्ति वैसी की वैसी ही बनी रही।

एक दिन, हां, एक दिन उसे जरा सा—बहुत ही जरा सा इस भूख के स्रोत का आभास मिला था। कहीं से एक छोटी सी पंक्ति कान में पड़ गई थी। 'हमारे जन्म मरण के साथी।' अरे यह साथी कौन? किस साथी के लिये यह व्यथापूर्ण स्वर फूट निकला है? अब भी अच्छी तरह याद है उस समय हृदय एकबारगी चौंक पड़ा था? हूँ! कहीं यही भूख ही मेरी भी तो नहीं है? मन, अपनी विद्वत्ता का कायल मन एक दम ठहाका मार कर हंस पड़ा—भूख। अरे भूख कैसी? इस भावुकता से कहीं किसी की भूख मिटती है? हृदय, दुर्बल हृदय तब भी सहम गया। आगे बोलने की उसकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। फिर वही अतृप्ति, वही असफल साधना।

फिर एक दिन, एक दिन जैसे वह सोते से जग पड़ा। उसका भीतर एक अपूर्व ज्योति से जगमगा उठा। उसकी खोज का जैसे आज अन्त हो गया। एक शान्तिप्रद प्रसन्नता से वह व्याप्त हो उठा—इतने दिन बाद, इतने दिन बाद आज यह तृप्ति कैसी? इस शीतलता का अनुभव तो पहले कभी नहीं हुआ था। जिसको वह अब तक कुछ चेतन पर अधिकतर अचेतन मन से ढूंढता फिरता था उसी अपने प्रेमपात्र को अपने भीतर ही पाकर वह आनन्द के आवेग में रो दिया। आज जैसे उसकी समस्त शक्तियां एकत्रित होकर पूरे प्रवाह से अपने प्रेमपात्र के चरणों की ओर जा रही थीं। जिसकी उसे भूख थी, जिसको वह पाने के लिये इतने दिनों से छटपटा रहा था, उसको सामने पाकर वह

एक आश्चर्यमयी प्रसन्नता से खिल उठा। फिर एकबारगी ही अपने को उसके चरणों में डालकर वह शान्त स्थिर पड़ रहा। तब उसने मन ही मन प्रार्थना की थी, "यदि इतने दिन बाद बुलाया है तो अब छोड़ना मत, हाँ, कभी न छोड़ना। यह मेरा बड़ा मंहगा सौदा है।" आश्वासन पा वह तृप्त हो गया।

× × × ×

अब उसमें वह अतृप्ति नहीं है। उस अभाव, उस भूख का स्थान अब एक ऐसी तृप्ति ने ले लिया है जिसमे मधुरता है, प्रेम है, मीठी मीठी वेदना है और क्या-क्या है यह वही जानता है। मन अब भी उसे बहकाने की चेष्टा करता है—'सब भूल है, सब धोखा है।' पर हृदय के कान अब बहरे हो चुके हैं। वह सुनकर भी नहीं सुन पाता। वह अब अपना नहीं है किसी और का है। उसी में अपने को लीन कर देने में ही उसकी वह 'भूख' अब शान्त होगी, ऐसा उसका विश्वास है।

मां

(शेष भाग)

(लेखक—श्रीहरिदास चौधरी)

धन सपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभाव प्रतिष्ठा इत्यादि के विषय में प्रचलित मत यह है कि ये सब आध्यात्मिक जीवन के एकदम विरोधी हैं—ये केवल साधना के विघ्न, रास्ते के कांटे हैं। इसी कारण हमारे देश के बहुत से सच्चे योगी और साधक ऐश्वर्य का मार्ग एक किनारे छोड़कर आगे चले गये। उन्होंने बहुमूल्य मणि मुक्ता को 'लोष्टवत्' समझा, सोना और मिट्टी, मिट्टी और सोना इन दोनों को एक और अभिन्न माना। हमने यह सीखा है कि सन्यास मूलक निवृत्ति मार्ग ही भगवान् को प्राप्त करने का अत्यन्त प्रशस्त पथ है, दरिद्रता और रिक्तता ही इस पृथ्वी पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था है। धन ऐश्वर्य विषयक ऐसा मनोभाव मन के एक अत्यन्त सुन्दर निर्लिप्त भाव को सूचित करता है, ऐकान्तिक और विशुद्ध भगवत्प्रेम का परिचय देता है। किंतु जो लोग केवल भगवान् के प्रेमी पुजारी न हो उनके कर्मी साधक होना चाहें, जो लोग मा के शक्ति प्रवाह के केंद्र बनना चाहें, जो लोग दिव्य जीवन के शिल्पी बनना चाहें, उन्हें यह याद रखना चाहिये कि इससे भी कोई बड़ी बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्यास मूलक निवृत्ति के मूल में एक बहुत बड़ा सत्य वर्तमान है तो भी वह सत्य अर्धसत्य है, विकलांग और अपूर्ण है। भोगैश्वर्य का त्याग कर दारिद्र्य-व्रत को ग्रहण करना एक बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता। हम यहां पहले इसी विषय मे दो एक बातें कहेंगे।

ऐश्वर्य और आध्यात्मिकता

अर्थ और ऐश्वर्य के विषय मे श्रीअरविन्द का मत बड़ा ही अपूर्व और नवीन है। श्रीअरविन्द की दृष्टि कितनी गभीर, व्यापक और समन्वय मूलक है इसका ज्वलंत दृष्टान्त हम यहीं पाते हैं। उनका कहना है कि अर्थ या धनबल एक विश्वजनीन शक्ति की ही स्थूल अभिव्यक्ति है। वह शक्ति मा की ही शक्ति है, प्राण और जड़ के स्तर में वह शक्ति धन-सम्पत्ति के रूप में प्रकट हुई है, इसी कारण हमारे पार्थिव जीवन के परिपूर्ण विकास के लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव धन स्वयं किसी अनर्थ का कारण नहीं हो सकता। अनर्थ का कारण है अनधिकारी के हाथों अर्थ

का दुर्व्यवहार। पृथ्वी की सारी धन सपदा वास्तव में मा भगवती की है। मनुष्य तो केवल उस मातृ सपदा का भंडारी और रक्षक है, उसका असली मालिक नहीं इसलिये कमाये हुए सब धन को मा की पूजा में और पृथ्वी पर मा का उद्देश्य पूरा करने मे लगा देना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को ठीक ठीक पूरा करने की जिसे योग्यता है, बस, वही धन प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी है आज अधिकाश धनी मनुष्य धन प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी नहीं हैं, धनपर उनका अपना अधिकार है भी नहीं, बल्कि धन ही उनके ऊपर अपना अधिकार जमाये हुए है। अपने मन के दास होने के कारण वे अपने धन को अपने आत्म-कल्याण में, आत्मोन्नति मे नहीं खर्च करते, मा भगवती का उद्देश्य पूरा करने मे नहीं लगाते, बल्कि उन सब मानवीय शक्तियों की तृप्ति के लिये व्यय करते हैं जिन्होंने-अपनी चरितार्थता के लिये उन धनवानों को अधिकृत कर रखा है। हम लोग साधारण तौरपर अपने धन का व्यवहार करते हैं अपने क्षुद्र 'अहं' की पूजा के लिये—भोग की लालसा और मान प्रतिष्ठा की आकाक्षा को तृप्त करने के लिये। फलस्वरूप हमारा धन हमारे आत्मा की अभिव्यक्ति का मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है। परन्तु यह दोष अर्थ का नहीं है, यह दोष तो हमारी अज्ञानता का, हमारी आसक्ति और मोहान्धता का है। अगर हम उचित रूप मे व्यवहार करना सीख जाय तो यह धन ही हमारे पार्थिव जीवन को सर्वांगसुन्दर बनाने वाली एक अनिवार्य शक्ति बन जायगा। पूर्ण दिव्य जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये ऐश्वर्य और सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी की आवश्यकता को क्या हम कभी अस्वीकार कर सकते हैं?

भय या उपेक्षा का भाव होने से जो योगी धन सपत्ति का त्याग करते हैं वे अपने पक्ष में दो बातें कह सकते हैं। पहली बात यह है कि अर्थ और काम मानो एक दूसरे से गुथे हुए हैं। काचन का स्पर्श बड़े ही विचित्र ढग से हमारे अन्दर कामना की आग जला देता है, योगी के अन्तःकरण की लुप्तप्राय भोगतृष्णा को नाना प्रकार से उद्दीप्त कर देता है। इसलिये साधना के पथ में सोने की थैली को सावधानी के साथ दूर रखना ही सबसे अधिक निरापद है। दूसरी बात यह है कि जो साधक धूलि-धूसरित इस ऐहिक जीवन का कोई निगूढ़ रहस्य स्वीकार नहीं करते, जिनका चरम लक्ष्य है जगत् के साथ सब प्रकार के संबंध को नष्ट कर भगवान् की चिद्घन और आनन्दघन सत्ता के अन्दर निरंतर डूबे रहना, उनके लिये काचन या अन्य किसी शक्ति के प्रयोग की वैसी कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। वे चाहते हैं विश्वातीत शान्ति,

इसलिये विश्वगत शक्तिया उनकी दृष्टि मे तुच्छ हैं, वे चाहते हैं निश्चल भूमा चेतना मे शाश्वत स्थिति, इसलिये कर्म-जीवन का सहायक अर्थ उनके लिये केवल प्रलोभन है। परन्तु हम जानते हैं कि पूर्णयोग का उद्देश्य हमारे इस ऐहिक जीवन को, इस नश्वर मर्त्य भूमि को भी लिए हुए है। पूर्णयोगी चाहता है विश्वातीत के अन्दर निहित आनन्द को विश्व के प्रत्येक स्तर म विचित्र छन्दों मे अभिव्यक्त करना, अथात् उस लीला के खेले जाने मे सहायक होना। पूर्णयोगी का लक्ष्य है सच्चिदानन्द की तुरीय शक्ति को मर्त्य के अन्दर उतार कर अपने इहजीवन को दिव्य रूप प्रदान करना। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए कर्म अपरिहार्य है, और कर्म के लिए अर्थ, शक्ति आदि सब की आवश्यकता है। काचन का त्याग कर जीवन के परे एक भूमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उस भूमानन्द को जीवन के प्रत्येक भाग मे स्थापित करने के लिए, पार्थिव जीवन का सर्वांगीण विकास करने और पूर्णता प्राप्त करने के लिए काचन की भी आवश्यकता है। तब यह बात यहा याद रखनी होगी कि पृथ्वी का सब मणि-काचन मा भगवती का है, उन्हीं की इच्छा से उन्हीं का उद्देश्य पूरा करने के लिए पूर्णयोगी अपने अधिकार मे आये हुए धन का उपयोग करेगा। इसलिए इस विषय मे श्रीअरविन्द की शिक्षा यह है कि पूर्णयोगी को दोनों भिन्नमुखी चरम मार्गों का त्याग करना होगा। एक ओर उसे अपने मन से सब प्रकार से भोगासक्ति और अर्थलोलुपता को समूल नष्ट कर देना होगा और दूसरी ओर अर्थविषयक सब प्रकार के सकोच और भय को निकाल बाहर करना होगा। पूर्णयोगी की प्रधान चेष्टा होगी चित्त की समता को बनाये रखना,—संपद् और विपद् में, ऐश्वर्य और दरिद्रता मे जीवन की भली बुरी सभी अवस्थाओं मे माकी इच्छा को हृदयगम करना। अगर दुःख दैन्य आवे तो उसे हसते हुए स्वीकार करना चाहिए, दारुण दरिद्रता के भीतर भी योगी का मन अचल प्रशान्त रहना चाहिए, आत्मानुभूति के आनन्द से भरा हुआ होना चाहिए। परन्तु इसी कारण भला दरिद्रता के प्रति आसक्ति भी क्यों उत्पन्न होगी? रिक्तता ही आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था क्यों मानी जायगी? जब ऐश्वर्य का प्राचुर्य होगा तब उसका सदुपयोग भी करने के लिए तैयार रहना चाहिए; विपुल ऐश्वर्य के अन्दर भी योगी का मन निर्लिप्त अनासक्त, नित्ययोगयुक्त रहना चाहिए। योगी को अपनी किसी लालसा को चरितार्थ करने के लिए धन-ऐश्वर्य का उपयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि पृथ्वी पर भागवत जीवन स्थापित करने में सहायता पहुँचाने के लिए करना चाहिए। इसीलिए हमने पहले कहा कि भागैश्वर्य का त्याग कर दरिद्रता के व्रत को ग्रहण करना एक बहुत

बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता—जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर निष्कामभाव से पर साथ ही सक्रिय भाव से एक ही ध्रुव लक्ष्य की ओर अग्रसर होना।

आजकल पृथ्वी की धन सम्पदा ऐसे लोगों के हाथ में पड़ गयी है जो उसका सद्व्यवहार करना बिलकुल ही नहीं जानते। इस कारण मनुष्य का धनबल मात्र असुर की पूजा मे व्यय हो रहा है या तो अर्थ के उच्छृङ्खल अपव्यय के द्वारा दानवीय प्रवृत्ति चरितार्थ हो रही है अथवा देशाचार या लोकाचार के अनुसार धन का व्यवहार होने के कारण हमारा शुद्ध "अहं" परितृप्त हो रहा है। इस विषय में पूर्णयोगी का एक बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह अनधिकारी के हाथ से धन-बल को निकाल कर मा के सामने अर्पण करे जिसमें दिव्य जीवन के सौन्दर्य और सुषमा को बढ़ाने के काम में धन ऐश्वर्य अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त कर सके। इस कर्त्तव्य का पालन सब से उत्तम रूप में वे ही लोग कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण से अहंकार और अभिकामना का विनाश हो गया है और जो कोई दावा पेश न कर अपनी सारी उपार्जन-शक्ति को निःशेषतया मा के हाथों में सौंप देने में समर्थ हैं।

पूर्णयोगी की दृष्टि मे जिस तरह पृथ्वी का अर्थबल मा की ही एक विश्वव्यापी शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है और योगी का कर्तव्य है समस्त धन मा के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं के निर्देशानुसार व्यय करना, उसी तरह पृथ्वी की समस्त कर्मशक्ति का

कर्म और योग

चरम स्रोत भी है मा भगवती की इच्छा और योगी का कर्त्तव्य है, जीवन के समस्त कर्मों को मा के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं की इच्छा के अनुसार नियंत्रित करना। अवश्य ही इस विषय मे प्रचलित मत एकदम उल्टा ही है। हमारे देश के दार्शनिक लोगों का विश्वास है कि पृथ्वी की समस्त कर्मधारा के मूल में, तथा समग्र सृष्टि प्रवाह के मूल मे जो शक्ति क्रिया कर रही है वह है अविद्याशक्ति, माया या प्रकृति। अतएव अध्यात्म-साधना का उच्चतम लक्ष्य है पृथ्वी के कर्म प्रवाह से बहुत ऊपर उठ जाना—सृष्टिपरायण शक्ति को पूर्ण रूप से अतिक्रम कर जाना। अवश्य ही साधनपथ में कर्म की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता तथा कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने के लिए जीवन के सभी कर्मों को भगवन्मुखी बनाने की भी आवश्यकता है, फिर भी जब योगी अज्ञान के क्षीणतम बन्धन तक को छिन्न कर विशुद्ध आत्म ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म निरर्थक हो जाता है। अब भला कौन कर्म करेगा? किस लिए करेगा? स्वयंसंपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा

को क्या कोई अभाव है? उसे किस बात की आवश्यकता हो सकती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है, क्यों? अन्यान्य बद्ध जीवों के मंगल और मुक्ति के लिए आत्म ज्ञान करने के बाद भी तो योगी के लिए कर्म करना संभव है। परन्तु शुद्ध ज्ञानवादी के सामने इस युक्ति की भी सीमा है। सिद्ध योगी के अन्दर लोकसंग्रह के लिए कर्म करने का संकल्प भी तभी तक रह सकता है जब तक वह अपने आपको अविद्या के एक अत्यन्त झीने आवरण से ढके हुए है, अर्थात् जब तक वह परिनिर्वाण या पूर्ण ब्रह्म को नहीं प्राप्त करता और अज्ञान को अपने अन्दर कार्य करने देता है। हमने पहले ही कहा है कि शुद्ध ज्ञानवादी के मतानुसार समस्त कर्मशक्ति का मूल है अविद्या। निरवच्छिन्न रूप से पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाने पर अविद्या के सारे सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। उस समय सारा जगत् प्रपंच मिथ्या माया में परिणत हो जाता है और कर्ममात्र ही अर्थहीन प्रतीत होता है, चाहे वह कर्म स्वार्थ के लिए हो या परार्थ के लिए।

परन्तु पूर्णयोग के अन्दर ज्ञान और कर्म के बीच के सभी विरोध एक अपूर्व समन्वय में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि पृथ्वी के समस्त कर्म प्रवाह का चरम मूल स्रोत अज्ञान या अविद्या नहीं है, बल्कि चिरजागृत सच्चिदानन्दमयी शक्ति है। ज्ञानमयी शक्ति के इशारे से ही अर्थात् मा भगवती की इच्छा से ही सृष्टि की अनन्तकोटि क्रियायें प्रक्रियायें एक अपूर्व शृंखला में नियंत्रित हो रही हैं। हमारे जीवन में आपातत जो अविद्या मालूम होती है वह विद्या की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। हम जिसे निश्चेतन बाह्य प्रकृति कहते हैं वह चिन्मयी शक्ति का ही एक स्थूलतम रूप है। ज्ञानमयी शक्ति पूर्ण ज्ञान का अवलम्बन करके ही अनन्त सृष्टि के अन्दर अनन्त लीला का विस्तार करती है—किसी अभाव को दूर करने के लिए नहीं, किसी मनमानी बात को पूरा करने के लिए नहीं बल्कि उसी विराट् आनन्दघन सत्ता की विचित्र अभिव्यक्ति के लिए। अतएव हमारा यह कर्ममय जीवन उस ज्ञानमयी शक्ति की ही बहुविध लीला प्रचेष्टा है, और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप की छन्दोमयी अभिव्यक्ति है। पूर्णयोग का लक्ष्य है सर्वांगीण आत्मसमर्पण के द्वारा दिव्य चेतना में जागृत होकर लीलामयी मा का एक अंग बन जाना जिसमें मा की इच्छा और साधक की इच्छा में कोई भेद न रहे, जिसमें मा के कर्म और साधक के कर्म में, मा की प्रेरणा और साधक के संकल्प में तनिक भी भेद न रहे।

साधना के आरंभ में ही मा के साथ पूर्ण सक्रिय एकत्व (complete dynamic identification) स्थापित करना संभव नहीं। इसलिये साधक को एक एक

कर कई स्तरों से होकर आगे बढ़ना पड़ता है। पहले स्तर मे सेवक भाव से साधना करनी होती है, दूसरे स्तर में यन्त्र भाव की उपलब्धि होती है, और तीसरे या सबसे अंत के स्तर मे साधक यह अनुभव करता है कि वह मा का एक अंश है या मा के साथ उसका पूर्ण एकत्व स्थापित हो गया है। इन विविध स्तरों के विषय में यहां कुछ और विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—गीता के इस प्रसिद्ध वचन का मर्मार्थ ग्रहण कर कर्म-साधना आरंभ होती है। साधक पहले पहल अपने को मा भगवती का दास या सेवक समझता है। मा के सेवक के रूप में केवल मा द्वारा निर्दिष्ट कर्म के ऊपर ही उसका अधिकार हो।। है, कर्म का फलाफल मा के ऊपर ही छोड़ देना होता है। साधक किसी पुरस्कार की आशा रखे बिना ही, कर्मफल के ऊपर किसी प्रकार की आसक्ति न रख, पूर्ण निष्काम भाव से कर्म करता है। मा का सेवक केवल यही चेष्टा करता है कि उसके कार्य के द्वारा मा सन्तुष्ट हों, मा के सभी कार्य सुन्दर रीति से सपन्न हों। इस निष्काम कर्म के द्वारा दिन दिन साधक दिव्य चेतना, दिव्य आनद और दिव्य शक्ति से अपने अन्तर को समृद्ध बनाता है। साधक के लिये यही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है।

निष्काम कर्मसाधना धीरे धीरे साधक को एक गंभीरतर उपलब्धि के स्तर में ले जाती है और वह है दूसरे स्तर की यन्त्र भाव की उपलब्धि। पहले स्तर में साधक मा के सेवक के रूप में कर्म मे अपना अधिकार समझता है, उसका दावा करता है, परन्तु दूसरे स्तर में उसे यह अनुभव होता है कि कर्म में भी उसका अपना कोई वास्तविक अधिकार नहीं, क्योंकि सभी कर्मों का मूल स्रोत मा स्वयं हैं। साधक के द्वारा स्वयं मा ही सभी कार्यों को सपन्न करती हैं, साधक के शरीर, प्राण और मन मा के हाथ के केवल यन्त्र हैं, स्थूल जगत में उनकी अभिव्यक्ति के आधार हैं। पहले स्तर मे साधक को कर्मफल मा के प्रति उत्सर्ग करना होता है, दूसरे स्तर में साधक कर्म को भी मा के हाथों में सौंप देता है। पहले स्तर में साधक कर्मफल की स्पृहा या आसक्ति का त्याग करता है, दूसरे स्तर में कर्तृत्वाभिमान तक उसके अन्तर से विलुप्त हो जाता है। पहले स्तर में साधक का स्वातन्त्र्य-बोध प्रबल होता है, वह अलग एक कर्मी होता है, मा का सेवक या पुजारी होता है; दूसरे स्तर में भेद ज्ञान बहुत कुछ दूर हो जाता है, साधक अब मा की लीला का उपकरण, उनके हाथ का यन्त्र बन जाता है। जिस समय अपने भीतर यह रूपान्तर चल रहा हो उस समय साधक को सदा सतर्क

रहने की जरूरत है जिसमें किसी प्रकार अहंकार आकर चेतना को आच्छन्न न कर ले। आधार के अन्दर कार्य करने वाली मा की शक्ति को अगर साधक अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा पूरी करने में लगाना चाहता है तो उसकी उन्नति का मार्ग ही बंद हो जाता है। यहां तक कि अगर मा का यंत्र होने का भी गर्व या दर्प मन में स्थान पा जाता है तो उससे साधना में बड़ा विघ्न आ उपस्थित होता है।

तीसरे या अंतिम स्तर में साधक को बड़ी अपूर्व अनुभूति होती है। सिद्धि की इस अंतिम अवस्था में साधक का पूर्ण स्वातन्त्र्य-बोध दूर हो जाता है और वह मा भगवती के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त कर लेता है। अब साधक की अपनी कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती, साधक अब मा का सेवक या पुजारी मात्र नहीं होता, अथवा मा के हाथ का यंत्रमात्र भी नहीं होता, अब वह मा की वास्तविक सन्तान, उनका सनातन अंश बन जाता है। इस अवस्था में साधक सहज और स्वाभाविक रूप से यह अनुभव करता है कि वह सदा मा की गोदी में ही निवास कर रहा है, और मा भी सर्वदा उसके भीतर विराज रही हैं,—मा की सत्ता से ही उसकी सत्ता है, मा की चेतना से ही उसकी चेतना है, मा की शक्ति की ही वह शक्ति है और मा के आनन्द का ही यह आनन्द है। मा के साथ इस प्रकार सक्रिय एकत्व स्थापित होने पर साधक को दिव्य कर्म की सर्वांगसुन्दर सिद्धि प्राप्त होती है, उसे केन्द्र बनाकर मा भगवती अबाध रूप से दिव्य जीवन गठित करने का सुयोग पाती हैं।

मां की त्रिविध सत्ता

मा भगवती की सत्ता त्रिविध है, अर्थात् अखंड और अविभाज्य होने पर भी मा एक साथ ही तीन अवस्थाओं में विराजमान रहती हैं, और इन विभिन्न अवस्थाओं में रहकर विभिन्न रूपों में कार्य करती हैं। और फिर मा के अद्वितीय होने पर भी उनकी असंख्य शक्तियां और मूर्त्तियाँ हैं, असंख्य विग्रह और विभूतियाँ हैं, वह एक होने पर भी अनन्त रूपों के अन्दर अपने-आपको प्रकट करती हैं। मा की इन असंख्य शक्तियों और विग्रहों में चार प्रधान हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। हम पहले संक्षेप में मा की त्रिविध सत्ता का पर्य्यालोचन करेंगे।

भगवान के विषय में हम यह जानते हैं कि वह एक संग तीन अवस्थाओं में अवस्थान करते हैं - विश्वातीत रूप में (Transcendental), विश्वव्यापी रूप से (Universal) और व्यष्टि रूप से (Individual)। मा भगवती के विषय में भी यही बात है। वह एक साथ ही विश्वातीता आद्या पराशक्ति, विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी

महाशक्ति और व्यष्टिरूपिणी स्नेहमयी जननी हैं। आद्या पराशक्ति सृष्टि प्रवाह से बहुत ही ऊपर अवस्थान करती हैं और अव्यक्त परमब्रह्म के साथ वैचित्र्यमय इस व्यक्त जगत को जोड़े रखती है। आद्या शक्ति का कार्य है अनिर्वचनीय परम पुरुष के अन्दर निहित अनन्त सत्यों में से कुछ को उनकी रहस्यावृत अवस्था से नीचे उतार कर अपनी चेतना के अन्दर स्पष्ट रूप प्रदान करना, जिसमे वे विश्वलीला के अन्दर मूर्तिमान् हो सकें। स्वय पुरुषोत्तम आद्या शक्ति की ही सहायता से अपने को प्रकट करते हैं, मा की विश्वातीत चेतना के अन्दर वे सच्चिदानद रूप मे नित्य प्रकट रहते हैं, मा की ही सहायता से वे 'ईश्वर और शक्ति' की द्वैताद्वैत चेतना के अन्दर और 'पुरुष तथा प्रकृति' के द्वैततत्त्व के अन्दर उतर आते हैं, और मा के ही द्वारा वे विभिन्न जगतों और लोकों, विभिन्न देवताओं और देव शक्तियों ने विचित्र रूप और आकार परिग्रहण करते हैं। दृश्यमान जो कुछ भी है वह सब पुरुषोत्तम के साथ आद्याशक्ति की लीला है। व्यक्त जगत के अन्दर ऐसी कोइ चीज नहीं रह सकती या घट नहीं सकती जिसे चिद्रूपिणी भागवती शक्ति ने परम पुरुष की अनुमति लेकर अपने सृष्टि के आनद के अन्दर सर्वप्रथम बीज रूप मे न ढाला हो।

विश्वव्यापिनी महाशक्ति-रूप से मा अनत जगतों और जीवों की सृष्टि करती है, अपनी चेतना के अन्दर उन्हें धारण कर फिर उन सबके अन्दर प्रवेश करती हैं तथा विश्व की अनतकोटि क्रिया प्रक्रियाओं को परिचालित करती हैं। व्यष्टि रूप में मा हमारे अत्यन्त निकट है; वह हमारे अन्तर मे उतर आकर मानो हमारा हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे हमें सत्यानुभूति के मार्ग पर ले चलती हैं, हमें अपनी (मा की) बृहत्तर सत्ता के अन्दर प्रवेश करने के उपयुक्त बनाती हैं।

आद्याशक्ति पुरुषोत्तम के अन्दर निहित अव्यक्त सत्य को नीचे उतार कर उसे अपनी चेतना के अन्दर एक प्रकट रूप प्रदान करती हैं, महाशक्ति फिर उसी प्रकार सत्य को विश्व-लीला मे मूर्तिमान् करती हैं। हम जिसे निश्चेतन जड़ प्रकृति कहते है वह चिद्रूपिणी महाशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की सभी शक्तिया विश्वेश्वरी मा के इशारे से परिचालित और नियन्त्रित होती हैं तथा प्रकृति की परिणाम धारा मा द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर ही प्रवाहित हो रही है।

परन्तु हमारा यह स्थूल जगत ही मा की सारी सृष्टि नहीं है, विचित्र विचित्र लोकों और भुवनों मे उनकी लीला हो रही है। विश्व लीला के सर्वोच्च शिखर पर है अनत लोक—अनत सत्ता, अनंत चेतना, अनत शक्ति और अनंत आनद का लोक।

इस अनत लोक के ऊपर मा अनावृत शाश्वत शक्ति के रूप में विराजमान हैं। अनत लोक के नीचे है अतिमानस विज्ञान जगत। मा अतिमानस महाशक्ति के रूप में वहा की अधिष्ठात्री देवी है। अतिमानस जगत् में मिथ्या की तनिक भी छाया नहीं, भूल भ्रान्ति या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं, दुःख-यन्त्रणा के आर्त्तनाद का लेश तक नहीं। वहा पर सब कुछ अखड सत्य की ज्योति से उद्भासित हो रहा है, वहा पर समस्त अनुभूति अनत आनद की बाढ़ मे सराबोर हो रही है। अतिमानस जगत् के नीचे है हमारा यह अविद्या का जगत्—देह, प्राण और मन का जगत्—अधकार, अपूर्णता और अतृप्ति का जगत्। यहा की भी वही चिन्मयी महाशक्ति अधिष्ठात्री देवी है, यहा का भी सब कुछ उन्हीं के निर्देशानुसार नियन्त्रित हो रहा है।

परार्द्ध और अपरार्द्ध के मध्यवर्ती लोक से खडी होकर मा हमारे इस अज्ञान के जगत् को आश्चर्यपूर्ण शृंखला के साथ परिचालित कर रही हैं। उनके इस कार्य मे उन्हीं की विभिन्न मूर्त्तिया और देवशक्तिया, विभिन्न सम्भूतिया (Emanations) और विभूतिया सहायता करती है, इन सब मूर्त्तियों और शक्तियों को वह सामने रख एक प्रच्छन्न अभिनेता के रूप में कार्य किया करती हैं। परन्तु यहा पर यह समझना भूल है कि मा केवल ऊपर रहकर ही हमारे इस जगत का शासन करती हैं। वह केवल विश्व की अधिष्ठात्री देवी ही नहीं हैं, वह विश्वव्यापिनी और विश्वरूपिणी भी हैं। वह हमारे इस अनृत के जगत् मे नीचे उतरकर आसुरिक और दानवीय शक्तियों के आघात-अत्याचार के अन्दर से होकर अपना व्रत पूरा करने को अग्रसर होती हैं। मा के अकुठ आत्म-बलिदान के कारण ही, प्रकृति यज्ञ के प्रभाव से ही हमारा यह जगत् और जीवन है। चिन्मयी मा अज्ञान अन्धकार के अन्दर स्वय उतर आती हैं जिसमें उस अन्धकार को फिर से ज्ञान की पूर्ण ज्योति मे परिणत कर सकें, वह हमारे जीवन की नश्वरता के अन्दर उतर आती हैं जिसमें इस नश्वर जीवन को अमर अमृतमय बना सकें, वह विश्व के शोक-ताप, दुःख-यन्त्रणा के अन्दर उतर आती हैं जिसमें सम्पूर्ण वेदना को अपूर्व दिव्य आनन्द में रूपान्तरित कर सकें।

मा की विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यष्टि इस त्रिविध सत्ता के विषय में एक धारणा बनाने की चेष्टा हमने की है। अब हम सक्षेप मे विश्वव्यापिनी मा के शक्ति चतुष्टय का पर्यालोचन करेंगे। पार्थिव लीला को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए विश्वेश्वरी मा की चार प्रधान शक्तिया उनके अग्रभाग मे आकर खड़ी होती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाशक्ति के ये चार महारूप हैं—महेश्वरी,

मां की चार शक्तियां

महाशक्ति और व्यष्टिरूपिणी स्नेहमयी जननी हैं। आद्या पराशक्ति सृष्टि-प्रवाह
बहुत ही ऊपर अवस्थान करती है और अव्यक्त परब्रह्म के साथ वैचित्र्यमय
व्यक्त जगत् को जोड़े रखती हैं। आद्या शक्ति का कार्य है अनिर्वचनीय परम पुरु
के अन्दर निहित अनन्त सत्यों में से कुछ को उनकी रहस्यावृत अवस्था से नीचे उता
कर अपनी चेतना के अन्दर स्पष्ट रूप प्रदान करना, जिसमें वे विश्वलीला के अन्द
मूर्तिमान् हो सकें। स्वयं पुरुषोत्तम आद्या शक्ति की ही सहायता से अपने को प्रक
करते हैं, मा की विश्वातीत चेतना के अन्दर वे सच्चिदानन्द रूप में नित्य प्रकट रहते
मा की ही सहायता से वे 'ईश्वर और शक्ति' की द्वैताद्वैत चेतना के अन्दर और 'पुरु
तथा प्रकृति' के द्वैततत्त्व के अन्दर उतर आते हैं, और मा के ही द्वारा वे विभि
जगतों और लोकों, विभिन्न देवताओं और दैव शक्तियों के विचित्र रूप और आका
परिग्रहण करते हैं। दृश्यमान जो कुछ भी है वह सब पुरुषोत्तम के साथ आद्याशक्ति
की लीला है। व्यक्त जगत् के अन्दर ऐसी कोई चीज नहीं रह सकती या घट नहीं
सकती जिसे चिद्रूपिणी भागवती शक्ति ने परम पुरुष की अनुमति लेकर अपने सृ
के आनन्द के अन्दर सर्वप्रथम बीज रूप में न ढाला हो।

विश्वव्यापिनी महाशक्ति-रूप से मा अनंत जगतों और जीवों की सृष्टि करती
है, अपनी चेतना के अन्दर उन्हें धारण कर फिर उन सबके अन्दर प्रवेश करती है
तथा विश्व की अनतकोटि क्रिया प्रक्रियाओं को परिचालित करती हैं। व्यष्टि रूप में
मा हमारे अत्यन्त निकट है; वह हमारे अन्तर में उतर आकर मानो हमारा हाथ पकड़
कर धीरे-धीरे हमें सत्यानुभूति के मार्ग पर ले चलती हैं, हम अपनी (मा की) बृहत्तर
सत्ता के अन्दर प्रवेश करने के उपयुक्त बनाती हैं।

आद्याशक्ति पुरुषोत्तम के अन्दर निहित अव्यक्त सत्य को नीचे उतार कर उसे
अपनी चेतना के अन्दर एक प्रकट रूप प्रदान करती हैं, महाशक्ति फिर उसी प्रकट
सत्य को विश्व-लीला में मूर्तिमान् करती हैं। हम जिसे निश्चेतन जड़ प्रकृति कहते
हैं वह चिद्रूपिणी महाशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की सभी
शक्तियां विश्वेश्वरी मा के इशारे से परिचालित और नियन्त्रित होती हैं तथा प्रकृति की
परिणाम धारा मा द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर ही प्रवाहित हो रही है।

परन्तु हमारा यह स्थूल जगत् ही मा की सारी सृष्टि नहीं है, विचित्र विविध
लोकों और भुवनों में उनकी लीला हो रही है। विश्व लीला के सर्वोच्च शिखर पर है
अनंत लोक—अनंत सत्ता, अनंत चेतना, अनंत शक्ति और अनंत आनंद का लोक।

इस अनत लोक के ऊपर मा अनावृत शाश्वत शक्ति के रूप में विराजमान हैं। अनत लोक के नीचे है अतिमानस विज्ञान जगत्। मा अतिमानस महाशक्ति के रूप मे यहा की अधिष्ठात्री देवी हैं। अतिमानस जगत् में मिथ्या की तनिक भी छाया नहीं, मूल भ्रान्ति या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं, दुःख-यन्त्रणा के आर्त्तनाद का लेश तक नहीं। यहा पर सब कुछ अखड सत्य की ज्योति से उद्भासित हो रहा है, वहा पर समस्त अनुभूति अनत आनद की बाढ़ मे सराबोर हो रही है। अतिमानस जगत् के नीचे है हमारा यह अविद्या का जगत्—देह प्राण और मन का जगत—अधकार, अपूर्णता और अतृप्ति का जगत्। यहा की भी वही चिन्मयी महाशक्ति अधिष्ठात्री देवी हैं, यहा का भी सब कुछ उन्हीं के निर्देशानुसार नियन्त्रित हो रहा है।

परार्द्ध और अपरार्द्ध के मध्यवर्ती लोक मे खड़ी होकर मा हमारे इस अज्ञान के जगत् को आश्चर्यपूर्ण शृखला के साथ परिचालित कर रही हैं। उनके इस कार्य मे उन्हीं की विभिन्न मूर्त्तिया और देवशक्तिया, विभिन्न सम्भूतिया (Emanations) और विभूतिया सहायता करती हैं, इन सब मूर्त्तियों और शक्तियों को वह सामने रख एक प्रच्छन्न अभिनेता के रूप मे कार्य किया करती हैं। परन्तु यहा पर यह समझना भूल है कि मा केवल ऊपर रहकर ही हमारे इस जगत् का शासन करती हैं। वह केवल विश्व की अधिष्ठात्री देवी ही नहीं हैं, वह विश्वव्यापिनी और विश्वरूपिणी भी हैं। वह हमारे इस अनृत के जगत् मे नीचे उतरकर आसुरिक और दानवीय शक्तियों के आघात-अत्याचार के अन्दर से होकर अपना व्रत पूरा करने को अग्रसर होती हैं। मा के अकुंठ आत्म-बलिदान के कारण ही, प्रकृति यज्ञ के प्रभाव से ही हमारा यह जगत् और जीवन है। चिन्मयी मा अज्ञान अन्धकार के अन्दर स्वय उतर आती हैं जिसमे उस अन्धकार को फिर से ज्ञान की पूर्ण ज्योति मे परिणत कर सकें, वह हमारे जीवन की नश्वरता के अन्दर उतर आती हैं जिसमे इस नश्वर जीवन को अमर अमृतमय बना सकें, वह विश्व के शोक-ताप, दुःख-यन्त्रणा के अन्दर उतर आती हैं जिसमे सम्पूर्ण वेदना को अपूर्व दिव्य आनन्द मे रूपान्तरित कर सकें।

मा की विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यष्टि इस त्रिविध सत्ता के विषय में एक धारणा बनाने की चेष्टा हमने की है। अब हम सक्षेप मे विश्वव्यापिनी मा के शक्ति चतुष्टय का पर्यालोचन करेंगे। पार्थिव लीला को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए विश्वेश्वरी मा की चार प्रधान शक्तिया उनके अग्रभाग में आकर खड़ी होती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाशक्ति के ये चार महारूप हैं—महेश्वरी,

मां की चार शक्तियां

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। Wisdom, Strength, Harmony and Perfection—प्रज्ञान, प्रताप, सुसंगति और ससिद्धि ये शक्तिचतुष्टय के विभिन्न गुण हैं। इन्हीं दिव्य गुणों को लेकर ये चारों शक्तियां विश्व की जीवनधारा के अन्दर उतर आती हैं, मा की जो विभूतियां हैं वे एक एक गुण का स्फुलिंग धारण कर शक्तिमान् होती हैं, माँ के प्रति जिन लोगों की प्रकृति खुली हुई होती है वे लोग इन सब ऐश्वर्यों के स्पर्श से नवजीवन प्राप्त करते हैं।

महेश्वरी अनन्त ज्ञानमयी हैं, इसी कारण वह मानसभूमि से ऊपर सीमाहीन विशालता के अन्दर, विक्षोभहीन महान् शांति के अन्दर निवास करती हैं। कोई भी चीज उन्हें छिपा नहीं सकती, क्योंकि सृष्टि का विधान वह जानती हैं और सारा भविष्य उनकी आंखों के सामने खुला हुआ है। विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं का तथा विभिन्न जीवों का वह उनके अन्दर निहित सत्य के अनुसार परिचालित करती हैं। ज्ञानी को वह गभीरतर ज्ञान का पता बताती है; असुर को वह दुःख के रास्ते से मंगल की ओर ले जाती हैं, मूढ़ का वह अन्धकार के भीतर से होकर आलोक की ओर ले जाती है। विरुद्ध शक्ति के प्रति खूब निष्ठुर दिखायी देने पर भी महेश्वरी माता अनन्त करुणा की मूर्ति हैं। अवश्य ही करुणा उनकी ज्ञान दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सकती, अथवा उनके कर्म को सत्य के पथ से हटा नहीं सकती। राक्षस या असुर के लिए जब वह अपने कठोर हाथों से दण्ड देने की व्यवस्था करती हैं तब वह दण्ड विधान उनकी ज्ञानगर्भ करुणा की ही अभिव्यक्ति होता है, क्योंकि उस दण्ड को भोगने के कारण ही असुर के लिए यह सम्भव होता है कि वह अहंकार का त्याग कर सत्य के पथ में, आत्म कल्याण के मार्ग में, विश्व-कल्याण के मार्ग में लौट आ सके।

महाकाली महाप्रलयंकर प्रताप को अपने अन्दर धारण करती हैं। वह अप्रतिहत रुद्रतेज और सर्वजयी शक्ति की खान हैं। हमारे जीवन में जो कुछ क्षुद्र और संकीर्ण है, जो कुछ मिथ्या और तमाच्छन्न है, जो कुछ आसुरिक और भगवद्विरोधी है सब को क्षण भर में संचूर्णित कर के हमारी प्रकृति को एक समुन्नत भागवत महिमा के अन्दर उठा ले जाने का प्रयास महाकाली करती हैं। इसी कारण जो लोग भीरु, दुर्बल या आसुरिक प्रकृति वाले हैं उनके मन में महाकाली का नाम भय का संचार करता है, परन्तु जो लोग शक्तिमान् और वीर साधक हैं वे लोग उनका अत्यधिक आदर करते हैं, सब से आगे उन्हीं को पूजा का आसन प्रदान करते हैं। महाकाली के एक हाथ में जैसे भयावह शासन-दण्ड है, वैसे ही उनके दूसरे हाथ में स्नेह का कोमल स्पर्श है। मिथ्याचार के

विरुद्ध जैसे उनका क्रोध तीव्र होता है वैसे ही अभयदान के लिए उनका एक हाथ सदा खुला होता है, क्योंकि एक ही साथ वह प्रलयकरी और स्नेहमयी व करुणामयी हैं। महाकाली की कृपा से अनेक शताब्दियों की तपस्या का फल एक दिन मे पाया जा सकता है, उनकी दिव्य प्रचण्डता और क्षिप्रता हमारी कल्पना के बाहर की चीज है। वह कर्म का आशुफलप्रद, आनन्द को तीव्रतम, ज्ञान को विश्वविजयी, सिद्धि को सर्वांगसुन्दर बनाती हैं तथा सौन्दर्य को एक समुन्नत ऊर्ध्वगति प्रदान करती हैं।

महालक्ष्मी की विशेषता है अनुपम सुषमा और सुसगति। उनके विश्वविमोहन सौंदर्य को यदि अलग कर दिया जाय तो प्रज्ञान और प्रताप अपूर्ण ही रह जायेंगे। उनकी दुर्निवार आकर्षण शक्ति ही जगत् की सब वस्तुओं को, सब शक्तियों को, सब जीवों को एक साथ पकडे रखती है, उन सब को परस्पर मिलित होने के लिए बाध्य करती है, जिसमें मा का प्रच्छन्न आनन्द विचित्र रूपों और छन्दों मे लीलायित हो सके। मा के विभिन्न महारूपों मे महालक्ष्मी का आकर्षण ही जीव के लिए सब से अधिक प्रबल होता है। महेश्वरी इतनी महत और दुरधिगम्य हैं कि पृथ्वी का क्षुद्र जीव उनके समीप जाते हुए सकोच करता है अथवा उन्हें धारण करने मे असमर्थ होता है, महाकाली इतनी प्रचण्ड और तीव्र हैं कि दुर्बल मनुष्य उनका स्पर्श सहन नहीं कर पाता, किन्तु महालक्ष्मी की ओर सभी एक दुर्निवार मोहिनी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। उन की दृष्टि से जीवन माधुर्य से भर जाता है, उनके स्पर्श से साधक के भीतर आनन्द का झरना खुल जाता है। परन्तु इन श्रीमयी महालक्ष्मी को सन्तुष्ट करना अथवा उन्हें अपने अन्दर धारण करना आसान काम नहीं है। उनकी पूजा करनी होती है अन्तर के सौंदर्य के द्वारा, मन और आत्मा के अन्दर सुसगति स्थापित करके, विभिन्न विचारों और भावनाओं मे, विभिन्न कार्यों तथा बातों मे, जीवन के भीतर और बाहर सामजस्य की प्रतिष्ठा करके। जहा पर सुसगति और प्रेम का अभाव होता है, जहा पर विरोध और सघर्ष होता है, वहा से देवी दूर चली जाती हैं। जो कुछ कुत्सित और बीभत्स है जो कुछ रूक्ष और मलिन है वह सब देवी के मन में एक प्रकार की दिव्य घृणा को उत्पन्न करता है, उनके सामने वह अपने आपको एक पर्दे के अन्दर छिपा रखती हैं। महालक्ष्मी का कार्य है प्रेम और सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ युक्त कर देना। अतएव एक ओर जैसे वह भोगविलासी की उच्छृङ्खलता से घृणा के साथ किनारा काट कर चली जाती हैं वैसे ही दूसरी ओर तपस्वी की अनावश्यक रूक्षता और कठोरता का भी समर्थन नहीं करतीं। उन्हें प्रसन्न करने का उपाय यह है कि मन

की सौंदर्यानुभूति और हृदय के गभीरतर आवेगों का कठोरतापूर्वक दमन या निष्पेषण न करके इन्हें भगवन्मुखी कर दिव्य महिमा में रूपान्तरित किया जाय।

महासरस्वती की विशेषता है ससिद्धि (Perfection of work)। सभी कार्यों को सर्वांगसुन्दर बनाना, प्रत्येक वस्तु को ब्योरेवार समग्र के अन्दर यथास्थान सन्निविष्ट करना, सब प्रकार से सारे दोषों और त्रुटियों को दूर करना उनका प्रधान व्रत है। मा की वह कर्मशक्ति हैं, इस कारण एक ओर जैसे वह मा की चारों शक्तियों में सब से छोटी हैं, वैसे ही दूसरी ओर स्थूल बाह्य प्रकृति तथा मनुष्य के कर्मजीवन के अत्यन्त निकट हैं। मा की अन्यान्य शक्तियों के सभी कर्म अपनी पूर्णता के लिए महासरस्वती के ऊपर निर्भर करते हैं। महेश्वरी विभिन्न जागतिक शक्तियों की वृहत् धाराओं को निश्चित कर देती हैं, महाकाली उन्हें गति और वेग प्रदान करती हैं, महालक्ष्मी उनके छन्द और परिमाण की रक्षा करती हैं और महासरस्वती सर्वदा यह ध्यान रखती हैं कि उन सब जागतिक शक्तियों का यथायथ समावेश और प्रयोग करके मा की इच्छा को अत्यन्त सुन्दर रूप में वास्तविकता में परिणत किया जा सके। सृष्टि को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए वह अनन्त काल तक परिश्रम करने के लिए तैयार हैं। महासरस्वती के प्रसाद से मनुष्य सभी कर्मों में अपूर्व दक्षता प्राप्त करता है, तथा सभी विषयों में आश्चर्यजनक सूक्ष्म बोध और पुङ्खानुपुङ्ख ज्ञान प्राप्त करता है। अवश्य ही उनका प्रसाद प्राप्त करने के लिए हमारा संकल्प होना चाहिए अव्यभिचारी तथा हमारी इच्छा होनी चाहिए एकनिष्ठ, द्विधाहीन और आन्तरिक। वह मनुष्य के अत्यन्त निकट उतर आती हैं और असीम धैर्य के साथ उसकी प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के काम में सहायता करती हैं। हमारे हजारों दोषों-त्रुटियों, हजारों असफलताओं के होने पर भी वह निराश या विमुख नहीं होतीं, हाथ पकड़ कर, सदा उत्साह देते हुए हमें जीवन की पूर्णता की ओर ले जाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मा की असंख्य शक्तियां, रूप और विग्रह हैं। अवश्य ही विश्व का परिचालन करने में प्रकट रूप से जो शक्तियां मा की सहायता किया करती हैं उनमें महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ही सब से प्रधान हैं।

अतिमानस महाशक्ति

परन्तु इस शक्तिचतुष्टय के अतिरिक्त भी मा के अन्यान्य महारूप हैं। उनका अवतरण कराना अधिक कठिन है और अब तक पार्थिव जीवन के क्रमविकास में उन्होंने प्रकट रूप में कोई सहायता नहीं की है। किन्तु तो भी पूर्ण योग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अर्थात् अतिमानस विज्ञान को पार्थिव चेतना

में प्रतिष्ठित कर भागवत जीवन की रचना करने के लिये मा की उन सब विरल शक्तियों मे से कुछ का आविर्भाव अत्यन्त आवश्यक है। उनमे से भी एक शक्ति की बात यहा विशेप रूप से कहने की जरूरत है, वह हैं मा के दुर्ज्ञेय और दुर्वार आनन्द की मूर्त्ति। वह आनन्द एक अपूर्व भागवत प्रेम से उत्पन्न हुआ है, विश्व की अन्यान्य शक्तियों का प्रच्छन्न आश्रयस्थल वही आनन्द है, और केवल वही आनन्द ज्योतिर्मय अतिमानस चेतना और निश्चेतन जड़ के मध्यवर्त्ती विपुल व्यवधान को दूर कर अतिमानस सिद्धि या अनुपम दिव्य जीवन की प्रतिष्ठा को सभव कर सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य की प्रकृति इतनी क्षुद्र और तमसावृत्त हो रही है कि मा की बृहत्तम शक्ति को धारण करने में वह असमर्थ है। हमारा शरीर, प्राण और मन ये जब यथेष्ट रूपान्तरित होकर मा की चारों शक्तियों की स्वच्छन्द लीला के क्षेत्र बन जायेंगे तभी मा की बृहत्तर शक्तिया पृथ्वी पर उतरकर अतिमानस सिद्धि का मार्ग खोल देंगी। उस समय मा स्वय अपने सभी विग्रहों को अपने अन्दर अपूर्व सामजस्य के साथ एकत्रित कर अतिमानस महाशक्ति के रूप में आत्म प्रकाश करेंगी तथा मानवीय प्रकृति के सभी स्तरों को अतिमानस ज्योति-प्रवाह से उद्भासित कर हमारे पार्थिव जीवन को अमृतमय बना देंगी। निश्शेष आत्म-समर्पण के द्वारा इन अतिमानस महाशक्ति का आवाहन करना तथा उनके साथ सचेतन सहयोग करना ही अतिमानस-योग का प्राण है, यही उसका मूलमत्र है।

जगत् मिथ्या ?

[कविवर प० दीनानाथ जी भार्गव 'दिनेश']

मानव ने मिथ्या माना जग जहा शाति के झरने झरते।
और जहा की पुण्य पक से सरस सुमन अरविन्द उभरते ॥

जहा कर्म की सफल बेल में,
चितचाहा प्रतिफल फलता है।
जहा देवता होने के हित,
मानव नित प्रतिपल चलता है ॥

सत्य खोजने आए पखेरू जिसमें डेरा डाल ठहरते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहा शाति के झरने झरते ॥

प्रभु की दिव्य विभूति जहा पर,
खुल कर खेल खेलती रहती।
गगाजल सी निर्मल निष्कल,
मा की मृदुल भावना बहती ॥

प्रेम सलिल मे ओत प्रोत हो जिसमे पामर प्राणी तरते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहा शांति के झरने झरते ॥

जहा सात्वना का कोमल कर,
अभय दान देता रहता है।
प्रमुदित जहा 'दिनेश' उदित हो,
जाग जाग। उठ। चल। कहता है ॥

कर्म भूमि मे नर नारायण बनता है शुद्ध करते करते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहा शाति के झरने झरते ॥

मनोविज्ञान और योग

(शेष भाग)

(लेखक—डा० इन्द्रसेनजी)

ईश्वर की सत्ता

हमारी विवेचना लम्बी हो गई है और शायद अभी और लम्बी खिच जाय। अत हम क्षणभर के लिये अपने अबतक के विचार का सिंहावलोकन कर लें। हमने इस प्रश्न से प्रारम्भ किया था कि योग की समस्या कैसे पैदा होती है। हमने बताया था कि वर्तमान जीवन की अपूर्णता, इसके सघर्ष, कलह और कठिनाइया एक अखण्ड और सु-समञ्जस जीवन की खोज को उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार ही यौगिक अभीप्सा का उदय होता है। हमने विश्लेषणपूर्वक देखा था कि योग की यथार्थ प्रक्रिया सारत पूर्व आसक्तियों के परित्याग तथा प्राप्तव्य उद्देश्य की अभीप्सा के दो पहलुओं से बनी है। तब हमने पुष्ट मनोवैज्ञानिक प्रमाण और साक्षी के द्वारा विशेष-यत्न-पूर्वक यह दिखाया था कि कैसे ध्यान का नियमन और एकाग्रता (जिसे पातंजल योग में 'सयम' नाम से पुकारा गया है) स्वत ही योग के सब चमत्कार करने मे समर्थ होते हैं।

अब हम योग के स्वरूप निरूपण मे अगला आवश्यक कदम ले सकते हैं। अब तक हमारा विवेचन अनुभव मूलक और मनोवैज्ञानिक रहा है। हमने आत्मा और पर-मात्मा के विचारों को जानबूझकर छोड़ दिया था। हमने कहा था कि आधुनिक मन इनकी सत्ता को मानने में कठिनाई अनुभव करता है। और मुझे इस मनोवृत्ति से सहानुभूति है क्योंकि सस्था रूप धर्म अतीत दीर्घकाल तक परमात्मा के नाम के साथ खिलवाड़ करते रहे हैं और उसके नाम पर उन्होंने मनुष्य के प्रति गम्भीर अपराध तक किये हैं। परन्तु धर्म प्रबुद्ध आत्मा के जीवित-जागृत अनुभव के रूप मे ही असली धर्म है और यह खेद-जनक है कि हम धर्म के पूजीपतियों या सघटित धर्मों के अधिकारियों के इस दावे को स्वीकार कर लें कि वे ही ईश्वर के एकाधिकारी हैं। धर्म और ईश्वर के विरुद्ध वर्तमान घृणा वस्तुत धार्मिक सस्थाओं के प्रति हमारा विद्रोह है। आन्तरिक अनुभवात्मक धर्म का सारभूत स्वरूप यह है कि उस परम पुरुष में जो कि हमारी अभीप्सा का प्रत्युत्तर देता है, विश्राम, शान्ति, आश्वासन और सुरक्षा को खोजना। अपने इस रूप में धर्म मनुष्य के लिये आवश्यक है और चाहे समय-समय पर मनुष्य की जिज्ञासा प्राकृतिक विज्ञान

की प्रणालिकाओं या सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्याओं की ओर फिर जाय,' परन्तु क्योंकि यह मानव आत्मा के लिये आधारभूत वस्तु है 'अत चरम सत्ता के विधान में सुरक्षा पाने की आवश्यकता बीच-बीच मे लुप्तप्राय होकर भी अपने आप को प्रबल, पूर्वापेक्षया अधिक जोश के साथ, पुन -पुन प्रतिष्ठापित करती है। मानव जाति के इतिहास मे ऐसा अनेक बार हुआ है।

१९ वीं सदी विज्ञान और अज्ञेयतावाद की सदी थी। हेकल और अन्य विद्वानों ने 'जगत् की पहेली' को केवल प्रकृति के द्वारा हल कर डालने की विश्वासपूर्ण आशा की थी। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया पहले से ही शुरू हो चुकी है और अब ब्रह्माण्ड की सत्ता के अन्तिम तत्त्व के तौर पर प्रकृति को निश्चित रूप से अपर्याप्त माना जाता है। नि सन्देह वर्तमान भौतिक-विज्ञान और जीवन विज्ञान को, आदर्शवादी दर्शन का कहना ही क्या, सत्ता के मूल के तौर पर विश्वव्यापी चेतना स्पष्टतया अभिमत है उनका इस ओर स्पष्ट झुकाव है। इस सम्बन्ध मे प्रामाणिक व्यक्तियों के अपने शुद्ध श विशेष रोचक होंगे। प्रोफेसर ऐडिंगटन (Eddington) कहते हैं, 'हमारे अनुभव म म सर्वप्रथम और प्रत्यक्षतम वस्तु है। अन्य सब कुछ दूरवर्ती अनुमान है।' भौतिक विज्ञा की तथाकथित प्रकृति केवलमात्र एक सकेतों का सस्थान है। एक दूसरे अति प्रामाणि विद्वान् प्लैंक (Planck) ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'मैं चेतना को आधारभू मानता हूँ। प्रकृति को चेतना से निर्गत मानता हूँ। हम चेतना से परे नहीं ज सकते। प्रत्येक वस्तु जिसके बारे मे हम बात करते हैं या जिसे हम सत् के तौर प स्वीकार करते हैं चेतना की अपेक्षा रखती है।' श्री जेम्स जीन्स (Sir James Jeans के अनुसार, 'यह विश्व एक गणितशास्त्रीय विचारक के मन का एक विचार है' औ जो ये पदार्थ हमें विषयीभूत होते दृष्टिगोचर होते हैं उसका कारण है उनका 'किसी शाश्वत आत्मा के मन में रहना'। और सलिवान (Sullivan) अपनी पुस्तक 'प्रख्यात वैज्ञानिकों के साथ भेंट' (Interviews with Eminent Scientists) में आयन्टीन (Einstein) के सम्बन्ध में विवरण देता हुआ कहता है "ऐसा प्रतीत होता है कि न विश्व में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि (insight) को उतना ही प्रामाणिक स्थान प्रा है जितना कि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को। निर्संदेह उनमें से सबसे बडे निर्माता की राय में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का स्रोत और पथप्रदर्शक है।' १९ वीं सदी में विज्ञान और धर्म में बड़ा तीव्र संघर्ष था। तब मन और चेतना विज्ञान की दृष्टि में निन्दा और द्वेष के पात्र थे। और आज ऊपर उद्धृत किये वचन

कितनी बदली हुई अवस्था को प्रकट करते हैं। प्रकृति एक संकेत और प्रतीति मात्र बन गई है, चेतना और मन वास्तविक सत्ताएं हैं। सचमुच, ज्ञान पाने की वैज्ञानिक प्रणाली को धार्मिक अन्तर्दृष्टि पर आश्रित समझा जाता है।

यहां हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान की दृष्टि में दार्शनिक सत्ता का पूरा चित्र क्या है, आया कि यह निरपेक्षवाद है या महत्ववाद या कोई और वाद। युक्ति का सार यह है कि आज विज्ञान भी उस विश्व-मानस की वास्तविकता को स्वीकार करता है जिसे कि धर्म ईश्वर कह कर पुकारता है।

आधुनिक जीवन विज्ञान सृष्टि को सप्रयोजन मानता है क्योंकि डार्विन की ये धारणायें कि जीवन यन्त्रवत् व अबुद्धिपूर्व है, अधकचरी पाई गई हैं। अब यदि जीवन की वृद्धि और विकास को कोई 'प्रयोजन' शासित और नियन्त्रित करता है तो जिस चेतना का यह 'प्रयोजन' है उसकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर चरम मानस की सत्ता स्थापित होती है।

स्वयं विज्ञान की साक्षी और परिणाम एक समकालीन विचारशील व्यक्ति को इन वैज्ञानिक प्रगतियों के गवाह के तौर पर निश्चयपूर्वक ईश्वर विश्वास की तरफ प्रेरित करेंगे। इन प्रगतियों के साथ साथ धार्मिक आवेग भी जिसकी कि परिभाषा हमने ऊपर की है अधिक प्रबल होता गया है। जोड (Joad) के अनुसार इस बात का प्रमाण यह है कि पिछले २५ वर्षों म गत सम्पूर्ण शताब्दी की अपेक्षा धार्मिक विषयों पर अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं। तो भी इसका यह आशय नहीं है कि हम क्रियात्मक तया अधिक धार्मिक हो गये हैं। हां, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि धार्मिक जिज्ञासा बढ़ रही और उत्कट हो रही है।

योग में ईश्वर की आवश्यकता

हमने योग विषयक वर्णन शुद्ध रूप से अनुभव मूलक और मनोवैज्ञानिक तरीके से शुरू किया था। परन्तु अब ईश्वर की सत्ता विषयक उपर्युक्त समीक्षा के बाद, यौगिक प्रयत्न के साथ परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार करना सम्भव है। पतञ्जलि की योग पद्धति 'ईश्वर' को अपरिहार्य समझती है। यह 'ईश्वर' 'सनातन गुरु' है। उसकी सत्ता एक ऐसी अतिमानस शक्ति है जिसे कर्म फल और क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते। यह सर्वज्ञ और अनुपम है। उसके प्रति समर्पण से ही साधक समाधि का लाभ करता है। (देखो पतञ्जलि का योगदर्शन पा० १ सू० २३,२४,२५,२६)

श्रीअरविन्द के योग में वर्णित परमात्मा या देव (भगवान) का स्वरूप योगाभ्यास के साथ अधिक पूर्णता से सम्बद्ध है। निसंदेह व्यक्तित्व का रूपान्तर व्यक्ति के निज प्रयत्न से ही प्रारंभ होता और चलाया जाता है, परन्तु यह सदा परमात्मा के संकल्प के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना में ही आगे बढ़ता है। और ईश्वर या परम चैतन्य, जो अपनी परिपूर्णता में पूर्णता के अभीप्सु के लिये करुणामय होता है, उसका कार्य की पूर्ति के लिये तथा उसे पूर्ण पुरुष बनाने के लिये सहायक बनकर आता है। कृपा का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त ठीक यही है। इस प्रकार अपूर्ण मानव प्रयत्न के लिये भागवत कृपा अनिवार्य है, और यह सर्वथा ठीक नहीं है कि साधक का अपना प्रयत्न कारण-कार्य के नियम से यौगिक परिणामों को पैदा कर देता है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक हो सकता है कि जैसे एक माता अपने उस बच्चे के प्रयत्नों की सराहना में जो किसी काम को करने के लिये जी-तोड़ मेहनत करता है, उसकी सहायता करना चाहती और उसके प्रयत्न को सफल करना चाहती है, एवं परमेश्वर अपनी कृपा के प्रयोग से मनुष्य के पूर्णता की प्राप्ति के प्रयत्नों को कृतकृत्य करता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सहायता

इस निबन्ध का प्रयोजन योग के विषय की सामान्य मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत करना है। ऐसा करते हुए हमने यहां तक मुख्यतया यौगिक रूपान्तर के कार्य में काम आ सकने वाली मनोवैज्ञानिक क्रिया की व्याख्या की है, तथा मनोवैज्ञानिक भाव में आवेग और तर्कणा के उस मानसिक आधार की व्याख्या की है जो सामान्य मानव जीवन के संघर्ष और विशृङ्खलता को तथा फिर योग के लक्ष्यभूत समस्वर जीवन के स्वरूप को जन्म देता है। हमने यह भी कहा है कि आधुनिक मनोविज्ञान में कुछ निश्चित प्रवृत्तियां हैं जिनका अध्ययन योग के जिज्ञासु के लिये सहायक उपकरण का काम कर सकता है। अब हम इन्हीं प्रवृत्तियों की ओर आते हैं।

मनोविज्ञान की लोकप्रिय परिभाषा यह हो सकती है कि यह मन और उसकी क्रियाओं का अध्ययन है। स्वतः मानसिक क्रिया को उन्नत करना या मानव-प्रकृति का सुधार इसका साक्षात् लक्ष्य नहीं है। यह वास्तविकता का अध्ययन मात्र है, यह स्वाभाविक क्रिया के गुण-दोष का विवेचन करता है। परन्तु ऐसा करने में इसे कर्म के उन आधारभूत स्रोतों का खोज निकालना होता है जिनका ज्ञान क्रियात्मक उपयोग में लाया जा सकता है। मैक्डूगल ने अपने ग्रन्थ 'चरित्र और आचरण' (Character and t

Conduct of life) में जिसका उपनाम 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' है, मनोविज्ञान के वर्णनात्मक विज्ञान को जीवन के क्रियात्मक पथ प्रदर्शन के लिये विवेचन में यथार्थतः अमल डाला है। मनोविज्ञान का सावधानतापूर्ण अध्ययन मनुष्य को अपने मन की गतियों का निरीक्षक बना देगा और यह चीज स्वयं योगाभ्यास की प्रगति मे सहायक है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन से उसे अपने मन की तथा सामान्य मन की क्रियाओं का कुछ वास्तविकतापूर्ण ज्ञान हो जायगा। इससे वह मनुष्य के साधारण प्रेरक भावों से परिचित हो सकता है। हमने कहा था कि योग से नये मूल्यांकनों की प्राप्ति करनी होती है जिसका वास्तविक अर्थ है नये प्रेरक भावों की प्राप्ति। और इसके लिये विद्यमान साधारण प्रेरक भावों की समझ अवश्य उपयोगी होगी, और इसमे सन्देह नहीं कि नये प्रेरक भावों के निर्माण के लिये तो यह आवश्यक होगी। इतने सामान्य मनोविज्ञान के साथ, व्यक्तित्व की सुधारणा जो इस विषय मे नयी प्रबल प्रगति है योग के विद्यार्थी के लिये विशेष उपयोगी होनी संभव है। अन्तःस्रावी रसों (Endocrine secretions) का सिद्धान्त जो यह प्रतिपादित करता है कि ग्रैवेयक (Thyroid) उपग्रैवेयक (Parathyroid) ऐड्रीनल (Adrenal) और गोनड (Gonads) जैसी प्रणाली-रहित ग्रन्थियों के रस व्यक्तित्व पे चरित्र पर पोषक प्रभाव डालते हैं, उस शारीरिक नियन्त्रण की उपयोगिता को स्पष्टतया पुष्ट करता है जिस पर पतञ्जलि बल देते हैं। सम्भव है कि आसन इन ग्रंथियों के रसों को उत्तेजित करने में कुछ प्रभाव रखते हों। ग्रन्थि रसों के विषय मे एक मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ (Woodworth) कहता है कि, 'मुख्य लैंगिक अंग, स्त्री का डिम्बकोष (Female ovary) और पुरुष का अण्डकोष (Male testes), जीवाणु कोष्ठों (Germ cells) को तथा रज और वीर्य को पैदा करने के अतिरिक्त मनुष्य की वृद्धि और व्यवहार पर महत्त्वपूर्ण असर डालनेवाले हार्मोन्स (Hormones) को भी बनाते हैं। तथापि इन हार्मोन्स (Hormones) का ठीक ठीक प्रभाव अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं है।'

मनोविश्लेषण

किन्तु योग का उद्देश्यभूत रूपान्तर सर्वांगीण और पूर्ण है। सामान्य मनोविज्ञान व्यक्तित्व के यौगिक परिवर्तन के लिये पर्याप्त गहराई तक नहीं आता। यहा मनोविज्ञान की सर्वप्रसिद्ध शाखा मनोविश्लेषण अधिक उपयुक्त है। हमने पहले भी इसकी ओर कुछ निर्देश किये हैं, पर अब हम वैयक्तिक उन्नति की विद्या और कला की दृष्टि से इसका अधिक पूर्ण निरूपण करने का यत्न करेंगे।

(क) अवचेतना का खोलना

मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी खोज है अवचेतन और उसकी क्रियाओं
नियम। अवचेतन का विचार पहले भी विदित था किन्तु मनोविश्लेषण यह सही रू
भर सकता है कि उसने मानव के साधारण तथा असाधारण व्यवहार में अवचेतन
प्रकट होने की कुटिल गतियों का सर्वप्रथम अनुभव मूलक अध्ययन किया है। मनोविज्ञ
की इस शाखा के आविष्कारक फ्रायड (Freud) का यह आग्रहपूर्वक कहना है कि
अवचेतन सम्पूर्ण मानसिक जीवन का $\frac{9}{10}$ भाग है। स्वयं यह विचार भी व्यक्तित्व
गम्भीर आलोडन के लिये एक बहुमूल्य सहायता है।

इसके बाद निग्रह का विचार एक और बड़ी देन है। यह विचार भी कि
'बचाव प्रतिक्रिया' (Defence reaction) अवचेतन के कार्य का विचित्र ढंग है ए
अमूल्य विचार है। इसके यथार्थ स्वरूप की हम थोड़ी-सी व्याख्या करते हैं। जिन क
प्रद कार्यों को हम अपने आन्तरिक जीवन में झेल चुके हैं उनसे विपरीत कार्यों की ह
सचेतन व्यवहार में अधिकता 'बचाव प्रतिक्रिया' कहलाती है। इसीके कारण सब
घृणा से देखनेवाला शुष्क तार्किक (cynic) अपने हृदय में अतिभावुक होता है और धु
बल दिखलानेवाला लड़का (Bully) अन्दर से भीरु होता है। जो व्यक्ति आत्म-तुच्छ
(inferiority) से ग्रस्त होते हैं वे प्राय: दर्प और अभिमान को बढ़-चढ़कर प्रद
करते हैं। बहिःक्षेपण (Projection) भी बचाव प्रतिक्रिया का एक रूप है
इसमें मानसिक पदार्थ को मन के बाहर किसी स्थान पर स्थापित किया जाता है। ए
मनुष्य जो स्वयं घमण्डी है सर्वत्र घमण्ड देखता है और उसकी निन्दा करता है। ए
अन्य अवचेतन यन्त्रवत् क्रिया है तर्कोपपादन (Rationalisation), यह आचार औ
विश्वास की व्याख्या के लिये मन द्वारा ऐसी युक्तियों की रचना का नाम है जिनका सह
आचार व विश्वास के मानसिक कारणों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता।

(ख) दमन या रमण

इन सब यान्त्रिक क्रियाओं में किसी इच्छा या कामना का निग्रह अन्तर्निहित
होता है और इनका विश्लेषण तथा इनके आधार में काम कर रहे निग्रहों की अन्वेषण
मनोविश्लेषकों का प्रधान विषय रहा है। मनोविश्लेषण का साहित्य पढ़ने से निग्रह और इसक
हानिकर परिणामों के बारे में इतना व्यापक असर पड़ता है कि पाठक को मनोविश्लेषण

से सदा यही शिक्षा मिलती है कि जीवन में एकमात्र वर्जनीय वस्तु निग्रह है। परन्तु हम पूछेंगे, तो क्या 'स्वच्छन्द रहना' जीवन के लिये रामबाण है? यहां फ्रायड के अपने कुछ शब्द बहुत लोगों की आँखें खोलने वाले सिद्ध होंगे। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित अपनी नयी प्रावेशिक व्याख्यानमाला में शिक्षा के मामले का स्पष्टीकरण करते हुए वह कहता है, "बच्चे का अपनी अन्धप्रेरणा को संयत करना सीखना चाहिये। अपने आवेगों का वे रोकटोक अनुसरण करने के लिये उसे खुली छूट दे देना असम्भव है। अतः शिक्षा का प्रयोजन निषेध करना, टोकना, दबाना है। किन्तु हमने विश्लेषण द्वारा यह मालूम किया है कि अन्धप्रेरणाओं का दमन स्नायु रोगों के खतरे से भरा है। अतः अन्धप्रेरणा को खुली क्रीड़ा करने देने और उसे निराश करने के कुए और खाई के बीच का मार्ग शिक्षा को बनाना है।" और इस प्रकार 'हम किन समयों पर तथा किन विधियों से कितना रोक सकते हैं' यह मालूम करने से ही समस्या का हल निकलेगा। इसके अतिरिक्त बच्चों की शरीर रचनात्मक प्रकृतियों के भेद का भी ख्याल रखना होगा।

साधक को भी योगाभ्यास में अपने आपको नयी मनोवृत्तियों और नये मूल्यांकनों में शिक्षित करना होता है। अतएव उपर्युक्त निर्देश उसके लिये पूरे के पूरे लागू होते हैं। धीमे-धीमे उसे भी अति रमण (over-indulgence) और अति निग्रह के बीच सावधानता पूर्वक मार्ग बनाते हुए अपने को उन्नत करना है।

(ग) ईमानदारी

मनोविश्लेषण मानसिक विकार विज्ञान के नये ढंग से सत्यहृदयता और ईमानदारी के नैतिक गुणों में हमारे विश्वास को पुनः दृढ़ करता है और ये योग की प्रगति के लिये अतीव आवश्यक हैं। सब मानसिक गड़बड़ों में निग्रह अर्थात् दबी हुई अतृप्त वासना छिपी रहती है। यह असन्तुष्ट वासना आत्म वंचना की अनेक यान्त्रिक क्रियाओं के द्वारा व्याधि के लक्षण पैदा करती है। अब मनोविश्लेषणात्मक उपचार का स्वरूप यह है कि रोगी को स्वतन्त्र संसर्ग (Free Association) और स्वप्न विश्लेषण (Dream Interpretation) की पारिभाषिक प्रक्रियाओं में से गुजारते हैं और मानसिक गड़बड़ के पीछे विद्यमान असली प्रेरक भावों को उससे स्पष्ट स्वीकार कराते हैं। यह चीज स्वयं इलाज कर देती है। क्या यह अपने प्रति सत्यहृदयता और ईमानदारी के महत्त्व का क्रियात्मक उदाहरण नहीं है? फ्रायड कहता है, 'मनोविश्लेषण का लक्ष्य है जीवन

के अचेतन भाग की खोज और इससे अधिक किसी चीज को वह प्राप्त भी नहीं कर सकता।' और उपचार का उद्देश्य यह होता है कि पारिभाषिक प्रक्रिया के द्वारा रोगी को अपनी आत्म वंचनाओं की ओट मे अपनी इच्छाओं को देखने और चेतना के स्तर पर उनके साथ मुकाबला करने मे तथा अपने प्रति पूर्णतया सच्चा और ईमानदार रहने मे समर्थ बनाया जाय। योगाभ्यास के लिये भी ठीक ये गुण—सच्चाई और ईमानदारी—अनिवार्य हैं और साधक को अवश्य ही इनमे पूर्ण हार्दिक विश्वास होता है। मनोविश्लेषण द्वारा संगृहीत दृष्टान्त रूप साक्षी इस विश्वास को और भी अधिक पुष्ट करती है।

फ्रायड

मनोविश्लेषण के हमारे इस विवेचन से बहुत से लोग शान्त हो गये होंगे और अधीरता के साथ पूछेंगे 'पर लैङ्गिक मतवाद के बारे में आपका क्या कहना है? क्या लिङ्ग ही सब कुछ है? क्या आपका यह स्वीकार है कि सर्वोत्तम नैतिक या धार्मिक प्रेरक भाव भी अवश्यमेव केवल आच्छादित लैङ्गिक प्रेरक भाव (sexual motive) ही होता है?' मुझे कहना होगा कि मानसिक रोगियों के थोड़े से वैयक्तिक अनुभव ने फ्रायड के सर्वलिङ्गवाद (Pan sexualism) के विरुद्ध मेरे प्रतिरोध को बहुत हद तक ढहा दिया है, क्योंकि मैंने देखा कि प्रत्येक उदाहरण मे गड़बड़ के अन्दर लिङ्ग का कुछ हाथ था। किन्तु कुछ मानसिक रोगियों को लेकर मैं व्याप्ति नहीं बना सकता और अब मेरा विश्वास है कि फ्रायड अपने मतवाद के अन्य अनेक अंशों की भांति इस आधारभूत अंश में भी अतिव्याप्ति के दोष का भागी है। मेरा विश्वास है कि फ्रायड ने मानव प्रकृति के सम्बन्ध में व्यापक मतवाद को अपना सीधा लक्ष्य नहीं बनाया था। उसका दृष्टिबिन्दु मानसिक रोग तथा उसके उपचार तक ही सीमित था। अतएव उसे अवचेतन और तद्गत पदार्थ या उसके अन्तर्गत निग्रहों में ही स्वभावत व्यस्त रहना था। इस प्रकार उसने मन के जिन अद्भुत तथ्यों को ढूंढ निकाला उनका उस पर स्वभावत ही बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने उनको मन के न्यूनाधिक पूर्ण चित्र का विशाल आकार दे दिया। परन्तु उसमें आदर्शवादी प्रवृत्ति के भी ऐसे निर्देश भी मिलते हैं। हमने देखा है कि 'स्वच्छन्द-जीवन' को वह उचित नहीं मानता। निग्रह को आवश्यक मानता है। अपने नये व्याख्यानों में 'व्यक्तित्व रचना-विज्ञान' (Anatomy of Personality) पर लिखे एक अध्याय में वह वर्णन करता है कि व्यक्तित्व के तीन घटक हैं :—(१) अति-अहं (super-ego) (जो नैतिक

प्रतिमन्धों का बोधक है) (२) अहं (सघटित अपना पन) और (३) ईद (उच्छृङ्खल वासनाए)। अब अहं के विस्तार द्वारा अति-अहं और ईद के बीच वर्धमान समस्वरता को सिद्ध करने की प्रक्रिया का नाम व्यक्तित्व की उन्नति है। रोग निवारक प्रयत्नों का उद्देश्य है "अहं को पुष्ट करना, अति अहं से इसको और भी अधिक स्वाधीन कर देना, इसकी दृष्टि के क्षेत्र को बढाना और इसके सघटन का इस प्रकार विस्तार करना कि यह ईद के नये भागों का अपने मे ले सके। जहाँ ईद था वहाँ अहं होगा।" मानव की उन्नति की सभावनाओं का और भी अधिक स्पष्ट निर्देश तब मिलता है जब कि वह कहता है कि, "भविष्य के लिये हमारी सर्वश्रेष्ठ आशा यह है कि बुद्धि—वैज्ञानिक तकणा—को यथासमय मानव पर सर्वाधिकार कायम करना चाहिये। और तकणा का स्वरूप ही हमे गारटी देता है कि यह मानव भावों (Human emotions) और उनसे निर्धारित अन्य सब चीजों को अपना अपना उचित स्थान देने में चूकेगा नहीं।" परन्तु ये केवल सकेत हैं और मनोविश्लेषण का भावात्मक ज्ञान, जैसा कि यह आज है, नि सदेह मानव प्रकृति का आशिक वर्णन है। उदात्तीकरण (Sublimation) की प्रक्रिया जो योग के विद्यार्थियों के लिये इतनी आवश्यक है उसका फ्रायड ने बहुत ही कम जिक्र किया है।

इस विषय में श्रीअरविन्द की देन

फ्रायड ने मुख्यतया मनुष्य की पशु प्राप्त दाय (Animal heritage) का ही अध्ययन किया है,—उसका, जो कि मनुष्य अपने विकास के अतीत काल में रहा है। परन्तु वह जो कुछ बन सकता है उसका अर्थात् उसके स्वभाव की सभावनाओं का फ्रायड ने सकेत मात्र किया है, यह उपरिवर्णित निर्देशों से पता चलता है। पर ठीक इसी पहलू मे श्रीअरविन्द ने दिलचस्पी ली है और इसलिये यह कहना गलत न होगा कि वे फ्रायड के विचारों में आवश्यक पूरक को जोड़ते हैं। अतिचेतन अपनी उच्चतर सभाव्यशक्तियों (Potentialities) की सामग्री के साथ अवचेतन का परिपूरक बन कर मानव प्रकृति का पूर्ण चित्र पेश करता है। अतिचेतन (superconscious) का व्यक्तीकरण और रूपान्तर की क्रियात्मक विधि के स्वरूप का निरूपण ये श्रीअरविन्द की दो महान् देनें हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक मूल्य जानने मे अभी हमें कुछ समय लगेगा। यह तथ्य है कि योग, अपने समग्र रूप मे, पाश्चात्य मनोविश्लेषण को महत्त्वपूर्ण पाठ पढा सकता है। कास्टर का यह कहना ठीक है कि, 'यद्यपि योग मूलतया पूर्वीय पद्धति है तो भी इसमे वह सूत्र है जिसकी पश्चिम को आवश्यकता है

यदि विश्लेषणात्मक पद्धति और सिद्धान्त को आधुनिक जीवन के पुनरुज्जीवक और पुनर्घटक साधन के तौर पर अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचना है (कास्टर, योग और पश्चिमीय मनोविज्ञान, Coster, 'Yoga and western Psychology' पृ० १०)।

चेतावनी

हमने ऊपर मनोविज्ञान का यथार्थत पक्ष-पोषण किया है और नीचे मनो विज्ञान-विषयक कुछ ग्रन्थों की सूची भी दी है जिन्हें केवल उत्सुक यौगिक विद्यार्थी ही नहीं अपितु कोई भी शौक और लाभ के साथ पढ सकता है। अत हम अन्त में सावधानता की एक टिप्पणी देना अपना कर्तव्य समझते हैं। संपूर्ण विज्ञान ज्ञान की एक वर्धमान राशि है। हमारे तथाकथित नियम भी बहुधा काम चलाऊ स्थापनायें होती हैं और जहा वे आज आधारभूत माने जाते हैं वहा कल उन्हें हम बिना किसी सताप अनुताप के तिलाञ्जलि दे सकते हैं। मनोविज्ञान एक बाल विज्ञान है और अपनी वर्तमान दशा मे भयानक वाद विवादों का शिकार बना हुआ है। अत पाठक को यह परामर्श देना उत्तम होगा कि वह किन्हीं भी सम्मतियों को अन्तिम न समझ ले और उन पर अनुचित तौर से उत्साह और जोश मे न भर जाय।

स्वाध्याय के योग्य पुस्तकों की सूची :—

१ McDougall, Character and the Conduct of Life, A Practical Psychology for Every man (Methuen & Co London)
२ K M Bowman, Towards Peace of Mind (George Allen & Unwin)
३ Thouless, The control of Mind
४ Coster, Yoga and Western Psychology (Oxford University Press)
५ Coster, Psycho-analysis for Normal People
६ श्रीअरविन्दाश्रम पाण्डिचेरी से प्रकाशित ग्रथों की सूची कवर के चौथे पृष्ठ पर दी है।
७ Aveling, Directing mental energy
८ Gordon, The Neurotic Personality (Kegan Paul)
९ Gordon, Wholesome Personality
१० C G Jung Modern Man in Search of a Soul
११ C G Jung, Psychology and Religion
१२ Wolfe, How to be Happy though Human (Routledge)

अनागसो अदितये स्याम

यह वेद वचन वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का अन्तिम चरण है। यह वेदमन्त्र चारों वेदों में, ऋक् में, यजु में, साम में और अथर्व में आया है, अथर्ववेद में तो दो बार आया है। इन चारों मूल वेदों के अतिरिक्त यह मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में दो बार आया है तथा निरुक्त में भी व्याख्यात है। इससे यह स्पष्ट है कि यह मन्त्र वैदिक वाङ्मय में कितना महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में हम इस मन्त्र के उपर्युक्त अन्तिम चरण के, जो हमारी इस पत्रिका का ध्येय मन्त्र हो गया है, विचार तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। पहिले तीन चरणों पर या संपूर्ण मन्त्र पर हम अगली बार ही विचार कर सकेंगे।

इस वेद वचन का शब्दार्थ है—(अदितये) अदिति के लिये हम (अनागस) निष्पाप (स्याम) होवें। अदिति के लिये, अदीना दिव्यमाता के लिये, देवजननी शक्ति के लिये हम निष्पाप, निरपराध, निर्मल, त्रुटिरहित, अपूर्णतारहित, छिद्रहीन बनें, होवें, रहें। अदिति के सामने हम निष्कलंक रहें। अदिति को—अदीनता, उपक्षय हीनता, अखण्डता को—पाने के लिये हम सब प्रकार की कमियों से रहित बनें। उस अदिति अवस्था को प्राप्त करने के लिये या उस अदिति माता का बन जाने के लिये हमें निष्पाप, शुद्ध, विमल, क्षयरहित, ज़रा सी भी विकलता से रहित होना चाहिये। ये सब भाव हैं जो कि इस वेदवचन का अर्थ समझ जाने पर इस वचन द्वारा पाठकों के अन्दर उठने चाहियें और उठने होंगे। पर ज़रा हम इस वेद-वचन के एक एक शब्द पर जुदा जुदा भी कुछ थोड़ा और अधिक विचार करें।

अदितये

'अदिति' इस प्राचीन वैदिक शब्द की व्याख्या हम कई प्रकार से कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरण की धातुओं की दृष्टि से देखें तो 'दो अवखण्डने' या 'दीङ् उपक्षये' से दिति बना है। खण्ड खण्ड वाली या उपक्षययुक्त जो है वह दिति है, उससे दैत्य उत्पन्न हुवे हैं। खण्डितावस्था से रहित एवं उपक्षय तथा विनाश से रहित है अदिति। इसलिये निरुक्तकार यास्क मुनि ने 'अदिति र्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति र्माता ' इत्यादि अदिति की महिमा प्रकट करने वाले वेदमन्त्र को प्रस्तुत करते हुवे अदिति का अर्थ 'अदीना देवमाता' ऐसा किया है अर्थात् वह देवमाता जिसमें उपक्षय या अवखण्डन की

दीनता नहीं है। वह अमर, अखण्ड, असीम की देवता है। सब पाप, बुराई खराबी नीचे दर्जे के भाव, असुर वृत्तियां और असुरत्व दिति से उत्पन्न होते हैं, सीमितता, खण्डितावस्था, विनश्वरता, दीनता की उपज हैं। और सब पुण्य, अच्छाई, उत्तम, ऊँची कोटि के भाव अर्थात् सब दैवी वृत्तियाँ और देवत्व अदिति से उत्पन्न हैं असीमता, अखण्डता, सनातनता और अदीनता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। अथवा अदिति की व्युत्पत्ति दिति के निषेध मे न करके स्वतंत्र 'अद्' धातु से मानी जा सकती है। व्याकरण की दृष्टि से व्युत्पत्ति किसी तरह की जाय 'अदिति' शब्द की व्याख्या मे भेद नहीं पड़ता। अपने सर्वोच्च रूप म अदिति अनन्त, असीम आद्या सत्ता है जिस रूप मे वह सब देवों की जननी है। पर साथ ही वह असीम अनन्त चेतना भी है जिस रूप मे वह सब ज्ञान प्रकाशों को दुहने वाली "गौ" कहलाती है। वैदिक निघण्टु में गोवाचक नामों म भी अदिति पढा है, तथा वेद मे 'गौ' रूप में अनेक जगह अदिति का सुन्दर वर्णन है। कई जगह चित्रा गौ, नाना प्रकार का प्रकाश देने वाली गौ कही गयी है। सो सब कुछ देने वाली 'गौ' रूप से भी हम अदिति की उपासना कर सकते हैं। फिर अदिति 'वाक्' है। 'वाक्' नामों मे तथा 'पृथ्वी' के नामों में भी वैदिक निघण्टु म अदिति शब्द पढ़ा गया है। वाक् अथात् अभिव्यक्त करने वाली शक्ति अदिति है। ऋग्वेद के दशम मडल में जो प्रसिद्ध आम्भृणी वाक् का सूक्त है जिसमें वह कहती है कि 'मैं ही रुद्र वसु आदित्यों के साथ चलती हूँ मैं ही सब देवों को धारण करती हूँ इत्यादि ' वह सब जगत्संचालिका और जगत्प्रकाशिका अदिति माता ही कह रही है। और फिर अदिति के पृथ्वी होने का मतलब यह कि सब स्थूल अभिव्यक्ति तक की शक्ति भी वही दिव्य शक्ति है। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट १—८९—१० ऋचा में ठीक ही कहा है कि 'द्यौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है, माता अदिति है, पिता पुत्र भी वही है, सब देव अदिति हैं, पचजन अदिति है जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह सब अदिति है।' सो इस महामहिमामयी अदिति जगदम्बा के प्रति हम क्या करें, कैसे वर्तें ?

अनागसः

हम 'अनागस्' होवें। 'आगस्' शब्द का सामान्य संस्कृत म अर्थ है 'अपराध', 'दोष', या 'त्रुटि'। तो 'अन् आगस्' का अर्थ हुआ अपराध न करने वाला, निर्दोष, त्रुटिरहित। यदि हम अनागस् होंगे तभी दिव्यमाता हमारे अन्दर अपना काम कर सकेगी। उनका काय हमारे अन्दर ठीक तरह से होने मे रुकावट ये हमार

विविध प्रकार के आगस् ही होते हैं। इन्हें हमे अवश्य दूर करना होगा। वेद मे 'आगस्' आदि पापवाचक शब्द उस अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं किये जाते जिसमें हम नैतिक 'पाप' को समझते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार मिथ्यात्व या मिथ्यागति के सिवाय पाप या 'आगस्' और कुछ चीज नहीं है। इसीलिये वैदिक परिपाटी मे प्रत्येक पापवाचक शब्द (जैसे अघ, रपस्, अंहस्, कण्व आदि) स्वयमेव रोगवाचक भी माना जाता है। क्योंकि रोग भी शरीर मे हुवा मिथ्यात्व या मिथ्यागति ही तो है। एव हमारे मन मे या प्राण मे या शरीर मे जो कुछ भी मिथ्यागति होती है वह उस-उस जगह का हमारा 'आगस्' है। हम जानते हैं कि अश्रद्धा, भ्रम, सशय, अज्ञान, निराशा ये सब मन की मिथ्या गतियाँ है, मन के 'आगस्' हैं। इनके होते हुए माता हमारे मन मे अपना दिव्य कार्य कदापि नहीं कर सकती। इसी तरह राग द्वेष, काम क्रोध लोभ आदि प्राण की जबरदस्त मिथ्या गतियाँ हैं। जब तक हमारे प्राण इनसे शुद्ध नहीं हों, अनागस् नहीं हो जॉय तब तक माता कैसे हमारे प्राणों द्वारा अपना दिव्य कार्य कर सकती है। फिर इसी तरह शरीर को अनागस् बनाने के लिये हमे रोग, व्याधि, आलस्य, कुचेष्टा आदि को शरीर से बिलकुल निकाल देना होगा तभी हमारा शरीर माता के योग्य बनेगा। दूसरे शब्दों मे सब बेसुरापन ही आगस् है। माता के दिव्य छन्द स्वर से जब हम जरा भी अपने मन में, प्राण से या शरीर से विपरीत स्वर निकालते हैं या अपने अदिव्य स्वर को ही चलते देना चाहते हैं, वहीं 'आगस्' हो जाता है। हम अशुद्ध, विकृत, बेसुरे हो जाते हैं। यदि हम सचमुच अदितिके उपासक हों, सचमुच माताके होना चाहते हों तब तो हमे यह अनुभव होना चाहिये कि सभी जगह और सभी कालों मे माता हमारे सामने हैं और हम जहा जरा भी मनकी क्रियासे या प्राणों के व्यापारमें या शरीर की चेष्टामे कुछ भी विकृत स्वर निकालने लगें, मिथ्यागति करने लगें तो माता की स्मृति हमे सावधान कर दे, बचा ले। जो हो, यदि हम माताके सच्चे पुत्र बनना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि हम अपने सब अगों मे सर्वथा शुद्ध, निर्दोष, निर्मल त्रुटिहीन, विकलतारहित होवें, हो जाय।

स्याम

हो जाय। हम ऐसे हो जाय। ऐसे हो जाना, यही हमारा काम है। यदि हम अनागस् हो जाय—बल्कि ऐसे होनेका सच्चे भाव से यत्न ही करें—तो बाकी सब तो माता कर देगी। तो बस, सचमुच ऐसे होजाना, होजाने का सचमुच यत्न करना यही मनुष्यका भाग है, माताके पुत्रका काम है, उसका उद्योग है, पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ

हम करें। इसके लिये हम, इस सत्य को जानने वाले हम, आज से ज्ञानपूर्वक यह संकल्प करें,—हम अदितिके लिये अवश्य 'अनागस्' होंगे, सर्वथा शुद्ध और निर्दोष बनेंगे, और आज से अटलरूप से इसी विश्वासमें रहें भी। क्या देखते नहीं कि, गहराई में अन्दर, इस पृथ्वी के सभी मानव प्राणी, चाहे वे इसे जानते हों या न जानते हों, अपनी गुहानिहित अन्तरात्माओं में अटल विश्वास के साथ, ऊर्ध्वमुखी पवित्र यज्ञाग्नि की तरह यही एक पवित्र अभीप्सा उठा रहे हैं, अदिति के लिये अनागस् होजाने की निरंतर प्रार्थना कर रहे हैं, मानों वैदिक पावन वाणीमें वे सतत जाप ही कर रहे हैं—अनागसो अदितये स्याम। तो हम ज्ञानपूर्वक ऐसा क्यों न करें?
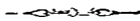
लेखकों का परिचय

श्री लीलावतीजी—

एक सम्भ्रान्त कुल की विदुषी देवी हैं। अभी तक नई देहली के एक कन्या विद्यालय की प्रिंसिपल थीं। बी० ए० बी० टी० हैं। अब श्री अरविन्दाश्रम में अधिक रहने पर वह प्रिंसिपल पद छोड़ा है। यह भी सूचित कर देना चाहिये कि आप श्री इन्द्रसेनजी की धर्मपत्नी हैं। श्री अरविन्दाश्रम की आप लगभग स्थिर सदस्या हो चुकी हैं।

प० दीनानाथजी भार्गव 'दिनेश'—

आप हिन्दी के उत्कृष्ट कवि और लेखक हैं। दिल्ली के प्रसिद्ध मासिक-पत्र 'मानवधर्म' के सम्पादक हैं। अखिल भारतीय रेडियो से गीता के सुप्रसिद्ध व्याख्याता हैं। आपने गीता का सरल, सुबोध और सरस हिन्दी पद्य में प्रतिश्लोकी अनुवाद किया है जो 'श्रीहरिगीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

अदिति

सम्पादक—

आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार

प्रकाशक—

श्रीअरविंद निकेतन

कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया।

२१ फरवरी १९४३ के
श्रीअरविन्द-दर्शन
के उपलक्ष में
भेंट

विषय-सूची

मातृ-वचनामृत—

नये वर्ष की प्रार्थना

[श्रीअरविन्दाश्रम में माताजी प्रत्येक नये वर्ष के प्रारम्भ में अपने साधकों के लिये एक प्रार्थना देती हैं जो उस वर्ष भर के लिए होती है। नि:सन्देह यह प्रार्थना उस वर्ष में सम्पूर्ण जगत् में आध्यात्मिक दृष्टि से होने वाले कार्य को सूचित करने वाली होती है, अत उस प्रार्थना की भावना म रहने से तथा उसके अनुसार आचरण करने से साधक की जहा अपनी उन्नति, पूर्णता की तरफ उसका अपना आध्यात्मिक विकास, होता है, वहा उस द्वारा जगत् में जो दिव्य कार्य होना है उसमें भी सहायता पहुँचती है। आशा है पाठक इस दृष्टि से इस पवित्र प्रार्थना को पढ़े गे। —सम्पादक]

1943

The hour has come when a choice has to be made radical and definitive

Lord, give us the strength to reject falsehood and emerge in Thy truth, pure and worthy of Thy victory

१९४३

यह घड़ी आ गई है जब कि हमें एक चुनाव कर लेना है, मूलग्राही और निर्णायक चुनाव।

प्रभो! हमें वह बल प्रदान करो जिससे कि हम असत्य को त्याग सकें और तुम्हारे सत्य में उदित हो सकें, विशुद्ध होकर और तुम्हारी विजय के पात्र होकर।

व्याख्या

[वैसे तो इस प्रार्थना की व्याख्या करने मे कुछ शब्द अपनी तरफ से प्रयुक्त करना इसके सौन्दर्य और बल को बिगाड़ना लगता है, इसलिये कुछ भी व्याख्या के तौर पर लिखने का विचार तक नहीं था। पर देखा है कि ऐसे पाठक भी काफी हैं जिन्हें कि व्याख्या हो जाने से इस प्रार्थना को समझना और हृदयगम कर सकना आसान हो जायगा। इसलिये उन लोगों की दृष्टि से निम्न शब्द लिखे जा रहे हैं। —सम्पादक]

इस प्रार्थना को समझने के लिये अच्छा तो यह होता कि पिछले कुछ वर्षों की प्रार्थनाओं का पाठकों को अक्षरशः पता होता और हमारा विचार है कि कभी पिछले सब वर्षों की जब से ऐसी प्रार्थना का क्रम आरम्भ हुआ है प्रार्थनाओं को क्रमिक रूप मे पाठकों को दे सकें। पर अभी सक्षेप में इतना सकेत कर देना पर्याप्त है कि १६४० की प्रार्थना 'आत्मविशुद्धि' की प्रार्थना थी, १६४१ मे दैव योद्धा बनने की प्रार्थना की गई थी, उस युद्ध मे जिसे कि ससार अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये आसुरिक शक्तियों के विरुद्ध लड़ रहा है, १६४२ मे सहन करने की शक्ति की प्रार्थना की गई थी और प्रत्येक शत्रु पर विजय पाने वाले भगवान् की महिमा मनाई गई थी। अब इस १६४३ की प्रार्थना मे मुख्य बात इस ईश्वरीय विजय के अवसर पर चुनाव कर लेने की है। जैसे कि कठोपनिषद् के नचिकेता को श्रेय और प्रेय मे से श्रेय को ही हर हालत मे वरण कर लेना था, इसी प्रकार यह नया वर्ष हमारे लिये आसुरिक असत्य और भगवान् के सत्य में से दूसरे को अपने लिए चुन लेने को आ रहा है, यदि हम ईश्वरीय इच्छा को देख सकें। और जब हमें यह ठीक चुनाव करना है तो हम इसे पूरी तरह ही करें। अधूरेपन से अब काम नहीं चलेगा। थोड़ा-थोड़ा दोनों तरफ हम नहीं रह सकेंगे। अतः मौलिक रूप मे और अन्तिम तौर पर हमें एक तरफ, भगवान् की तरफ, भगवान् का हो जाना चाहिये। चुनाव का मौका बार बार नहीं आयेगा। यदि भागवत सत्य को पकड़ने के लिये, अपनाने के लिये हम तैयार नहीं होंगे तो बहुत बुरी तरह चूक जायेंगे। अब इस बात का समय नहीं है कि हम धीमे धीमे क्रम-क्रम से यह चुनाव करें। यह तो हमारा एकबारगी और जड़ तक पहुचने वाला, बिना शर्त का, निर्णायक,

अन्तिम, पूरा और सदा के लिये चुनाव होना चाहिये। यह सदेश लाता हुआ १६४३ का वर्ष आ पहुचा है।

इस तरह हमे अपने जीवन को बिल्कुल पलट देना है, बिल्कुल नया हो जाना है। पुरानी चीज को छोड देना बडा कठिन होता है। परमेश्वर हमे बल दे कि हम पुराने असत्य के जीवन को बिल्कुल छोड़ सकें। जिस मिथ्यापन मे हम डूबे हुए थे, उसमें से बाहर निकल सकें, उभर सकें, ऊपर आ सकें। भगवान् के सत्य का दिव्य प्रकाश ऊपर से आ रहा है। यह बडे सौभाग्य की बात है कि यह दुर्लभ वस्तु हमारे लिये आ रही है। हम इसे पहिचानें। ऊपर उठें। चूक न जायें। परमेश्वर हमे बल दे कि हम उठ सकें और इसे पकड़ सकें। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम विशुद्ध, पवित्र होकर निकलेंगे और परमेश्वर की विजय के पात्र होवेंगे। हम शुद्ध हो निखर कर ऊपर उभरेंगे और परमेश्वर की विजय हमे प्रसाद में मिलेगी।

सो हम इस वर्ष पवित्र होकर और परमेश्वर की विजय के पात्र बन कर उसके सत्य मे उदित हो जायें।

श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

१ लक्ष्य

जब हम ज्ञान करने से पार हो चुकेंगे तब हमें यथार्थ ज्ञान होगा। तर्क सहायक था और तर्क ही बाधक है।

जब हम संकल्प करने से पार हो चुकेंगे तब हमें शक्ति प्राप्त होगी। प्रयत्न सहायक था और प्रयत्न ही बाधक है।

जब हम सुखोपभोग करने से पार हो चुकेंगे तब हमें आनन्द प्राप्त होगा। इच्छा सहायक थी और इच्छा ही बाधक है।

जब हम व्यक्ति-भेद करने से पार हो चुकेंगे तब हम वास्तविक 'पुरुष' होंगे। अहम्भाव सहायक था और अहम्भाव ही बाधक है।

जब हम मनुष्य-पने से पार हो चुकेंगे तब हम वास्तविक 'मनुष्य' बनेंगे। पशुभाव सहायक था और पशुभाव ही बाधक है।

तर्कणा को व्यवस्थित अन्तःस्फुरणा में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में प्रकाश हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

प्रयत्न को आत्म शक्ति के एकरस और महान प्रवाह में परिणत कर दो; तुम सर्वांश में चेतन शक्ति हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

भोग को एकरस और निर्विषय हर्षावेश में परिणत कर दो, तुम सर्वांश मे आनन्द हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

विभक्त व्यक्ति को विश्व-व्यक्ति मे परिणत कर दो, तुम सर्वांश मे दिव्य हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

पशु को गोपाल मे परिणत कर दो, तुम सर्वांश मे 'कृष्ण' हो जाओ। यह तुम्हारा लक्ष्य है।

*   *   *   *

इस समय जो कुछ मैं नहीं कर सकता हूँ वह इसका द्योतक है कि भविष्य मे उसे मैं कर लूंगा। असम्भवता का भान ही सब सम्भवों का प्रारम्भ है। क्योंकि यह ऐहलौकिक विश्व एक अयुक्ताभास और एक असम्भवता था, इसलिये शाश्वत देव ने अपनी सत्ता में से इसे उत्पन्न किया।

असम्भवता इसके सिवाय और कुछ नहीं कि यह अपेक्षया बड़े, अभी तक असिद्ध सम्भवों का सकलन-मात्र है। असम्भवता के पीछे एक उन्नत अवस्था और एक अभी तक पूरी न हुई यात्रा छिपी रहती है।

यदि तुम चाहते हो कि मानवता और आगे उन्नत हो तो पहले से ही मान रखे हुए सब विचारों को आघात पहुँचाओ। इस प्रकार आहत किया हुआ विचार जागता है और रचना-शक्ति से युक्त हो जाता है। अन्यथा यह यन्त्र की तरह बार बार एक ही क्रिया को दोहराने मे सन्तुष्ट रहता है और भूल से इसी को अपनी क्रिया समझता रहता है।

अपनी ही धुरी पर घूमना मानवीय आत्मा के लिये एकमात्र गति नहीं है। इसे एक अक्षय प्रकाशके सूर्यके चारों ओर भी चक्कर काटना है।

अपने निजी स्वरूप की चेतना को पहले तुम अपने अन्दर प्राप्त कर लो, फिर विचार करो और कर्म करो। प्रत्येक जीवित विचार एक तैयार हो रहा संसार है, प्रत्येक वास्तविक कर्म एक व्यक्त रूप में आया हुआ विचार है। यह भौतिक संसार विद्यमान है, इसलिये क्योंकि दैवी स्व-चेतना मे एक विचार ने खेलना प्रारम्भ किया था।

अस्तित्व या सत्ता के लिये विचार आवश्यक नहीं है और नाही विचार इसका कारण है। परन्तु सम्भूति के लिये—कुछ हो जाने के लिये—यह एक उपकरण है। मैं वही हो जाता हूँ जो कुछ अपने अन्दर देखता हूँ। वह सब जो कि विचार मुझे सुझाता है मैं कर सकता हूँ। वह सब कुछ जो कि विचार मेरे अन्दर प्रकट करता है, मैं हो सकता हूँ। ऐसा मनुष्य का अपने में अटल विश्वास होना चाहिये, क्योंकि भगवान् उसके अन्दर बसता है।

हमारा कार्य उसी को सदा दोहराते रहना नहीं है जिसे मनुष्य पहले ही कर चुका है, बल्कि हमने नये अनुभवों को और स्वप्न तक में अचिन्तित प्रभुताओं को उपलब्ध कर लेना है। काल, आत्मा और संसार हमें हमारे क्षेत्र के रूप मे दिये गये हैं, दृष्टि, आशा और रचनात्मक कल्पना हमारी प्रेरणा-दात्री होकर उपस्थित है, संकल्प, विचार और परिश्रम हमारे सर्व-साधक उपकरण हैं।

वह नई बात कौन-सी है जिसे हमने अभी पूरा करना है? प्रेम, क्योंकि अभी तक हमने घृणा और आत्मतुष्टि को ही पूरा किया है।

ज्ञान, क्योंकि अभी तक हमने भ्रांति, इन्द्रिय-प्रतीति और विचार-क्रिया को ही सिद्ध किया है। आनन्द, क्योंकि अभी तक हम सुख, दुःख और उदासीनता ही प्राप्त कर पाये हैं। शक्ति, क्योंकि अभी तक तो दुर्बलता, प्रयत्न और पराजित विजय को ही हमने पाया है। जीवन, क्योंकि अभी तक हमने जन्म, वृद्धि और मरण को हो पूरा किया है। एकता, क्योंकि अभी तक हमने संग्राम और मघभानकी ही प्राप्ति की है।

एक शब्द मे, दिव्यताप्राप्ति—अपना पुनर्निर्माण कर अपने आपको परमेश्वर की दिव्य प्रतिमा बना लेना।

२ सत्ता का आनन्द

यदि ब्रह्म केवलमात्र एक व्यक्तित्व रहित निर्विशेषभाव है जो कि हमारी सविशेष (मूर्त) सत्ता के प्रत्यक्ष तथ्यों का निरन्तर खण्डन रूप है तो विराम ही इस सब कुछ का ठीक अन्त होना चाहिये था। लेकिन नहीं, प्रेम, आनन्द और स्वात्म-भान भी है जिनकी कि अवगणना नहीं की जा सकती।

यह विश्व न तो केवल एक गणित का सूत्र है जो कि संख्या और तत्त्व कहे जाने वाले कुछ मानसिक निर्विशेष भावों के पारस्परिक सम्बन्ध को हल करने के लिये लगाया जा रहा है जिससे कि अन्त में हम शून्य या अभावात्मक इकाई के उत्तर तक पहुंच जाय, नाहीं यह शक्तियों के किसी समीकरण का रूप धारण किये हुए केवल एक भौतिक क्रिया-व्यापार है। यह एक आत्म प्रेमी का आनन्द है, एक शिशु का खेल है, एक कवि की अनन्त आत्म-बहुरूपता है जो असीम रचना कर सकने वाली अपनी ही शक्ति के आनन्दोल्लास से उन्मत्त है।

हम भले ही उस परमदेव के बारे में ऐसा कह दें मानो कि वह एक गणितज्ञ है जो विश्व-रूपी प्रश्न को संख्याओं में हल कर रहा है अथवा वह एक विचारक है जो परीक्षणों के द्वारा नियमों के सम्बन्धों की तथा शक्तियों के सन्तुलन की एक समस्या को हल कर रहा है; लेकिन साथ ही हमें उसके बारे में यूं भी कहना चाहिये कि वह एक प्रेमी है, समष्टिगत तथा व्यष्टिगत रागों का एक रागी है, एक शिशु है या एक कवि है। विचार का पार्श्व ही पर्याप्त नहीं है, आनन्द का पार्श्व भी पूर्णतया ग्रहण करना चाहिये। विचार, शक्तियां, सत्ताएं, नियम ये सब खोखले साँचे हैं यदि ये ईश्वरीय आनन्द के प्राण से भरपूर नहीं हैं।

ये सब दृश्य वस्तुएँ प्रतिमाएँ हैं, लेकिन यह सब कुछ ही एक प्रतिमा है। निर्विशेष भावना हमारे सामने ईश्वरीय सत्यों के शुद्ध विचार को रखती है, ये प्रतिमायें उनकी जीवित-जागृत वास्तविकता को हमें दिखाती हैं।

यदि विचार ने शक्ति का आलिंगन करके लोकों को उत्पन्न किया तो सत्ता के आनन्द ने विचार को उत्पन्न किया। क्योंकि अनन्त परमेश्वर ने अपने अन्दर अपरिमेय आनन्द को धारण किया इसीलिये लोक-लोकांतर और विश्व उत्पन्न हुए।

सत्ता की चेतना और सत्ता का आनन्द सबसे पहले माता पिता हैं, उत्पादक हैं। साथ ही वे अन्तिम परात्पर सत्तायें हैं। अचेतनता चेतन आत्मा की केवल एक मध्यवर्ती मूर्छा या इसकी तमोवृत सुप्ति है। दुःख और आत्म-निर्वाण भी सत्ता के ऐसे आनन्द ही हैं जो केवल अन्य स्थान

पर या अन्य प्रकार से अपने आपको पाने के लिये अपने से दूर भाग रहे हैं।

सत्ता का आनन्द कालसे सीमित नहीं है, इसका आदि या अन्त नहीं है। परमेश्वर केवल इसलिए ही वस्तुओं के एक रूप से बाहर आता है कि वह दूसरे रूप मे प्रवेश करे।

आखिर परमेश्वर और क्या है? एक सनातन शिशु है जो एक सनातन उद्यान मे एक सनातन खेल खेल रहा है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

(ले०—श्री नलिनीकान्त जी)

वर्तमान युद्ध के विषय में अध्यात्म के साधक भी उदासीन नहीं रह सकते। यह बात ठीक है कि किसी किसी अध्यात्म-साधना ने यह शिक्षा दी है कि भगवान की चीज भगवान् को और शैतान की चीज शैतान को देनी चाहिये। इस तरह ऐहिक को आध्यात्मिक से एकदम अलग कर दिया गया है, कहा गया है कि जो लोग ऐहिक को लिये हुए हैं वे उसे ही लिये रहें, आध्यात्मिकता में उन्हें आने की कोई आवश्यकता नहीं, कोई अधिकार नहीं, और जो लोग आध्यात्मिक हैं वे आध्यात्मिकता को ही लिये रहें, ऐहिक में उन्हें आने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐहिक और आध्यात्मिक के बीच इस प्रकार का विच्छेद होने के कारण ऐहिक मर्त्य के लिये ऐहिक ही बना रह गया, वह अनात्म, अज्ञान, दुःख-दैन्य का चिर स्थायी साम्राज्य ही बना रह गया, आध्यात्मिकता कभी जीवन के अन्दर सजीव, जाग्रत एवं प्रतिष्ठित न हो सकी।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से साधु-सन्तों ने 'जगत हिताय' बहुत कुछ किया है। परन्तु उनका कर्म पूर्णरूप से फलदायी नहीं हो सका है, वह मिश्रित पंगु और सामयिक मात्र ही हो सका है। इसका कारण यह है कि उनका कर्म निम्नतर और क्षीणतर धाराओं पर अवलम्बित रहा है। प्रथम तो उनके द्वारा सांसारिक जीवन के ऊपर एक सामान्य प्रभाव पड़ने के सिवाय और कुछ भी नहीं हो पाया है—ऐहिक की आवहवा के अन्दर अन्य लोक की एक स्मृति, स्पर्श व किरण को ही उनकी साधना और सिद्धि उतार पाई है। या फिर किसी जागतिक कर्म में जब कभी वे लिप्त हुए हैं तो उनका कर्म ऐहिक के धर्म का अतिक्रमण कर बहुत अधिक परे और ऊपर नहीं जा सका है—दान, सेवा और परोपकार इत्यादि के रूप में वह नैतिक चारदीवारी के अन्दर ही आबद्ध रहा है। व्यावहारिक जीवन में उन्होंने इस नैतिक अर्थात् मानसिक स्तर से सम्बद्ध आदर्श और प्रेरणा का ही एकमात्र आश्रय लेकर अपना कर्म किया है—और बहुत बार तो इस नैतिकता को

ही आध्यात्मिकता समझने की भूल भी की गई है। वास्तविक आध्यात्मिक—मानसोत्तर—लोकोत्तर शक्ति के द्वारा जागतिक कर्मों के परिचालन करने का आदर्श विरल ही देखा गया है और जहां पर यह आदर्श देखा गया है वहां पर भी सम्यक् उपाय और पद्धति का आविष्कार हो पाया है या नहीं इसमें सन्देह ही है तथापि जगत में स्थायी परिवर्तन लाने का, मनुष्य के भाग्य को पलट देने का एकमात्र रहस्य है आध्यात्मिक अर्थात् चिन्मय शक्ति का सम्यक् आविष्कार और प्रयोग।

मानववादी (Humanist) लोगों ने एक बार कहा था कि मनुष्य के सम्पर्क में जो कुछ है उसमें से कुछ भी हमारे लिये पराया नहीं है, वह सब हमारे अपने राज्य के अन्दर पड़ता है। ठीक यही बात आध्यात्मिक पुरुष भी कह सकते हैं। श्रेष्ठतम या बृहत्तम आध्यात्मिकता का लक्ष्य होगा समग्र मनुष्य को, मनुष्य के सभी अङ्गों को, सभी कर्मक्षेत्रों को आध्यात्मिक सत्य और प्रेरणा के द्वारा गठित और परिचालित करना। इस आदर्श को बहुत कम ही स्वीकार किया गया है, अधिकांश क्षेत्रों में तो इसे असम्भव ही माना गया है और यही कारण है कि जगत् की ऐसी दुर्दशा हुई है।

यहां तक तो हमने कैफियत के रूप में कहा। अगर हम अध्यात्म के साधक हैं तो भी—और तो भी क्यों, बल्कि इसी कारण—वर्तमान युद्ध जैसे एक अत्यन्त जागतिक या व्यावहारिक विषय में भी हमारा कुछ वक्तव्य है। यद्यपि प्राच्य की यह सुलभ ख्याति प्रसिद्ध है कि युद्ध विग्रह की विपुल तरंगें उसके ऊपर से निकल जाती हैं और वह महान उदासीनता के साथ केवल एक क्षण आंख उठा कर उस ओर देख लेता है और फिर अत्यन्त गम्भीर ध्याननिद्रा में डूब जाता है * फिर भी हम इस ख्याति के हिस्सेदार नहीं होना चाहते। अध्यात्म और लौकिक के बीच, ध्यान और 'घोर कर्म' के बीच इस प्रकार साप नेवले के सम्बन्ध

---

* The East bow'd low before the blast,
In patient deep disdain
She let the legions thunder past
And plunged in thought again

—Mathew Arnold

का जो सिद्धान्त और सस्कार है उसे तो बहुत दिन पहले ही श्रीकृष्ण ने कार दिया है। फलस्वरूप हम देखते है कि युद्ध विग्रह केवल लडाकू लोग ही नहीं करते आ रहे है वरन अवतारों ने भी इस कार्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं किया है ऐसा कहने मे भी बहुत अत्युक्ति न होगी। और माँ महामाया स्वय क्या है? दुर्गो का दमन करना अवतार का एक प्रधान कार्य है—सच्चिदानन्दमयी साथ ही असुर दलिनी भी है।

सचमुच हम विश्वास करते हैं कि वर्तमान युद्ध वास्तव मे असुर के साथ युद्ध है। यह युद्ध अन्यान्य युद्धों की तरह नहीं है—एक देश के साथ दूसरे देश का, साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करने वाले एक दल के साथ दूसरे दल का जो युद्ध होता है, किसी एक राष्ट्र विशेष का अपना सार्वभौम प्रभुत्व स्थापित करने का जो प्रयास होता है वैसा युद्ध या प्रयास यह नहीं है। इस युद्ध का एक गम्भीर तर और भीषणतर अभिप्राय है। यूरोप के बहुत से मनीषियों ने—केवल उन लोगों ने ही नहीं जो राजनीतिक नेता या 'पालिटीशियन' हैं, बल्कि उन लोगों ने भी जो विचार के, भाव के अथवा आदर्श के राज्य मे निवास करते हैं और जिन्हें यहां का सत्य कुछ-कुछ मालूम है, इस युद्ध के स्वरूप को हृदयगम किया है और स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किया है। सुनिए आधुनिक फ्रास के श्रेष्ठ मनीषी और उपन्यासकार ज्यूल रोमें (Jules Romains) क्या कहते हैं —

"मध्ययुग के अन्तिम भाग से आरम्भ कर आज तक (हम कह सकते हैं कि युग युग मे) विजय कामी लोगों ने सम्भवत मनुष्य की सभ्यता और शिक्षा दीक्षा को काफी हानि पहुचायी है, परन्तु शिक्षा दीक्षा व सभ्यता नाम की वस्तु का ही सन्देह का विषय बना डालने का दुस्साहस उनमे से किसी ने भी नहीं किया था। अनाचार-अत्याचार का समर्थन करने की चेष्टा उन्होंने भी की है, किसी आवश्यक प्रयोजन के नाम पर, परन्तु उन्होंने क्षण भर के लिए भी ऐसा आदर्श और शिक्षा देने की कल्पना नहीं की कि पराजित देश अपनी रीति-नीति और शास्त्र—सब कुछ उनके साचे मे ढाल दें। प्राचीन इतिहास मे युद्ध विग्रह अनेक घटनाओं मे से केवल एक घटना थी और यूरोप के इतिहास मे आधुनिक युग के आरम्भ से लेकर आज तक युद्ध विग्रह का यह अर्थ नहीं रहा कि इससे मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक और नैतिक सम्पत्ति एकदम विलुप्त हो जाय, वश-परम्परा से

मनुष्य-जाति की साधना की गति जो स्वतन्त्रता, साम्य और मैत्री की ओर जा रही है अर्थात मनुष्यत्व की ओर अग्रसर हो रही है वह हठात नष्ट हो जाय"।

सम्भवत यूरोप के मनीषी असुर की बात ठीक ठीक नहीं जानते, उनके ऐतिह्य मे 'टाइटन' (Titan) की बात होने पर भी आधुनिक मन को वे सब बातें कवि-कल्पना अथवा अधिक से अधिक प्रतीक-भर मालूम होती है। फिर भी असुर या 'टाइटन' के बाह्य आविर्भाव व व्यवहार के विषय मे उन्होंने जितना अनुभव किया है और व्यक्त किया है वह मनुष्य की आख खोलने के लिये काफी है। उन्होंने कहा है, यह युद्ध दो विभिन्न आदर्शों के बीच तो है ही, साथ ही वे दोनों आदर्श परस्पर इतने विभिन्न है कि उन्हें समान स्तर या विधान की नहीं वरन दो पृथक् स्तरों या विधानों की चीजें कह सकते हैं। मनुष्य अपने क्रम विवर्तन (Evolution) की धारा मे जिस स्तर पर आज पहुचा है वहा से उसे गिरा कर उसके पुराने स्तर के अनुरूप किसी अवस्था मे बाँध रखने का प्रयास वर्तमान युद्ध का एक पक्ष कर रहा है। और इसके इस प्रयास का लक्ष्य ठीक ऐसा ही है इस बात को भी उसने स्वय ही स्पष्ट रूप में चिल्ला चिल्ला कर प्रकट किया है, कुछ भी लुका छिपा कर नहीं रखा है। आज हिटलर का 'मैन काम्फ' (Mein Kamf) नवीन व्यवस्था (New Order) का वेद, बाइबल और कुरान की अपेक्षा भी अधिक अभ्रान्त, अकपट तथा आवरणहीन धर्मशास्त्र हो रहा है।

जिस समय मनुष्य प्राय' वन मानुष था उस समय उसकी जो प्रवृत्तियां थीं और जिस प्रकार की प्रवृत्तिया थीं—उसकी जो उग्र, अशुद्ध, अहम्भाव पूर्ण प्राणशक्ति थी जिसके अन्दर धीर बुद्धि का प्रकाश अच्छी तरह नहीं पहुँच पाया था, उसी प्राण शक्ति के अन्दर और उन्हीं सब प्रवृत्तियों के अन्दर फिर से मनुष्य को लौटा ले जाने के लिये इस निम्न शक्ति का आज उत्थान हुआ है। यह नवीन व्यवस्था (New Order) मनुष्य को बलवान्, केवल पराक्रमी होने को कहती है अर्थात् निर्मम, क्रूर और यूथ-बद्ध होने को कहती है। यूथ-बद्धता ही इस व्यवस्था की विशेषता है—जैसी यूथ-बद्धता (दलबन्दी) कुत्तों या भेडियों की होती है। एक विशेष जाति या दल या राष्ट्र—यूरोप मे जर्मनी और एशिया में उसी का अनुसरण करने वाला जापान होगा प्रभु या मालिक की जाति, शेष मानव जाति,

सभी देश देशान्तर होंगे उसके दास या गुलाम और ये सब उसके लिये पानी भरा करेंगे और लकडी चुना करेंगे। प्राचीन युग मे जो अवस्था थी हेलट (Helot) लोगों की, मध्य युग मे जो अवस्था थी क्रीत दासों की और साम्राज्यवाद की निकृष्टतम व्यवस्था के अन्दर जो अवस्था थी पराधीन जातियों की, उससे भी कहीं बढ कर दीन-हीन अवस्था होगी सारी मनुष्य-जाति की। क्योंकि उन सब युगों में और व्यवस्थाओं मे बाहरी अवस्था चाहे जैसी ही क्यों न रही हो, ज्यूल रोमें के कथनानुसार, मनुष्यकी ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा के विषयमें कभी कोई प्रश्न नहीं उठा था, वह सदा पूर्ण मात्रामे पूज्य और वरेण्य बनी रही। वर्तमान समयकी नवीन व्यवस्था में केवल दासोंकी अवस्था ही हेय होगी ऐसी बात नहीं, प्रभुओं की अवस्था भी व्यक्ति के रूपमे उनसे किसी कदर कम हेय न होगी। इस व्यवस्था मे व्यक्ति की महिमा व स्वतत्रता कतई स्वीकार नहीं की जायगी। इसमें समाज या दल होगा मधुमक्खियों का छत्ता या दीमकों का वल्मीक। इसमें व्यक्ति केवल कर्मी मात्र होगा—एक विराट् कठोर यंत्र के चक्के या कील इत्यादि के रूप मे रहेगा। स्वाधीन मनुष्य की स्वत स्फुरित प्रेरणा ऊपर के और अन्दर के जिन सब लोकों को गढती है—अर्थात काव्य, साहित्य, शिल्प, सुन्दर सुकुमार, श्रीमय और ह्रीमय जो कुछ है—इन सबका निर्वासन इस व्यवस्था से कर दिया जायगा, क्योंकि ये सब शौकीनी की चीजें हैं और चित्त को दुर्बल बनाने वाली हैं। मनुष्य होगा भौतिक विज्ञान का उपासक, उस विज्ञान का जिसका उद्देश्य है केवल प्रकृति के, जड़ प्रकृति के ऊपर प्रजा-पीडक आधिपत्य स्थापित करना, शस्त्रास्त्रों का समारोह सजाना, व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने के लिये सुविधा और उग्र व्यवस्था का प्रबन्ध करना—और सो भी एक भाग्यवान् दल विशेष के लिये, उस दल के सघबद्ध जीवन के लिये, मनुष्य-जाति के लिये नहीं, व्यक्ति मात्र के लिये भी नहीं।

इस आसुरिक शक्ति के विरुद्ध जो लोग खडे हुए हैं—पूर्ण स्वेच्छा से न भी सही, कम-से-कम अवस्था के फेर मे पड़कर जिन्हें खडा होना पड़ा है—उन्हीं के ऊपर आज मनुष्य-जाति का सारा भविष्य, समस्त पृथ्वी का भाग्य निर्भर करता है। परन्तु असुर के विरुद्ध खडे होने के कारण ही वे सुर या देवता हो गये हैं ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। तब इतना ही काफ़ी है कि वे मनुष्य हैं, असुर नहीं। असुर का अर्थ है—प्रगति, उन्नति और विवर्तन (Evolution) का अन्त। असुर

का परिवर्तन नहीं होता, यह होता है एक कठोर साचा, विशेष गुणकर्मों का एक अचल आधार। परन्तु मनुष्य के अन्दर परिवर्तन का होना सम्भव है। वह नीचे गिर सकता है, पर उसी तरह यह ऊपर भी उठ सकता है। पुराणों में भोगभूमि और कर्मभूमि के नाम से एक प्रकार का विभाग किया गया है। मनुष्य का आधार है कर्मभूमि, मनुष्य के आधार के द्वारा नया नया कर्म होता है और उस कर्म के फल से मनुष्य उन्नत या अवनत हो सकता है। भोगभूमि उस अवस्था को कहते हैं जिसमे केवल संचित कर्मों का भोग ही होता है—वहा पर नया कर्म नहीं होता, चेतना मे कोई परिवर्तन नहीं होता। असुर है भोगमय पुरुष, उनका आधार है भोगभूमि—वे नया कर्म अर्थात ऐसा कर्म नहीं कर सकते जिससे उनकी चेतना का परिवर्तन व रूपान्तर हो सके। उनकी चेतना स्थाणु होती है। असुरों का परिवर्तन नहीं होता, पर ध्वंस होता है। हा, मनुष्य के अन्दर भी आसुरी शक्ति या असुर-सदृश वृत्तिया और स्वभाव निश्चय ही हो सकते हैं, पर इन सबके साथ साथ मनुष्य के अन्दर कुछ और भी होता है, एक ऐसी चीज भी होती है जिसकी प्रेरणा से वह आसुरिक भाव से अपने को मुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त असुर के आसुरिक गुणों और मनुष्य के आसुरिक गुणों में बाह्य सादृश्य होने पर भी दोनों मे एक आन्तरिक भेद होता है—दोनों के ताल, छन्द व स्पन्द (Temper, rhythm and vibration) विभिन्न होते हैं। अतः मनुष्य चाहे जितना भी निष्ठुर, निर्दय, स्वार्थ-परायण और अहंभावापन्न क्यों न हो, वह यह जानता है तथा स्वीकार करता है—सब समयों में न भी सही तो कभी-कभी, बाहर में न भी हो तो भीतर मे—कि ये सब भाव बिल्कुल भी आदर्शोचित नहीं हैं, ये हेय और त्याज्य हैं। परन्तु असुर इसलिये निर्मम होता है कि निर्ममता ही उसकी दृष्टि मे उचित है, आदर्श है, यह उसका स्वभाव, स्वधर्म है, उसकी सत्ता का नियम है, उसके लिये श्रेष्ठ कल्याण की वस्तु है। बलात्कार उसके स्वभाव की शोभा है।

स्पेन ने अमेरिका में जो अत्याचार किया, रोम ने ईसाइयों के ऊपर जो अनर्थ किये, ईसाइयों ने जो ईसाइयों के साथ पाशविक व्यवहार (Inquisition) किया, अथवा भारत, आयर्लैण्ड और अफ्रीका मे साम्राज्य-स्रष्टाओं ने जो करतूतें दिखलाईं वे सब गर्हित, अक्षम्य और अनेक क्षेत्रों मे अमानुषिक थीं। परन्तु 'नात्सी' जर्मनी ने पोलैण्ड में जो कुछ किया है तथा सारे जगत् में जो कार्य यह करना

चाहता है, उसके साथ जब हम तुलना करते हैं तब हम देखते हैं कि दोनों में केवल मात्रागत ही नहीं प्रत्युत एक गुण-गत भेद भी वर्तमान है। एक क्षेत्र में तो यह सब मनुष्य की दुर्बलता का परिचय देता है और दूसरे क्षेत्र में असुर की प्रबलता का। यह भेद जिन्हें नहीं दिखाई देता उन्हें वर्णान्ध समझना चाहिये—ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो गाढा रंग देखते ही कहते हैं कि यह काला है और हलका रंग होने पर कहते हैं कि यह सुफेद है।

क्षणिकतया असुर की सर्वत्र विजय होती है, क्योंकि उसकी शक्ति जितनी सुसंगठित व सुव्यवस्थित होती है उतनी मनुष्य की नहीं होती, आसानी से हो भी नहीं सकती। असुर की शक्ति मे छिद्र नहीं होता, वह छिद्ररहित व ठोस होती है। मनुष्य की सत्ता और शक्ति संघर्षों और विरोधों से गठित हुई होती है, वह एक एक कदम करके, धीमे-धीमे और मेहनत के साथ, क्रमिक पवित्रीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रगति करता है, वह उद्योग और संघर्ष के साथ आगे बढता है। मनुष्य की शक्ति असुर की शक्ति के विरुद्ध उतनी ही मात्रा मे विजयी होती है जितनी मात्रा मे वह देवशक्ति की धारा मे अपने आप को सिंचित करती हुई चलती है। परन्तु जगत मे देवता, देवशक्तियां पीछे अवस्थित हैं, क्योंकि अभी तक सामने का व्यावहारिक क्षेत्र असुरों के ही प्रभाव में है। बाह्यक्षेत्र, स्थूल आधार—देह, प्राण, मन—अज्ञान के द्वारा, अहंबोध के द्वारा तथा मिथ्याचार के द्वारा गठित हुआ है, इसी लिये असुर अनायास ही वहां अपना, प्रभाव व आधिपत्य स्थापित कर लेता है और कर भी चुका है। मनुष्य सहज ही असुर का यंत्र बन जाता है—बहुधा अनजाने ही ऐसा होता है। और इसी कारण आज पृथ्वी असुर के हस्तगत हो रही है। देवता के लिये पृथ्वी को अधिगत करना, पार्थिव चेतना के ऊपर किसी प्रकार का अपना प्रभाव स्थापित करना उद्यम, साधन और समय की अपेक्षा रखता है।

प्राचीन-काल मे मनुष्यों के घोर कर्मों पर—विशेषतया जब उन्होंने युद्ध बद्धता या दलबन्दी के साथ काम किया—आसुरिक प्रभाव अधिकांश क्षेत्रों में पड़ा था इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आज तो यह कहना पड़ता है कि असुर या असुरगण स्वयं ही उतर आये हैं और एक प्रबलतया संगठित मानव-समाज को अधिकृत कर, अपने ही सांचे में उसे ढाल कर पृथ्वी के ऊपर पूर्ण विजय की—विश्वमेधयज्ञ की पूर्णाहुति करने का प्रयास कर रहे हैं।

हमारी दृष्टि यह कहती है कि आज जो महासमर चल रहा है उसी के परिणाम पर मनुष्य का सारा भविष्य, पार्थिव जीवन का समस्त मूल्य निर्भर करता है। मनुष्य इतने दिनों तक जिस क्रमिक उन्नति व क्रम विकास की धारा में अग्रसर होता आ रहा है—चाहे कितनी ही धीमी गति से क्यों न हो, चाहे कितने ही सन्देह भरे प्राण मन से क्यों न हो—उसी धारा मे क्या वह अवश्य ही पूर्ण सिद्धि की ओर, पूर्णतर, शुद्धतर व मुक्ततर ज्योतिर्मय जीवन की ओर आगे बढता रह सकेगा या उसका यह मार्ग बन्द ही हो जायगा, और परिणामत वह अपनी पुरानी पाशविक अवस्था की ओर या उससे भी निकृष्ट गति की ओर, असुर के शिकञ्जे मे कस कर अन्ध और असहाय दास जीवन व्यतीत करने के लिये या आत्मा को खोकर, असुर ही बन कर, 'कबन्ध' दैत्य की तरह मस्तक-रहित धड बन कर, जीवन बिताने के लिये अधोगति को प्राप्त करेगा ? यही समस्या आज हमारे सामने उपस्थित है।

हमारी दृष्टि के अनुसार आज का महायुद्ध देवता के यन्त्रभूत मनुष्य और असुर के बीच हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि असुर की तुलना मे मनुष्य दुर्बल है—पार्थिव क्षेत्र मे; परन्तु मनुष्य के अन्दर भगवान विराजमान हैं, इस भागवती शक्ति और बल-वीर्य के सामने असुर का कोई बल विक्रम अन्त तक नहीं टिक सकता। जो मनुष्य असुर के विरुद्ध खडा हुआ है, वह खडा होने के कारण ही देवता के पक्ष का हो गया है, भागवत आशीर्वाद उसके साथ है। युद्ध के इस स्वरूप के विषय मे हम जितने ही सचेतन होंगे और सचेतन होकर सतत उन्नतिशील शक्ति के पक्ष मे, दिव्य शक्ति के पक्ष मे खडे होंगे उतनी ही मनुष्य के अन्दर देवता की विजय अवश्यम्भावी होती जायगी, उतनी ही आसुरिक शक्ति क्षीण हो हो कर पीछे हटती जायगी। अगर अज्ञान के वश होकर, अन्ध-वासना, सकुचित दृष्टि और विवेक-शून्य पक्षपात के वश होकर हम पक्ष और विपक्ष मे कोई भेद न करेंगे तो हम मनुष्य की भीषण दुर्दशा को निमन्त्रित करेंगे।

इस युग-सकट के समय भारत की भी भाग्य-परीक्षा हो रही है। भारत की स्वाधीनता भी उतनी ही मात्रा में अनिवार्य हो सकेगी जितनी मात्रा मे वह वर्तमान युद्ध के अन्तर्निहित अर्थ तथा स्वरूप को हृदयगम कर सकेगा और ज्ञान

पूर्वक देवशक्ति के पक्ष में खडा हो सकेगा, जितनी मात्रा में वह भागवती शक्ति का यन्त्र बन सकेगा। यह यन्त्र वर्तमान समय में आपातत: चाहे जितना भी दोष-पूर्ण, त्रुटिपूर्ण क्यों न मालूम हो, इसके अन्दर भगवत्प्रसाद का, दिव्य आशीर्वाद का स्पर्श पहुंच चुका है और इस कारण वह सभी विघ्नबाधाओं को पार कर अजेय विजयी होकर रहेगा। इसी कारण तो भागवत कृपा के बारे में यह प्रसिद्धि है कि 'पंगु लंघयते गिरिम्'—उसके द्वारा लंगडा भी पर्वत को लांघ जाता है। परन्तु भारत की स्वाधीनता आज इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस पक्ष को चुनता है।

आज भारत की अन्तरात्मा के सामने एक महान सुअवसर, एक 'माहेन्द्र मुहूर्त्त' उपस्थित हुआ है। अगर उसने अपना ठीक पथ चुन लिया, कुपक्ष के विरुद्ध खडे होकर सुपक्ष का आलिंगन कर लिया तो उसकी युग-युगान्तरव्यापी साधना पूर्णतया सार्थक हो जायगी। जिस अमूल्य सम्पदा को, अध्यात्म की जिस सञ्जीवनी शक्ति को मानवजाति की मुक्ति के लिये, पृथ्वी के रूपान्तर (Transformation) के लिये वह अपनी साधु सन्त मण्डली की साधना-परम्परा के द्वारा जीवित रखता चला आ रहा है, पुष्ट करता आ रहा है, जिस वस्तु के लिये ही भारत का अस्तित्व है और जिसे खो देने पर भारत का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा, पृथ्वी और मानव जाति भी अपनी सारी सार्थकता खो बैठेगी, अपनी उस अमूल्य सम्पदा को आज इस अग्नि-परीक्षा के समय हम भारतवासी पहचानेंगे या नहीं, उसकी रक्षा के लिये अन्तिम तौर पर निश्चित मार्ग का चुनाव करेंगे या नहीं? भगवान के लिये सरल और निष्कण्टक पथ बनायेंगे या नहीं? आज के इस जगद्व्यापी युद्ध में एक पक्ष की विजय होने पर भगवान का पथ—उन्नति, विकास और पूर्णता का पथ—खुला रहेगा, विशाल और निर्विघ्न हो जायगा, सुरक्षित हो जायगा और दूसरा पक्ष विजयी होने पर वह पथ सम्भवत: चिरकाल के लिये—कम से कम अनेक युगों के लिये—बन्द हो जायगा। केवल बाह्य दृष्टि से नहीं, सुविधा की चाल या कूटनीति के छल का आश्रय लेकर नहीं, वरन् अन्तर की निर्निमेष चेतना के द्वारा हमें न्याय्य और अन्याय्य पक्ष को पहिचानना चाहिये, अपनी समग्र सत्ता के द्वारा सुपक्ष का वरण करना चाहिये और कुपक्ष का विरोधी होना चाहिये। जिसे मित्रपक्ष कहा जाता है वही हमारा वास्तविक मित्रपक्ष है, उस पक्ष के लोगों में

हजारों-लाखों दोष या त्रुटिया होने पर भी वे ही उस सत्य के पक्ष मे खडे हुए है जिस सत्य का आविर्भाव और विजय हम कराना चाहते हैं। अतएव वे ही हमारे स्वपक्षी हैं, काय मन-वचन से उन्हीं का सगी-साथी होकर हमे खडे होना चाहिये, अगर हम 'महती विनष्टि' से—महान विनाश से—रक्षा पाना चाहते है।

दुर्योधन के पक्ष मे थे उसके सौ भाई, और थे भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे अनेक महारथी, फिर भी, चाहे जितने दुःख-कष्ट के बाद हुई हो और चाहे जितने दीर्घकाल के बाद हुई हो, अन्त मे जय हुई पाच पाडवों की ही, क्योंकि उनके पक्ष मे थे श्रीकृष्ण। जहा योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ अर्थात् जहा भगवान् और उनका यन्त्र भूत आदर्श मनुष्य होता है वहा अव्यर्थ विजय, पूर्ण सिद्धि और श्री रहती हैं। हम किस पथ से जा रहे हैं, किस पथ से चलेंगे—यही प्रश्न हमारी विधि लिपि मे अग्निमय अक्षरों मे देदीप्यमान हो रहा है। हमारा कार्य आज इस का क्या उत्तर देगा ?

माँ का आवाहन-गीत

(श्री नारायणप्रसाद जी)

आओ मैया आओ ।
हृदय गगन में आओ ॥

अन्तस्थ शत्रु से मुक्त कर मा ! सुप्त शक्ति उन्मुक्त कर ।
शिव-विश्व चेतना युक्त कर अपनी ज्योति जगाओ ॥

आओ मैया आओ ।
हृदय कमल पर आओ ॥

प्राणोंकी, मनकी स्तरी उठा सबमें, तू अपनी झलक दिखा ।
मेरा मैं, मुझ से दूर हटा घट घट मे छा जाओ ॥

आओ मैया आओ ।
अपना रूप दिखाओ ॥

हमको, अघनाशक खड्ग बना अज्ञान विनाशी दीप बना ।
अपने हाथों का यन्त्र बना अपना कार्य कराओ ॥

आओ मैया आओ ।
रग रग में रम जाओ ॥

माँ

(लेखक — श्री हरिदास चौधरी)

कभी कभी हम विश्वपिता के रूप मे भगवान् की कल्पना करते हैं और कभी-कभी विश्वजननी के रूप मे उनकी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं। और कभी-कभी पिता और माता, 'स' और 'सा' दोनों को उस परम सत्य का बोध कराने में असमर्थ समझ कर 'ओ३म तत् सत्' के रूप मे उसका निर्देश करने की चेष्टा करते हैं। ईसाई धर्म मे भगवान प्रधानत पिता के रूप मे पूजे जाते हैं, वे अनत विश्व के स्रष्टा और करुणामय त्राता हैं वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वमगलमय हैं। हमारे तन्त्र-शास्त्र मे माता के रूप मे या जगदम्बा के रूप मे भगवान की पूजा करने का विधान है, और वेदों तथा उपनिषदों मे वे प्रधानत अव्यक्त, अनिर्वचनीय ओ म कहे गये हैं।

सत्य को यदि हम समग्र रूप मे ग्रहण करें तो हमे मालूम होगा कि ऊपर कही गई तीनों दृष्टियों मे कोई भी मिथ्या या काल्पनिक नहीं है। सत्य के अनन्त रूप हैं; भगवान एक साथ ही विभिन्न अवस्थाओं मे विराजते हैं। अपनी सर्वोच्च अवस्था मे वे सब प्रकार के व्यक्त रूपों के परे अनिर्देश्य, परात्पर है—दुर्भेद्य रहस्यावृत हैं। उनकी यह परम अव्यक्त अनिर्देश्य अवस्था ही 'ओ३म तत सत के रूप मे वर्णित है। परन्तु एक ही अखण्ड भगवान या पुरुषोत्तम एक दूसरी अवस्था मे अनन्त-गुण सम्पन्न सगुण ब्रह्म होकर विराजते हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कर्त्ता के रूप मे अवस्थान करते हैं। ये सगुण ब्रह्म ही विश्वपिता सर्वलोकविधाता हैं। फिर प्रत्येक अवस्था में ही भगवान के दो प्रधान दिक् या विभाव (Aspects) होते हैं एक उनकी निस्पन्द, निष्क्रिय सत्ता का दिक् (Static aspect), दूसरा उनकी चिरचचल सक्रियता का दिक् (Dynamic aspect)। एक ओर तो वे अक्षुब्ध, प्रशान्त, आत्म-समाहित, स्वय-सम्पूर्ण शिव हैं और दूसरी ओर उच्छ्वासमयी, लीलापरायणा, नित्य नवीन छन्द मे प्रकाशोन्मुखा शक्ति हैं। भगवान के इस लीलामय शक्ति-रूप की ही कल्पना हम मा के रूप मे करते हैं।

'मा' शब्द का उच्चारण करने पर हमारे मन में जो भाव उठते हैं उनमें प्रधान चार हैं। प्रधानतः, मा है शक्तिस्वरूपिणी और सृष्टिमयी। इसी कारण भागवती शक्ति अखिल विश्व के चरम स्रोत और मूल कारण के रूप में जगदम्बा हैं, चराचर विश्व की वह जननी हैं। द्वितीयतः, मा केवल सृष्टिमयी ही नहीं है बल्कि वही चैतन्यमयी शक्ति भी हैं, वह चिद्रूपिणी हैं। सांख्य की प्रकृति सृष्टिमयी है—जगत की अनन्त परिणाम धाराओं का उपादान कारण और मूल स्रोत है—किन्तु फिर भी हम उस प्रकृति को 'मा' कह कर नहीं पुकार सकते, क्योंकि सांख्यकार न प्रकृति को जडात्मिका और अचेतन-स्वभावा कहा है। मायावादियों की माया शक्ति के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। माया विश्व-सृष्टि का एकमात्र कारण होने पर भी अविद्यात्मिका है और इस कारण वह मा का आसन नहीं ग्रहण कर सकती। बहुत से पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि एक महाशक्ति ही जगत की सृष्टि का मूल कारण है। हक्सले (Huxley), टींडल (Tyndall) आदि उस शक्ति को एक अंध जड़ शक्ति मानते हैं; हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) के मतानुसार वह एक अज्ञात और अज्ञेय, अनिर्देश्य शक्ति (Unknown and Unknowable Power) है; (Schopenhauer) के मत में वह एक निश्चेतन संकल्प शक्ति (Unconscious Will) है, और हेनरी बर्गसन (Henri Bergson) उसको प्राणमय सृजन शक्ति (Vital impetus) कहते हैं। सभी पाश्चात्य शक्ति पुजारियों की दृष्टि में विश्व की मूल शक्ति निश्चेतन है, अतएव यह शक्ति सृष्टिमयी होने पर भी मातृ स्वरूपिणी नहीं है। तृतीयतः, माँ स्नेह और करुणा की ज्वलन्त मूर्त्ति हैं। मा के सामने सन्तान अपने हृदय का बन्द द्वार बिना किसी संकोच के खोल सकती है और मा भी असीम स्नेह के वश होकर सन्तान के हजारों दोषों और त्रुटियों को क्षमा कर सकती है और उसे परम कल्याण के मार्ग पर ले जा सकती है। भागवती शक्ति भी इसी कारण मा है, वह केवल सृष्टिमयी और चिन्मयी नहीं है अपितु साथ ही अपार करुणामयी भी है। उन्हीं की कृपा से मनुष्य का अविद्याजन्य बन्धन छिन्न होता है और ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है। वही मध्यस्था होकर स्नेहजात असीम धैर्य के साथ जीव का हाथ पकड़ कर उसे मानो परम सत्य के पास ले जाती है। चतुर्थतः, मा सत्यानुगामिनी है। मा सभी कार्यों को पिता के आश्रय में ही करती है और पिता की अनुमति लेकर करती है।

भागवती शक्ति के विषय में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। आद्या शक्ति केवल शिव की विराट् सत्ता का आश्रय लेकर ही लीलामयी हो सकती है तथा सृष्टि स्थिति प्रलय आदि सभी कार्य वह परम पुरुष की अनुमति लेकर ही, उनकी इच्छा पूरी करने के लिये ही किया करती है। शक्ति की सक्रियता सम्पूर्ण रूपसे शिव की अनुमति पर ही निर्भर करती है। आधुनिक युग के बहुत से दार्शनिक इस विषय में शक्ति को पूर्णरूपेण स्वाधीन मानते हैं। कोई-कोई तो यहा तक कहते हैं—जैसे फिश (Fichte), बर्गसन (Bergson), जेंटिल (Gentile) आदि—कि सत्ता शक्ति की ही सृष्टि है, जो कुछ हम स्थितिशील देखते हैं यह सब एक चिरचञ्चल सर्जन शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है। परन्तु सृष्टिमयी शक्ति को जब हम मा कहते हैं तब उस शक्ति के आश्रयस्वरूप एक परम पुरुष को भी स्वीकार करते हैं और हम विश्वास करते हैं कि परम पुरुष की ही अनुमति लेकर, उन्हीं के अन्दर निहित सत्य समूह को रूपान्वित करने के लिये भागवती शक्ति कर्म में प्रवृत्त होती है।

श्रीअरविन्द ने अपनी 'माता' नामक पुस्तक में आरम्भ में ही कहा है कि पूर्णयोग की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है—नीचे से भागवत जीवन प्राप्त करने के लिये साधक की आन्तरिक अभीप्सा ऊपर उठनी चाहिये और ऊपर से भागवती शक्ति की करुणा या प्रसाद का अवतरण होना चाहिये। साधक की अभीप्सा पूर्ण शुद्ध तथा एकमात्र भगवन्मुखी होनी चाहिये। इस अभीप्सा (Aspiration) के स्वरूप को हम एक ओर आकांक्षा या कामना (Ambition or desire) से और दूसरी ओर व्याकुलता से अलग करके समझने की चेष्टा करेंगे। आकांक्षा या कामना हमारी प्राणमय सत्ता की अभिव्यक्ति है, हमारा चित्तविक्षोभ है। परन्तु अभीप्सा सूचित करती है हमारे हृत्पुरुष का जागरण। आकांक्षा अहम्मुखी होती है चाहे वह कितने ऊँचे प्रकार की क्यों न हो। हम धन चाहते हैं, मान चाहते हैं, अपना अधिकार, पदप्रतिष्ठा चाहते हैं—यह सब हमारे क्षुद्र अविद्याच्छन्न 'अहं' की तृप्ति के लिये ही होता है। परन्तु अभीप्सा अहंकार का समूल नाश करती है और एकमात्र भगवान के प्रति ही हमें आकृष्ट करती है, भगवान को ही केवल जीवन के ध्रुवतारा के रूप में निर्दिष्ट करता है। परन्तु भगवान् को पाने के लिये साधक के मन में बहुत बार एक प्रकार की अस्थिरता या व्याकुलता का भाव उत्पन्न होता है। इस अस्थिरता का मूल कारण होता

है भागवती शक्ति के ऊपर पूर्ण निर्भरशीलता का अभाव। अभीप्सा सब प्रकार के अधैर्य और अस्थिरता से मुक्त होनी चाहिये। भगवान् के ऊपर पूर्णरूपेण निर्भरशील होकर, अन्दर में अभीप्सा की निष्कम्प ज्योति प्रज्वलित करके साधक को धीर स्थिर भाव से दिव्य जीवन की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।

भागवत जीवन प्राप्त करने के लिये साधक की अटूट अभीप्सा अत्यावश्यक, अपरिहार्य है, परन्तु वही पर्य्याप्त नहीं है। माँ की करुणा या प्रसाद के बिना सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। संसारके प्राय सभी धर्मों ने भगवत्प्रसाद की आवश्यकता को स्वीकार किया है। सिद्ध महापुरुष अपने सारे अन्तःकरण से यह अनुभव करते हैं कि अनन्त का सामीप्य प्राप्त करने के लिये सीमाबद्ध जीव की अकेली चेष्टा या तपस्या कभी पर्याप्त नहीं हो सकती चाहे वह तपस्या कितनी ही कठोर तथा निरवच्छिन्न क्यों न हो। परन्तु पूर्णयोग की साधना में भगवत्प्रसाद की आवश्यकता सब से अधिक है। इस योग में भगवान का साक्षात्कार प्राप्त करना ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है, पूर्णयोगी चाहता है भगवदनुभूति की सम्पदा को बाहर में प्रकट करना, सृष्टि के अन्दर भगवान की लीलामयी इच्छा को पूर्ण करना। भगवान का सामीप्य या सायुज्य ही प्राप्त करना जिनका एकमात्र उद्देश्य है वे निम्न प्रकृति के आमूल परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु पूर्ण योगी के लिये निम्न प्रकृति का आमूल परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसने अपने जीवन में भागवत ऐश्वर्य को पूर्णरूप से विकसित करने का व्रत ग्रहण किया है। इसी कारण पूर्णयोगी का प्रधान लक्ष्य है अपने आधार का सर्वांगीण रूपान्तर साधित करना, अपनी समग्र जीवनधारा को एक अपूर्व नवीन छन्द से भर देना। इस रूपान्तर को साधित करने के लिये, इस दिव्य छन्द से जीवन को झंकृत करने के लिये आवश्यकता है माँ की पूर्ण कृपा की और पग-पग पर उन्हीं की अप्रतिहत शक्ति की सहायता की। इस कार्यसिद्धि में साधक की व्यक्तिगत चेष्टा बहुत कम ही सहायता कर पाती है।

भगवत्कृपा प्राप्त करने का उपाय

भागवती शक्ति की पूर्ण कृपा प्राप्त करने के लिये साधक को कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है। वे शर्तें हैं आत्मसमर्पण (Self surrender), आत्मो

न्मीलन (*Self-opening*) और सदसद्विवेक (Discrimination which consists of selection and rejection) । आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन ही भगवत्प्रसाद प्राप्त करने का मूल मन्त्र है। मनुष्य जितनी मात्रा मे भगवान के प्रति आत्मोत्सर्ग करता है उतनी ही मात्रा मे भगवान भी मनुष्य की पकड मे आ जाते हैं। जितनी मात्रा मे साधक की व्यक्तिगत इच्छा अनिच्छा, वासना-कामना प्रबल हो उठती है उतनी ही मात्रा मे भागवती शक्ति भी दूर चली जाती हैं, साधक के आधार को अपने हाथों गढने का सुयोग नहीं पातीं। साधक का आत्म समर्पण सक्रिय और स्वतःप्रेरित (Active and voluntary) होना चाहिये तथा निश्शेष और सर्वाङ्गीण (Unreserved and total) होना चाहिये। बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि एक बार जब साधना का भार मा के हाथों में सौंप दिया, मा के शरणापन्न हो गये तब तो वही सब कुछ कर लेंगी, आत्मसमर्पण का ठीक-ठीक भाव भी तो वही जागृत कर सकती हैं। इस प्रकार की माग और मनोभाव को तामसिकता और आत्मप्रवचनाके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। आत्मप्रवचना कहने का कारण यह है कि जो लोग इस प्रकार की माँग पेश करते हैं वे मा के हाथ मे साधना का भार सौंप देने के बहाने अपने अहकार की परितृप्ति मे प्रवृत्त होते हैं और कामनामय जीवन यापन करते हैं। मा की करुणा प्राप्त करने के लिये स्वय इच्छापूर्वक सक्रिय रूप मे अपने आपको मा के हाथों मे सौंप देना होगा। केवल इसी शर्त पर मा हमारी साधना का भार ग्रहण कर सकती हैं। अन्यथा निश्चेष्ट तामसिक आत्मनिवेदन के फलस्वरूप यदि कोई पूर्णता प्राप्त भी हो तो वह होगी यन्त्र-जैसी पूर्णता (*Mechanical perfection*), विशुद्ध *आध्यात्मिक पूर्णता* नहीं। उसके बाद मा के प्रति साधक का आत्मसमर्पण होना चाहिये निश्शेष और सर्वाङ्गीण। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि साधक के अन्तःपुरुष ने तो मा के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, यहा तक कि उसके मनने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया है, किन्तु उसकी *प्राणमय सत्ता* अपनी भोग पिपासा को उत्सर्ग करना नहीं चाहती, अथवा उसका स्थूल शरीर अपने चिरपरिचित अभ्यास के अनुसार ही तथा अपने अन्ध सस्कार के वश होकर ही चल रहा है। ऐसी अवस्था मे आधार का सम्यक् रूपान्तर कदापि नहीं हो सकता। जीवन के *सभी अङ्गों को सत्ता के सभी स्तरों* को, प्राण के सभी स्पन्दनों को, शरीर की समस्त गतिविधियों को निम्सकोच मा के

निकट पुष्पाञ्जलि की तरह उत्सर्ग कर देना होगा, केवल तभी पूर्ण रूपान्तर का स्वप्न सफल हो सकता है।

मातृ-करुणा प्राप्त करने की पहली शर्त है आत्मसमर्पण, फिर उसके बाद चाहिये आत्मोन्मीलन और सदसद्विवेक। मा की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिये आवाहन करके उसके ऊपर अविद्याजनित कोई शर्त लाद देने से काम नहीं चल सकता, ऐसी माग पेश करने से काम नहीं चल सकता कि मा को हमारी पसन्द के अनुसार निर्दिष्ट पथ या निर्दिष्ट विधि से ही कार्य करना होगा। ऐसा करने से साधना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। मा अपनी इच्छा से कार्य करेंगी, अबाध स्वच्छन्द गति से कार्य करेंगी। तभी हमारा आत्मसमर्पण शुद्ध हो सकेगा और साधना भी सहज और अबाध गति से अग्रसर हो सकेगी। आत्मोन्मीलन का अर्थ है सत्ता के विभिन्न अङ्गों को माँ की शक्ति और ज्योति की ओर खोल देना जिससे मा की कृपा से आधार का सर्वाङ्गीण रूपान्तर साधित हो सके। एक ओर या सत्ता के एक अंश में माँ की ओर अपने को खोल कर दूसरी ओर विरोधी शक्तियों के लिये द्वार उन्मुक्त कर देना सिद्धि को अत्यन्त दूर भेज देना, व्याघात डाल देना है। जो मन्दिर माँ के लिये उत्सर्ग किया गया है उसके अन्दर सत्य और मिथ्या, अन्धकार और प्रकाश एक साथ कभी नहीं रह सकते। इसी कारण साधना में सदा-सर्वदा सजग रहने की आवश्यकता है, विचार विवेक रखने की आवश्यकता है, सुदृढ़ सङ्कल्प रखने की आवश्यकता है जिससे केवल सत्य का ही ग्रहण किया जाय और मिथ्या का सब प्रकार से त्याग किया जाय। मा की कृपा से जो ज्योतिर्मय सत्य ऊपर से नीचे उतरे केवल उसी को वरण करना चाहिये तथा जो कुछ असत है,—मन के संस्कार, मतामत, बौद्धिक रचनायें आदि, प्राण की भोगवासनायें, मांगें, सकीर्णतायें, गर्व, ईर्ष्या आदि तथा शरीर की मूढ़ता, तामसिकता, संशय, अविश्वास, परिवर्तन की अनिच्छा इत्यादि—इन सब को निर्मम होकर समूल नष्ट कर देना चाहिये।

आत्म-समर्पण और व्यक्तिगत चेष्टा

हमने पहले ही कहा है कि पूर्ण आत्म-समर्पण तथा आत्मोन्मीलन के द्वारा भागवती शक्ति को आधार के अन्दर अव्याहत रूप से कार्य करने देने पर ही

दिव्य रूपान्तर साधित हो सकता है। इसी कारण पूर्णयोगी की चेष्टा होगी अपनी व्यक्तिगत तपस्या के बदले धीरे धीरे भागवती शक्ति को उनकी इच्छा के अनुसार अपने अन्दर कार्य करने की सुविधा देना। तो क्या आत्म-समर्पण-योग मे साधक की अपनी चेष्टा की कोई भी आवश्यकता नहीं ? यह प्रश्न यहा पर बहुतों के मन मे उठ सकता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है, इसका अनुमान करना उतना कठिन नहीं। आत्म-समर्पण-योग के साधक का चरम लक्ष्य है ऐसी एक अवस्था प्राप्त करना जिसमे व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे, उसके लिये बिल्कुल अवकाश न रहे, जिसमे साधक दिव्य शक्ति की अनन्तमुखी कर्मधारा का केवल केन्द्र बन जाय। किन्तु इस चरम अवस्था को प्राप्त होना केवल तभी सम्भव होगा जब साधक का समस्त आधार सम्यक् रूप से शुद्ध और पवित्र हो जायगा, जब उसकी समग्र सत्ता दिव्य प्रतिमा के रूप में परिणत हो जायगी। इससे पहले व्यक्तिगत चेष्टा और निरन्तर जागरूकता का अभाव होने पर असावधानी के किसी भी मुहूर्त मे विरोधी शक्ति आकर साधक को प्रभावान्वित कर सकती है। इस कारण जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय हो तब तक साधक की व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता है। इस व्यक्तिगत चेष्टा का प्राण है अभीप्सा, परिवर्जन और समर्पण। एक ओर पूर्णयोगी जिस तरह भगवान को ही अपने भीतर वास्तविक साधक के रूप मे अनुभव करेगा और उन्हीं की शक्ति को अबाध गति से सक्रिय करने की चेष्टा करेगा, इसी तरह दूसरी ओर वह आधार के पूर्ण शुद्ध हो जाने के ठीक अन्तिम मुहूर्त तक निःशेष आत्म-समर्पण करने की चेष्टा करेगा, मिथ्या का मूलोच्छेद कर डालने का प्रयत्न करेगा और अपने अन्तःकरण मे दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा को सदा जीवित-जागृत बनाये रखेगा।

जीवन का रक्षा-कवच

विपत्सकुल जीवन-पथ मे एकमात्र अव्यर्थ रक्षा-कवच है मा भगवती की कृपा। यदि मा की कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर मानव जीवन के सभी आंधी-तूफानों के अन्दर से होकर सभी दुर्दिनों और सकटों मे होकर निर्भय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। इस कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपने अन्तःकरण को श्रद्धा, अनन्यता और आत्मोत्सर्ग के भाव से पूर्ण कर रखना।

निकट पुष्पाञ्जलि की तरह उत्सर्ग कर देना होगा, केवल तभी पूर्ण रूपान्तर का स्वप्न सफल हो सकता है।

मातृ-करुणा प्राप्त करने की पहली शर्त है आत्मसमर्पण, फिर उसके बाद चाहिये आत्मोन्मीलन और सदसद्विवेक। मा की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिये आवाहन करके उसके ऊपर अविद्याजनित कोई शर्त लाद देने से काम नहीं चल सकता; ऐसी माग पेश करने से काम नहीं चल सकता कि मां को हमारी पसन्द के अनुसार निर्दिष्ट पथ या निर्दिष्ट विधि से ही कार्य करना होगा। ऐसा करने से साधना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। मा अपनी इच्छा से कार्य करेंगी, अबाध स्वच्छन्द गति से कार्य करेंगी। तभी हमारा आत्मसमर्पण शुद्ध हो सकेगा और साधना भी सहज और अबाध गति से अग्रसर हो सकेगी। आत्मोन्मीलन का अर्थ है सत्ता के विभिन्न अङ्गों को माँ की शक्ति और ज्योति की ओर खोल देना जिससे मा की कृपा से आधार का सर्वाङ्गीण रूपान्तर साधित हो सके। एक ओर या सत्ता के एक अंश मे माँ की ओर अपने को खोल कर दूसरी ओर विरोधी शक्तियों के लिये द्वार उन्मुक्त कर देना सिद्धि को अत्यन्त दूर भेज देना, व्याघात डाल देना है। जो मन्दिर माँ के लिये उत्सर्ग किया गया है उसके अन्दर सत्य और मिथ्या, अन्धकार और प्रकाश एक साथ कभी नहीं रह सकते। इसी कारण साधना मे सर्वदा-सर्वत्र सजग रहने की आवश्यकता है, विचार विवेक रखने की आवश्यकता है, सुदृढ़ सकल्प रखने की आवश्यकता है जिससे केवल सत्य को ही ग्रहण किया जाय और मिथ्या का सब प्रकार से त्याग किया जाय। मा की कृपा से जो ज्योतिर्मय सत्य ऊपर से नीचे उतर केवल उसी को वरण करना चाहिये तथा जो कुछ अनृत है,—मन के संस्कार, मतामत, बौद्धिक रचनायें आदि, प्राण की भोगवासनायें, मांगें, सकीर्णतायें, गर्व, ईर्ष्या आदि तथा शरीर की मूढ़ता, तामसिकता, संशय, अविश्वास, परिवर्तन की अनिच्छा इत्यादि—इन सब को निर्मम होकर समूल नष्ट कर देना चाहिये।

आत्म-समर्पण और व्यक्तिगत चेष्टा

हमने पहले ही कहा है कि पूर्ण आत्म समर्पण तथा आत्मोन्मीलन के द्वारा भागवती शक्ति को आधार के अन्दर अव्याहत रूप से कार्य करने देने पर ही

दिव्य रूपान्तर साधित हो सकता है। इसी कारण पूर्णयोगी की चेष्टा होगी अपनी व्यक्तिगत तपस्या के चलते धीरे-धीरे भागवती शक्ति को उनकी इच्छा के अनुसार अपने अन्दर कार्य करने की सुविधा देना। तो क्या आत्म-समर्पण-योग में साधक की अपनी चेष्टा की कोई भी आवश्यकता नहीं ? यह प्रश्न यहां पर बहुतों के मन में उठ सकता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है, इसका अनुमान करना उतना कठिन नहीं। आत्म-समर्पण योग के साधक का चरम लक्ष्य है ऐसी एक अवस्था प्राप्त करना जिसमें व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे, उसके लिये बिल्कुल अवकाश न रहे, जिसमें साधक दिव्य शक्ति की अनन्तमुखी कर्मधारा का केवल केन्द्र बन जाय। किन्तु इस चरम अवस्था को प्राप्त होना केवल तभी सम्भव होगा जब साधक का समस्त आधार सम्यक् रूप से शुद्ध और पवित्र हो जायगा, जब उसकी समग्र सत्ता दिव्य प्रतिमा के रूप में परिणत हो जायगी। इससे पहले व्यक्तिगत चेष्टा और निरन्तर जागरूकता का अभाव होने पर असावधानी के किसी भी मुहूर्त में विरोधी शक्ति आकर साधक को प्रभावान्वित कर सकती है। इस कारण जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय हो तब तक साधक की व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता है। इस व्यक्तिगत चेष्टा का प्राण है अभीप्सा, परिवर्जन और समर्पण। एक ओर पूर्णयोगी जिस तरह भगवान् को ही अपने भीतर वास्तविक साधक के रूप में अनुभव करेगा और उन्हीं की शक्ति को अबाध गति से सक्रिय करने की चेष्टा करेगा, इसी तरह दूसरी ओर वह आधार के पूर्ण शुद्ध हो जाने के ठीक अन्तिम मुहूर्त तक निःशेष आत्म-समर्पण करने की चेष्टा करेगा, मिथ्या का मूलोच्छेद कर डालने का प्रयत्न करेगा और अपने अन्तःकरण में दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा को सदा जीवित-जाग्रत बनाये रखेगा।

जीवन का रक्षा-कवच

विपत्संकुल जीवन-पथ में एकमात्र अव्यर्थ रक्षा-कवच है मां भगवती की कृपा। यदि मां की कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर मानव जीवन के सभी आंधी-तूफानों के अन्दर से होकर, सभी दुर्दिनों और संकटों से होकर निर्भय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। इस कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपने अन्तःकरण को श्रद्धा, अनन्यता और आत्मोत्सर्ग के भाव से पूर्ण कर रखना।

हमारी श्रद्धा होनी चाहिये शुद्ध, सरल और निर्दोष। बहुत बार श्रद्धा अहंकार और कामना द्वारा कलुषित हो जाती है; हमारा मन और प्राण गर्व और आत्मम्भरिता से फूल उठता है और हम अपनी निम्न प्रकृति की क्षुद्र भोगतृष्णा को तृप्त करने के लिये माग पेश करते हैं। वास्तविक श्रद्धा अन्त:पुरुष की सम्पदा है। उस विशुद्ध श्रद्धा को प्राप्त करने पर हमारे जीवन का एकमात्र व्रत होगा दिव्य कर्म और दिव्याभिव्यक्ति, हमारे लिये आकांक्षा की एकमात्र वस्तु होगी दिव्य चेतना की शक्ति, शान्ति, ज्योति और आनन्द तथा देह-प्राण मन का दिव्य रूपान्तर; हमारी एकमात्र माग होगी पृथ्वी के ऊपर अतिमानस सत्य की शाश्वत प्रतिष्ठा। इसी प्रकार हमारी अनन्यता और आत्मोत्सर्ग भी निर्मल और अखण्ड होना चाहिये। अपनी सत्ता के किसी अंश को, अपनी साधना की किसी शक्ति को हमें अहं के लिये अथवा अन्य किसी अन्वेषी शक्ति के लिये सुरक्षित नहीं रख छोड़ना चाहिए। हमारी श्रद्धा, अनन्यता और समर्पण जितने परिमाण में शुद्ध और पूर्ण होंगे उतने ही परिमाण में मा की कृपा और अभय-वरदान को हम प्राप्त कर सकते हैं। मा की अभयवाणी प्राप्त कर लेने पर कोई भी बाधा विपत्ति, कोई भी विरोधी शक्ति, वह चाहे जितनी भी दुर्धर्ष क्यों न हो, साधक को स्पर्श तक नहीं कर सकती, बल्कि मा की कृपा से सङ्कट सुयोग बन जाता है, व्यर्थता-दुर्बलता सार्थक अमोघ सामर्थ्य के रूप में परिणत हो जाती है। क्योंकि मा की कृपा के अन्दर प्रकाशित होता है विधाता का सर्वजयी अव्यर्थ विधान—परमेश्वर की अनुमति।

(क्रमश:)

(श्रीअरविन्द-पाठमन्दिर से)

संकटकाल

[यह लेख गतवर्ष अक्तूबर मास में लिखा गया था। परन्तु कहीं प्रकाशित न हो सका था। यह मनोरंजक बात है कि कभी तो मेरे लेख अखबारों में इसलिये नहीं छपते थे क्योंकि वे सरकार के विरुद्ध होते थे, पर यह लेख इसलिये नहीं छापा जा सका क्योंकि साधारण लोकमत के विरुद्ध था। अस्तु, पाठक इस लेख को इस दृष्टि से पढ़ें कि यह अब से चार मास पूर्व उस समय का लिखा हुआ है, जबकि धुरी-राष्ट्रों की विजय होती दीखती थी और बहुत ही सङ्कटकाल था। वैसे तो परमेश्वर की कृपा से अगले ही मास से, नवम्बर से सम्मिलित राष्ट्रों की विजय होनी प्रारम्भ हो चुकी है और अब पूर्णरूप से हो रही है तथा सङ्कट बहुत कुछ टल चुका है, फिर भी इस लेख को अब भी इसलिये प्रकाशित किया जा रहा है क्योंकि इस लेख में व्यापक भावना की तथा वैसी ही मनोवृत्ति बनाने की एवं आचरण करने की अब भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी तब थी, और यह तब तक रहेगी जब तक कि युद्ध समाप्त नहीं हो जाता, सम्मिलित राष्ट्रों की विजय में समाप्त नहीं हो जाता। आशा है हम, जिन्हें भारतवासी होने का सौभाग्य प्राप्त है, अब भी इसविषयक अपने कर्त्तव्य को पहिचानेंगे।

इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिये मैं पाठकों का ध्यान श्री नलिनीकान्त जी के विद्वत्तापूर्ण तथा ज्ञानपूर्ण लेख 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' की तरफ विशेषतया आकृष्ट करता हूं जो इसी अङ्क में ४० पृष्ठ पर छपा है। —अभय]

१—जगत् की रक्षा या भारत की स्वाधीनता

महात्मा गांधी का, साधारण लोगों के विपरीत, यह कहना रहा है कि यदि भारत हिंसा द्वारा स्वराज्यके लिये कटिबद्ध होगा तो उनकी आहत, रुधिरप्लावित आत्मा हिमालय में शरण खोजेगी, ऐसा स्वराज्य कभी सच्चा स्वराज्य नहीं होगा। क्योंकि उनकी दृष्टि में अहिंसा हमारे राजनैतिक स्वराज्य की अपेक्षा बहुत बड़ी चीज है। इसे पूरी तरह मत समझें, मानें या न मानें पर इतना तो मत मानेंगे कि इसी तरह अन्य ऐसी वस्तुएँ जरूर हो सकती हैं और अनेक हो सकती हैं जो कि

निमित्त मात्र हैं। इनके पीछे जो शक्तियां काम कर रही हैं उन्हें देखना चाहिये। जर्मनी के वर्तमान नाजीवाद के पीछे एक ऐसी अन्धकारमयी और असत्यरूप आसुरी शक्ति काम कर रही है जो कि जगत भर पर अपना कब्जा करने के लिये बडे वेग से बढी जा रही है, इटली और जापान उसी से संचालित जर्मनी का साथ दे रहे हैं। यदि कहीं इनकी जीत हुई तो दुनिया का बहुत काल के लिये दिव्य जीवन के लिये फिर उभर सकना असम्भवप्राय हो जायगा। हम भारतवासी अभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि जर्मनी या जापान का राज्य हो जाने का कितना भयङ्कर अर्थ है। घोर आतङ्क और अत्याचार का राज्य हो जायगा; उन्नति के लिये सब स्वाधीनता, दिव्य प्रकाश तथा सत्य की साधना की सब आशा समाप्त हो जायगी, आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। इसलिये इस घडी आवश्यकता है कि हम दुनिया के शत्रु और दुनिया के मित्रों व बचाने वालों को साफ पहिचान जाय और अपनी सब सम्भवनीय शक्ति से जो दुनिया की रक्षा करने वाला पक्ष है उसकी मदद करें। यह ठीक है कि हम भारतवासी अङ्गरेजों के सताये हुए हैं, इसलिये हमारे मनों में उनके प्रति विशेष नफरत होना स्वाभाविक है। पर इस समय उस नफरत को भुला देना चाहिये। मैं जानता हूँ कि यह कितना कठिन है, विशेषत जब कि अङ्गरेजी सरकार ने पूज्य गांधी जी तथा देश के सर्वप्रिय नेताओं को जेल में डाल रखा है और घोर दमन कर रही है। तो भी मैं कहूँगा और इसीलिये कहने की और भी आवश्यकता है, कि इसके होते हुए भी हमें अपने असली शत्रु को, मानवता के शत्रु को भूल नहीं जाना चाहिये। उस शत्रु के मुकाबले में यह सब भी बहुत गौण वस्तु है। पर यदि हम उल्टा सोचेंगे, अङ्गरेजों को ही कहीं इस समय अपना शत्रु समझेंगे तो हम भारत पर—और अतएव समस्त दुनिया के भविष्य पर—बडी भारी विपत्ति को निमन्त्रित कर रहे होंगे। यह नहीं कि अङ्गरेज देवता हो गये हैं, या रूस ही कोई सच्चा मार्ग दिखाने वाला है, परन्तु चाहे अपनी सब कमजोरियों और खराबियों के होते हुए भी इस समय अङ्गरेज, रूस और अमेरिका, चीन सहित उस आसुरी शक्ति का विरोध करने और उसे परास्त करने के लिये जो कि अपनी अन्धकार और असत्यमूलक नृशंस अवस्थाओं के साथ सब जगत् पर कब्जा करने की भयङ्कर चेष्टा कर रही है निमित्त बने हुए हैं, (चाहे अनजान में ही, पर दैव कार्य में निमित्त बने हुए हैं) इसलिये हमें

अपनी सब शक्ति के साथ इस पक्ष की विजय कराने के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये।

३—हमें क्या करना चाहिए

तो कम से कम हमें —

१—अपने मन से धुरीराष्ट्रों के साथ पक्षपात को, इनकी विजयाकांक्षा के छिपे हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव को भी बिल्कुल निकाल देना चाहिए। अंग्रेज़ों के प्रति द्वेषभाव के कारण या केवल उथल पुथल व नई परिवर्तित अवस्था की इच्छा के कारण जो बहुत से भारतवासियों के अन्दर धुरीराष्ट्रों की विजय से खुशी होती है यह बहुत ही हानिकारक है, वह जापान या जर्मनी को भारत पर आक्रमण करने के लिए जबर्दस्ती अपनी ओर खींचती है। हम जानते हे कि हमारे देश मे अंग्रेज़ों के प्रति कटुता इतनी गहरी है कि बड़े-बड़े सरकारी नौकर भी दिल मे अंग्रेज़ों की हार चाहते हैं, पर यह अवस्था इस समय जगत-कल्याण के और अतएव भारत कल्याण के लिए बहुत ही विपरीत जा रही है। इसलिये बड़ी भारी मदद करना यह है कि हम अपने मनों मे से धुरीराष्ट्रों के प्रति सूक्ष्म से-सूक्ष्म पक्षपात को भी बिल्कुल निकाल देवें बल्कि—

२—सच्चे दिल से हिटलर की हार तथा मित्रपक्ष की विजय मनावें।

३—मित्रपक्ष को विजयी करने के लिये अन्य जो कुछ भौतिक सहायता पहुचाना भी हमारे हाथ मे हो वह सब भी करें।

पर यदि हम इतना भी न करेंगे तो बड़ा डर है कहीं आसुरी पक्ष विजयी न हो जाय। यही समय है जब कि थोड़ा सा भी अपना बोझ ठीक तरह से ठीक तरफ डाल देने से उठा जाता हुआ तराजू का पलड़ा फिर ठीक हो सकता है, उचित ओर बोझ पड़ जाने से युद्ध सन्तुलित हो ठीक प्रकार समाप्त होना शुरू हो सकता है। आशा है हम अपना सब बोझ दिव्यपक्ष की ओर देंगे और इस प्रकार दैवी विजय में साझीदार होने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे। तब संसार पर छाया हुआ महासंकट टल जायगा; दुनिया विश्रान्ति, शान्ति और चैन का सांस ले सकेगी, आज़ादी पावेगी। भारत आज़ाद होगा, दुनिया को सच्चे अर्थों मे आज़ाद

करता हुआ भारत आजाद होगा, आजादी के साथ अपनी दिव्यता, सत्यप्रकाश और आध्यात्मिकता का सन्देश सब कहीं फैला सकने के लिये आजाद होगा। क्योंकि तब दिव्य प्रकाश फैलाने को रोकने वाली बड़ी बड़ी रुकावटें और बाधायें दुनिया पर से हट चुकी होंगी। इसलिये जितना ही भारी यह सङ्कट है इसके टल जाने से उतना ही भारी कल्याण भी होने वाला है। तो इस समय आवश्यकता है प्रमाद-रहित होकर, सब शक्ति लगाकर इस सङ्कट पर विजय पा लेने की। नहीं तो जरा से प्रमाद से, जरा सी गलती के कारण यह हो सकता है कि भारत की आदिकाल से चली आती सब दिव्यता, सात्त्विकता तथा सब आध्यात्मिकता के मिट्टी में मिल जाने का अवसर आ जाय। इसीलिये भारतीय भाइयों से (और भारत का भला चाहने वालों से) मेरी यह पुकार है।

मनोविज्ञान और योग

(ले०—डा० इन्द्रसेन जी)

इस विषय पर लिखने मे मुझे दो भावों ने प्रेरित किया है। प्रथम तो यह कि चूकि आधुनिक मनोविज्ञान (जिसका उद्देश्य मन के, आत्मा और व्यक्तित्व के, चेतना और अचेतना के अध्ययन तथा अनुसधान की कोशिश करना है) मनुष्य की अपने आपको जानने को बद्धमूल जिज्ञासा का एक आधुनिक रूप है, इसलिये हम इसे ऐसा समझ सकते हैं कि यह एक प्रकार से यौगिक अभीप्सा का ही पुन आविर्भाव है जो अभीप्सा चाहे आज भौतिक विज्ञान पर आश्रित वर्तमान सभ्यता की परिस्थितियों से ढकी हुई है। दूसरा यह कि पाश्चात्य विचार पद्धति मे पला हुआ योग का एक आधुनिक विद्यार्थी मनोविज्ञान को योग की एक सहायक सामग्री और भूमिका के रूप मे पा सकता है; विशेषतया इसलिए चूकि मनोविज्ञान मे कुछ निश्चित प्रवृत्तिया हैं जो मनुष्य की वैयक्तिक कठिनाइओं को समझने मे अति महत्तया सहायक हैं। उनका परिचय योग के जिज्ञासु को अपने व्यक्तित्व के मूलत पुनर्निर्माण के कार्य मे मदद दे सकता है। अत योग के विद्यार्थी को एक सामान्य मनोवैज्ञानिक भूमिका का देना यहा इस लेख मे हमारे प्रयत्न का विषय होगा।

सब से पहले हम यह पूछना चाहेंगे कि योग असल मे है क्या वस्तु ? हम उत्तर दे सकते हैं कि यह विचारणा की एक क्रियात्मक पद्धति है जिसमे कि आत्मा और उस की शक्तियों के साक्षात्कार की उन विविध विधियों और क्रमों का वर्णन किया जाता है जिनसे कि आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है। योग है वह 'आत्मा का विज्ञान' जो किसी जाति, मत या जीवन-व्यवसाय का भेद रखे बिना सब व्यक्तियों के लिये समान रूप से सार्थक और हितकर है।

योग की आवश्यकता

किन्तु आधुनिक मनुष्य विरोध प्रदर्शन-पूर्वक पूछेगा, "आत्मसाक्षात्कार से मैं सम्बन्ध ही क्यों रखू "? आत्मा की वास्तविक सत्ता ही कहा है ? हमें इन प्रश्नों

को अवकाश देना चाहिए। अतएव हम कम-से-कम अभी 'आत्मा' और 'आत्म साक्षात्कार' इन शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे। किन्तु प्रश्नकर्ता निश्चय ही यह मानेगा कि यह अपने सुख, मानसिक समता और समतुलित निर्णय शक्ति मे तथा अपने समर्थ जीवन और मन की सामान्य शान्ति मे अवश्य गहरी दिलचस्पी रखता है। सचमुच आजकल का विक्षिप्त जगत इन वस्तुओं की आवश्यकता बडी तीव्रता से अनुभव कर रहा है। स्नायुविकार (Nervous and mental disorders) इस युग की व्याधि है और निःसन्देह यह स्नायुरोगी ही हैं जो चिन्ता और बेचैनी से अतीव व्यथित होते हैं और अतएव बडी विह्वलता से शान्ति के लिए पुकारते हैं। स्विटजरलैंड मे मेरी गृहरक्षिका के इस प्रासगिक वचन ने कि, 'क्या तुम्हें भी भारतवर्ष मे अपने दैनिक कृत्यों के अनुष्ठान मे इतनी दौड़धूप करनी पड़ती है जितनी कि हम यहा करते हैं, मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ी है। हमारा जीवन, जैसे कि यह आज सघटित है, भारी आवश्यक्ताओं से लदा हुआ है और हम प्राय प्रतिक्षण अपने को दौडधूप मे मस्त पाते हैं। परन्तु वास्तव मे हम लगे भी किन बड़े कामों में हैं? वर्ड्सवर्थ क्या अपनी इस शिकायत मे सच्चा नहीं है कि, 'साधारण खानपान, उपार्जन और व्यय मे हम अपनी शक्तियों का नाश कर देते हैं' (Getting and spending we lay waste our powers)। ऐसे ससार में शान्ति की बडी भारी आवश्यकता स्वाभाविक ही है। जो व्यक्ति केवल खाने-पीने और साधारण 'सुखी जीवन' से सन्तुष्ट नहीं होते उनको तो सदा ही इसकी अनिवार्य आवश्यक्ता अनुभव होती है। वे अधिक विस्तृत, सुखी और वस्तुत पूर्ण जीवन की याचना करते हैं। इसी आवश्यक्ता से ही योग का उदय हुआ और इसे ही यह पूरा करना चाहता है। अत योग का जिज्ञासु वह है जिसने अपने वर्तमान जीवन की अपूर्णताओं का तीव्र अनुभव किया है और इसके अर्थ को खोजने तथा इसकी बृहत्तर शक्यताओं को सिद्ध करने के लिये कृतनिश्चय है।

इसमे सन्देह नहीं कि आजकल बहुत से लोग, विशेषत शिक्षित वर्गों के, अपने जीवन की अपूर्णता महसूस करते हैं और कुछ थोड़े से चिन्तन से वे अपनी इस कमी को पहचान जायेंगे। परन्तु कोई भी व्यक्ति इस अपूर्णता की पूर्ति के लिये क्या यत्न करे? आधुनिक शिक्षा से हमने नयी आदतें और विचार प्रणालियां सीखी हैं। परिणामत कुछ प्राचीन आन्तरणीय सांस्कृतिक वस्तुएं हमसे छिने केवल

इस कारण निरर्थक हो जाती हैं क्योंकि वह उन्हें समझ नहीं पाता। अतएव वर्तमान भारतीय विद्वान् का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राचीन विद्या को आधुनिक बुद्धि के लिये सुलभ बनाये। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द सदृश महापुरुषों की शृङ्खला ने वर्तमान काल में हमारी इस प्राचीन विद्या की व्याख्या की है, और इसका निरूपण किया है। सुप्रसिद्ध जीवन-चरित्र-लेखक रोमाँ रोला (Romain Rolland) के शब्दों में "श्रीअरविन्द तो एशिया की प्रतिभा और यूरोप की प्रतिभा के ऐसे पूर्णतम समन्वय हैं जो कि आज तक प्राप्त किया गया है।" इस प्रकार पश्चिम के लिए भारतीय विद्या का सुनिरूपण करने तथा प्राचीन ज्ञान को अंग्रेजी पढे-लिखे भारतीयों तक पहुचाने के लिए वही उपयुक्ततम व्यक्ति हैं। युवावस्था में ही उन्हे यह प्रतीत हो गया कि योग उनके जीवन की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा है और वैयक्तिक अनुभव के आधार पर उन्होंने एक योग साधन-पद्धति का प्रतिपादन किया है। हमारे देश का विशाल इतिहास जिन अनेक विभिन्न यौगिक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है उनका यह अत्यन्त सुन्दर, श्रमसिद्ध और विशाल समन्वय है। इसके परिपक्व मनोविज्ञान ने मुझे बहुत आकृष्ट किया है और मैं सहजभाव से प्रत्येक योग जिज्ञासु को श्रीअरविन्द का योगविषयक साहित्य, जिसकी सूची मनोविज्ञान-सम्बन्धी अन्य उपयोगी ग्रन्थों के साथ अन्त में आबद्ध है, पढ़ने के लिए निमन्त्रित कर सकता हूँ।

निग्रह

हमने ऊपर कहा था कि योग का उदय जीवन की पूर्णता विषयक अन्त प्रेरणा से हुआ है। परन्तु यौगिक प्रक्रिया का यथार्थ स्वरूप क्या है? व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो अन्ध प्रेरणा (Instinct) और तर्कणा का सघर्ष ही यौगिक प्रयत्न के क्षेत्र का निर्माण करता है। मनुष्य अपनी प्रकृति से ही अनेकविध प्रवृत्तियों से युक्त है, उदाहरणार्थ, भय, लडने झगड़ने की वृत्ति, सचयशीलता, लैङ्गिक प्रवृत्ति इत्यादि। ये व्यक्ति के विकास मे भिन्न भिन्न क्रमों पर प्रकट होती हैं। यथा सर्वप्रथम स्तन्य पान, मुट्ठी मे किसी चीज को पकड़ लेना, निगलना और कुछ अन्य प्रतिक्रियाए प्रकट करता है। कुछ समय बाद वह बैठना और चीजों के साथ खेलना शुरू करता है। काल की प्रगति के साथ साथ वह चलना प्रारम्भ करता है और उसकी क्रीडा

का क्षेत्र विस्तृत हो चलता है। लगभग १७ वर्ष की उम्र में उसे लिङ्ग-ज्ञान होता है और वह लड़कों तथा लड़कियों में भेद करना शुरू करता है। तथापि इतर लिङ्ग के प्रति भावात्मक आकर्षण बहुत देर से प्रकट होता है। अब प्रत्येक अन्धप्रेरणा, प्रकट होते ही उद्दण्डतया क्रिया करने में प्रवृत्त होती है। यह तत्त्वण ही सम्पूर्ण जैव-सत्ता को अपने नियत्रण में करना चाहती है। पर यह एक अन्धप्रेरणा होती है। पक्ष विपक्ष के विचार इसकी क्रिया के घटित होने में दखल नहीं दे सकते। बच्चे की अन्धप्रवृत्ति (Impulse) एक सुपरिचित अनुभव है।

किन्तु शनै शनै दण्ड के भय और प्रशसा तथा पारितोषिक के प्रलोभन से बच्चा इन अन्धप्रेरणाओं को सयत करना सीखता है और इस तरह वह आचार के सामाजिक आदर्श-मान का उत्तरोत्तर अधिक अनुसरण करता जाता है। वह आचार व्यवहार के उन आदर्शों को बुद्धि में स्थान देने लगता है जिन्हें मनोविज्ञान वेत्ता भावनाए (Sentiments) कहते हैं। प्रौढ़ होने तक वह अपनी अन्धप्रेरणाओं और आवेगों को काफ़ी हद तक, कम-से-कम सभ्य समाज में रहने के लिये पर्याप्त मात्रा में, वश तथा समता में ले आता है। अन्धप्रेरणा और आवेग अब भी उसके जीवन की प्रेरक शक्तियों का काम करते हैं, परन्तु वे अधिकाश में 'शिष्ट सामाजिक व्यवहार' की भावना के अधीन रहते हैं। पर, यद्यपि बच्चे के व्यवहार की अपेक्षा उसके जीवन की समस्वरता विकसित होती है तो भी वस्तुत वह एक गठी-जुड़ी चीज होता है। बहुधा अन्धप्रेरणाए केवल दबा दी गई होती हैं जिससे उनकी वासना गुप्त रूप से अचेतन में काम करती रहती और स्वप्नों तथा जीवन के अन्य अनेक प्रासगिक कार्यों में आविर्भूत होती रहती है। इन दबी हुई अन्धप्रेरणाओं की यथार्थ क्रिया पर ही पिछले कुछ वर्षों में एक सम्पूर्ण मनोविज्ञान खड़ा हो गया है। अन्धप्रेरणाओं का अधीर और दिखावटी नैतिक (Moralistic) नियन्त्रण कैसे निग्रह की ओर ले जाता है? ये निग्रह कैसे अलक्षित ही काम करते रहते हैं?—इनका स्वप्नों में अपने प्रच्छन्न रूपों और सामान्य व्यवहार में अप्रत्यक्ष हावभावों में प्रकट होना तथा गम्भीर मानसिक सघर्षों और निग्रहों की अवस्था में मानसिक गड़बड़ों का परिणामत उत्पन्न होना—इस सबकी छानबीन फ्रायड (Freud) ने अपने मनोविश्लेषण द्वारा बड़ी सावधानी से की है। विविध कुटिल रूपों में आत्मवंचन भी हम

क्षेत्र मे दृष्टिगोचर हुआ है जिसका अत्यन्त श्रमपूर्ण अध्ययन किया गया है। मेरे ख्याल में योग विद्या के अनुष्ठान के लिये यह ज्ञान बड़ा सहायक है।

योग का उद्देश्य

योग की वास्तविक समस्या है जीवन की पूर्ण समस्वरता या समतुलन। विद्रोही आवेगों का वशीकरण मात्र पर्याप्त नहीं है। स्वत आन्तरिक वासना का ही नितान्त रूपान्तर योग का ध्येय है। कुछ भिन्न भिन्न भावनाओं और बहुत से अर्ध-दमित आवेगों के सघर्षमय पथप्रदर्शन के अधीन काम करने वाले साधारण सामाजिक मनुष्य के विषम, विभक्त जीवन के बजाय, योग उस अखण्ड और सर्वांगीण जीवन को अपना लक्ष्य बनाता है जो एक प्रधान भावना—सत्य के प्रति प्रेम की अथवा ईश्वर साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार या पूर्ण जीवन के प्रति प्रेम की एक प्रधान भावना—से परिचालित हो, और उसमें अपने अन्दर की किसी असन्तुष्ट वासना की बुड़बुड़ाहट तक न हो।

इस प्रकार अपनी दृढ़ता प्रकट करने वाली और स्वार्थतत्पर अन्धप्रेरणाओं को एक प्रधान सर्वनियामिका भावना की सर्वांगीण शक्ति में रूपान्तरित करना योग की वास्तविक समस्या और क्रिया है। परन्तु यह रूपान्तर साधित कैसे हो ? क्या योग का यह महान् ध्येय प्राप्य है भी सही ? मनुष्य पशुवत जीवन शुरू करता है और क्या उसके लिये अन्त तक वैसा ही रहना आवश्यक नहीं है ? पशु अपने जीवन से सन्तुष्ट है। अन्धप्रेरणा उसके जीवन का सर्वोपरि नियम है और उससे उसके सब काम पूरी तरह से चल जाते हैं। परन्तु मनुष्य का ही यह भाग्य या विशेषाधिकार है कि वह 'आगे और पीछे देखे' और पश्चात्तापों, आन्तरिक सघर्षों और निग्रहों का कष्ट झेले। यदि वह उनसे ऊंचा उठ सके तो वह निश्चित ही अतिमानव (मनुष्यपन को अतिक्रान्त कर गया हुआ) हो जाता है। अब प्रश्न का यह रूप हो जाता है कि क्या अतिमानव जीवन मनुष्य के लिये सम्भव है ? क्या मनुष्य अतिमानव बन सकता है ? कम से कम योग का उत्तर तो है विश्वासपूर्ण 'हाँ', और यह साहसी वीर आत्माओं को एक इस प्रकार की चुनौती देने के लिये काफी है कि वे असाधारण लाभ के लिये अपने जीवन के साथ ऐसा परीक्षण करें।

अभीप्सा और परित्याग

परन्तु इस महान् उद्देश्य तक पहुचाने वाला अनोखा उपाय कौनसा है ? 'अभीप्सा', यह है योग का चामत्कारिक उत्तर। 'अभीप्सा करो, तीव्रतया और

सर्वात्मना अभीप्सा करो। प्राप्तव्य उद्देश्य के लिये अपनी सारी सत्ता से अभीप्सा करो, अनन्यचित्तता और पूर्ण सत्यहृदयता के साथ अभीप्सा करो'। पर इसके साथ वर्तमान आसक्तियों के परित्याग की मनोवृत्ति भी अवश्य रहनी चाहिये। जिज्ञासु को चाहिये कि वह ऐसे वर्तमान बन्धनों से अपने आपको छुड़ा ले जो कि उद्देश्य से टकराते हैं, उसके प्रतिस्पर्द्धी हैं। उसे अपनी 'मानसिक रचनाओं' को नष्ट करने के लिये अपने आपको तैयार करना पड़ता है ताकि नये आत्मिक जीवन का भव्य भवन खड़ा किया जा सके।

एव परित्याग तथा अभीप्सा की परस्पर-पूरक मनोवृत्तिया, एक अभावात्मक और दूसरी भावात्मक, रूपान्तर का सारा जादू करती है।

परन्तु यहा सही तौर पर यह पूछा जा सकता है कि 'अभीप्सा मात्र से सिद्धि कैसे प्राप्त होती है'? 'इच्छा सिद्धि तक कैसे पहुचा देती है'? पहली बात तो यह कि 'इच्छा' और 'अभीप्सा' एक ही चीज नहीं हैं। प्रत्युत अभीप्सा का अर्थ है 'गभीर अभिकाक्षा करना व सकल्प करना'। और 'गम्भीरभाव से अभिकाक्षा करना' इच्छा करने से इस बात में भिन्न है कि यह अभिकाक्षित पदार्थ की प्राप्ति की सम्भावना के विश्वास से युक्त होता है। इच्छा मे ऐसा नहीं होता। परन्तु 'तीव्र गम्भीर आकाक्षा करना' या अभीप्सा स्वत ही अभीष्ट प्राप्ति कैसे कर लेते हैं? अब मनोविज्ञान के अनुसार "सामान्य नियम यह है कि जब 'किसी काम का करना, किसी करणीय काम का विचार' चेतना को इस प्रकार व्याप्त कर लेता है कि विरोधी सुझावों या प्रेरणाओं (Suggestions) को निकाल कर सर्वथा बाहर कर दे या दबा दे तभी क्रिया घटित होती है"। पुनश्च "अगर यह पता हो कि हम कोई क्रिया कर सकते हैं तो उसे करने के लिये जो कुछ आवश्यक है वह इतना ही कि इसके विचार की या इससे प्राप्य उद्देश्य की अपने अन्दर अनन्य रूप में प्रबलता या प्रधानता प्राप्त करने का यत्न करें"—स्टौट (Stout)। इस प्रकार किसी कार्य या परिणाम की सिद्धि के लिये 'आत्म-नियमन-पूर्वक उसकी ओर ध्यान लगाना' बस यही सब कुछ है जो अपेक्षित है। सच तो यह है कि 'विचारों की अपने आप को कार्य मे परिणत कर लेने की ओर प्रवृत्ति अब मनोविज्ञान में एक प्रसिद्ध चीज है'—स्टौट। परन्तु कभी कभी हमारे इरादे और इच्छा के विरुद्ध भी कार्य हो जाते हैं। एक युवक जो, अभी

हॉल मे अपना भाषण देने वाला है, पहले से ही यह समझता है कि वह कापेगा और पीला पड जायगा और कदाचित असंगत बोलने लगेगा। वह चाहता है कि मैं इससे सर्वथा भिन्न व्यवहार करूं, तो भी ऐन मौके पर उसका यह ख्याल कि वह ठीक प्रकार भाषण दे सकने में इतना डरता है उसके मन को ऐसे घेर लेता है 'कि वह जैसी आशका करता था वैसा ही अपरिहार्य रूप से कर बैठता है'। इस प्रकार, यह उसके ठीक प्रकार भाषण दे सकने मे इतना डरने का ही ख्याल है जो उसके मन को आ घेरता है और उसके कार्य का निर्धारण करता है। निरूद्ध विचारों (Fixed ideas) की दशा मे भी, जहा कि व्यक्ति अनिच्छापूर्वक किसी 'आ घेरने वाले पाप', या प्रवल प्रलोभन के अधीन हो जाता है, ठीक यही बात होती है। "विचार की मोहक दिलचस्पी के कारण कार्य करने का और उस के फल का ख्याल उसके मन में तीव्र स्पष्टता के साथ बलात् प्रविष्ट हो जाता है और वह उसे कर डालने मे अपने को बाधित अनुभव करता है"—स्टौट। यह स्पष्ट है कि विचार और इच्छा की अवाञ्छनीय आदतों पर विजय पाने का केवलमात्र प्रभावशाली उपाय उनकी तरफ से अपना ध्यान और अनुमति हटा लेना ही है। किसी वस्तु मे अनुराग कायम रखते हुए उसकी क्रिया का दमन कर डालना गीतोक्त मिथ्याचार ही है, और मनुष्य के आन्तरिक सघर्ष की समस्या का यह कोई हल नहीं है। तो क्या सघर्ष और मानसिक गडवड से वचने के लिये दमन सर्वथा बुरा और रमण (Indulgence) वास्तविक उपाय है, जैसा कि वहुतों की समझ मे मनोविश्लेषकों का भी अभिप्राय है? परन्तु यह वात नहीं है। सभ्यता और शिक्षा मे निग्रह आवश्यक है और फ्रायड अपनी कृतियों मे इसे स्पष्ट स्वीकार करता है।

इस प्रकार दमन या निग्रह आवश्यक है। परन्तु यह केवल सामयिक और अधूरा हल है। पूर्ण समाधान तो दबी हुई प्रवृत्ति के उन्नतीकरण (Sublimation) या रूपान्तर से ही होगा और इसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक है कामना से मुक्ति के लिये तीव्र अभीप्सा और प्राप्य उद्देश्य पर ध्यान का केन्द्रीकरण।

ऊपर हमने यह दिखाने का यत्न किया है कि किस प्रकार स्वीकृत मनो वैज्ञानिक तथ्य आधुनिक मन के सम्मुख योग की फलोत्पादकता और बुद्धिग्राह्यता

की व्याख्या और प्रतिपादन करते हैं। परन्तु सत्य यह है कि ध्यानसम्बन्धी मनोविज्ञान (Psychology of attention) अभी एक अपूर्ण चीज़ है और अब तक ध्यान के बारे में जो कुछ ज्ञात है उसके आधार पर कम-से-कम ऐसी आस्था रखना सम्भव है कि योग का यह दावा सर्वथा अशक्य नहीं है कि उसके अभ्यास से मन की उच्चतर शक्तियां प्राप्त हो सकती हैं।

योग मुख्यतया मानसिक तथा आंतरिक अभ्यास है

स्वामी विवेकानन्द ने मनोवैज्ञानिक योग की बात कही थी, अर्थात प्रधानतया मानसिक नियमन से चलने वाले योग की। श्रीअरविन्द भी योग को विशेषतया आन्तरिक अभ्यास ही मानते हैं। पर पतञ्जलि साधनपाद में योग के अभ्यास की उस पद्धति का भी निरूपण करते हैं जिसमे यम नियम-पूर्वक आसन, प्राणायाम के सोपानों द्वारा वर्णित शारीरिक तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारा विवरण बेशक शुद्धतया मनोवैज्ञानिक है। पर इसका यह मतलब नहीं कि हम परिमित भोजन या शारीरिक सयम के अन्य अगों का मूल्य कम करना चाहते है, तो भी इतना अवश्य मानते हैं कि योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु मानसिक वृत्तियों का निरोध ही है (जैसा कि पातञ्जल योग के प्रथमपाद मे वर्णित है), और शारीरिक नियन्त्रण केवल उपकरण के तौर पर, साधन के तौर पर ही उपादेय है। यह शोचनीय बात है कि प्राय बाह्य नियमों को ही योगाभ्यास का बड़ा भाग बना दिया जाता है। ऐसी अवस्था में बहुधा तपस्या, सुख का परित्याग और इन्कार या दमन अपने आप मे ही उद्देश्य बन जाते हैं। परन्तु तपस्या नियन्त्रण के तौर पर उचित और उपयोगी होती हुई भी यौगिक जीवन का अन्तिम स्वरूप नहीं बन सकती क्योंकि इसमे वासनाओं के रूपान्तर के बजाय उनका दमन अन्तर्निहित होता है। तपस्वी और भोगवादी मे भेद केवल इतना ही है कि पहला तो अपनी सुख की इच्छा को दबाये हुए रखता है और दूसरा अपने आपको उसके प्रति खुल्लमखुल्ला सौंप देता है। योग मे जैसे कि ऊपर उसका विचार किया गया है, आन्तरिक मन का मूलगत परिवर्तन, जीवन विषयक दृष्टि को ही पलटना और जीवन के सब व्यवहारों मे नये मूल्यों का निर्धारण समाविष्ट है। यह व्यक्तित्व का, और फलत इसके ससार का पूर्ण रूपान्तर है।

बचपन से अभ्यास की आवश्यकता

जो लोग प्रौढ़ावस्था मे यौगिक जीवन के सौन्दर्य और सामर्थ्य से अभिज्ञ होकर अपनी प्रवृत्तियों के रूपान्तर के लिये सचाई के साथ उद्योग शुरू करते हैं वे सोचते हैं कि उन्हें बहुत पहले ही कुछ आधारभूत मनोवृत्तिया बना लेनी चाहिये थीं। उन्हें अनुभव होता है कि तब वे कुछ उन कठोर सघर्षों से बच जाते जिनमे से अब उन्हें अवश्य गुजरना होगा। बहुतों को रसना के साथ कड़ी लडाई लडनी पड़ती है और प्रतिदिन प्रत्येक भोजन के समय अध्यशन (बहुत खा जाने) की तुच्छ दुर्बलताओं की पुनरावृत्ति से उत्पन्न विक्षोभ के कारण एक जिज्ञासु के मुह से वर्ड्सवर्थ की भाति यह दुःख-भरी चीख अवश्य निकल पडेगी, 'काश। दुर्बलता का कभी तो अन्त हो' (Oh let my weakness have an end)। और तब उसने अवश्य ही यह चाहा होगा कि अगर वह बचपन मे ही मूल्यों की श्रेष्ठतर भावना और खाने की उचित आदतों को डाल लेता तो वह इस सारे कष्ट से बच जाता।

योग में अनेक यूरोपियनों की और नहीं तो मोहकता की दिलचस्पी होती है। वे स्वीकार करते हैं कि इसमे भारतवर्ष ससार के इतिहास मे अद्वितीय रहा है। और मुझे याद है कि एक यूरोपियन उपाध्याय ने अपनी भारत यात्रा के समय एक वार्तालाप के मध्य मे योग के आधार पर निर्मित शिक्षापद्धति का विचार प्रस्तुत किया था। निःसन्देह यह एक सुन्दर विचार है परन्तु इससे शैक्षणिक जीवन की एक पूर्ण पद्धति का निर्माण उस व्यक्ति का काम है जो एक साथ योगी भी हो और शिक्षाशास्त्री भी। तथापि यह स्पष्ट है कि बचपन मे ठीक मनोवृत्तियों और मूल्याकनों (Values) का अभ्यास अधिक सुगमतया डाला जा सकता है और यदि ऐसा किया जाय तो यह व्यक्ति के जीवन की सर्वोत्तम सम्पत्ति होगी। यह उसकी ऐसी सपत्त होगी जो उसे बहुत योग्यता से और सुखपूर्वक जीवन-सघर्षों से पार कर देगी, अपेक्षा उस धन-दौलत के जिसे हम कितनी चिन्ता के साथ अपने बच्चों को देना आवश्यक समझते हैं।

(असमाप्त)

— ० —

योग

(विचार तथा प्रार्थना रूप में)

(ले०— श्री अनिलवरणराय)

अपनी सत्ता के सत्य के अनुकूल जीवन बिताना ही हमारी साधना है। अपने जीवन के सभी अंगों में हम उसी सत्य को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु साधारणतः हमारी चेष्टा अंध होती है, अंधेरे में टटोल-टटोल कर आगे बढ़ती है और बराबर ही उल्टी दिशा में, मिथ्या की ओर ले जाती है। उस सत्य को ठीक-ठीक, सचेत होकर जानना और अपने जीवन में उसे सिद्ध करना ही योग कहलाता है।

हमें अपने शरीर, प्राण और मन को इस तरह बदल देना और नये साँचे में ढाल देना होगा जिसमें वे नमनीय हो जाय, उस सत्य के यंत्र, सर्वांगपूर्ण वाहन बन जाँय। परन्तु जो विश्वास और अभ्यास उनके अन्दर जमकर बैठ गये हैं वे इस परिवर्तन के सब से बड़े बाधक हैं। शरीर को यह विश्वास ही नहीं होता कि जिन नियमों को यह जानता है और जिनका वह अनुसरण करता आ रहा है वे कभी बदले या हटाये जा सकते हैं और यही बात प्राण और मन के विषय में भी कही जा सकती है। कहीं भी सत्य-चेतना का प्रकाश नहीं है, उच्चतर दिव्य संभावनाओं में तनिक भी विश्वास नहीं है, हमारे जीवन की गति सदा से अंधवत्, यन्त्रवत् चल रही है।

सबसे पहली अत्यावश्यक बात यह है कि हमारी सत्ता के प्रत्येक भाग में अपनी दिव्य संभावनाओं के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो, यह विश्वास जमकर बैठ जाय कि हमारी समूची प्रकृति पूर्ण रूप से परिवर्तित और रूपान्तरित हो सकती है, इसे होना ही होगा। इस विश्वास के अन्दर अचल-अटल स्थिति प्राप्त करने के बाद, अपने अन्दर से 'असंभव' सम्बन्धी सभी प्रकार के संस्कारों को दूर भगाने के बाद, हमें अपनी सत्ता के सभी अंगों को मा भगवती की ओर खोले

रखने का प्रयत्न करना चाहिए तभी वह सत्य हमारे अन्दर अभिव्यक्त हो सकता है और वह अपनी प्रकृति के अनुसार हमें नया रूप दे सकता है।

* * *

हे मा। मेरे व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अपने अन्दर मिल जाने दे, जिससे मेरे अन्दर अपने पुराने जीवन का कोई भी चिह्न बाकी न रह जाय। केवल इसी तरीके से मैं अपनी सत्ता के सत्य को प्राप्त कर सकता हूँ, क्योंकि तेरे साथ मेरा एकत्व ही वास्तविक सत्य है और मेरा पार्थक्य एक मिथ्या है जो सभी दुःखों और दुर्दशाओं का कारण है।

मां। तेरे साथ पुनः एकत्व प्राप्त करने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम अपने हाथों से तेरा चरण स्पर्श करें या कभी-कभी ध्यान में बैठा करें, हमें उन सभी चीजों का त्याग करना चाहिये जिनमें हम पहले से लिप्त हैं और तेरे सभी कार्यों, तेरी सभी क्रियाओं में पूर्णरूप से तेरा साथ देना चाहिये। हमारा जीवन अभी भी पुरानी धारणाओं और विचारों से, पुराने स्वार्थों तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओं से, पुरानी आदतों और प्रवृत्तियों से भरा हुआ है और ये सब मिलकर, हे मा, तेरे साथ युक्त होने में हमें बड़ी बाधा प्रदान कर रहे हैं। हमें इन सबकी ओर से मुह फेर लेना चाहिये और जो महान कार्य, पृथ्वी पर अतिमानस सत्य को अभिव्यक्त करने का जो कार्य तू कर रही है, केवल उसी के साथ हमें तादात्म्य स्थापित करना चाहिये। हमें अपनी पूरी-की पूरी दृष्टि केवल इस बात पर आबद्ध करनी चाहिये कि इस अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न हो और सब बाधाएं दूर हो जाए।

और हे मा। हमें अपने सभी विचारों, अनुभूतियों और कर्मों में तेरे ही आन्तरिक स्पर्श और तेरी ही प्रेरणा को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। इस तरह जब हम तुझे सब प्रकार की ज्योति, शक्ति और आनन्द का मूल समझ कर अपने अन्दर तेरे साथ युक्त होंगे और बाहर में तेरे इस महान कार्य में योग देंगे तभी तेरे साथ हमारा एकत्व पूर्ण होगा और हम वास्तव में तेरे दिव्य आत्मा का एक अंग बन सकेंगे।

मा ! योग का अर्थ केवल तेरा चिन्तन ही नहीं है और न तेरे चरणों में सिर टेकना ही है। अवश्य ही ये चीजें बहुत सहायता करती हैं और इन्हीं के द्वारा हम अपनी साधना आरम्भ करते हैं, परन्तु केवल ये ही चीजें हमे बहुत दूर तक नहीं ले जा सकतीं। हमे अपनी सारी सत्ता को तेरी जीवित जागृत उपस्थिति से भर देना चाहिये, हमे तेरे साथ निरन्तर सक्रिय और सर्वांगीण एकत्व बनाये रखना चाहिये, उसी एकत्व मे निवास करना चाहिये और यही योग शब्द का वास्तविक अर्थ है।

हमारे अन्दर जान मे या अनजान मे, इच्छा से या अनिच्छा से ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसे हमारी सत्ता का कोई न-कोई भाग अनुमति, सज्ञान अनुमति न देता हो। हमे सदा तेरी ज्योति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये; सजग होकर अपने अन्दर की व्यर्थ, अज्ञानोचित क्रियाओं को ढूढ निकालना चाहिये और दृढता के साथ उनसे अपनी अनुमति हटा लेनी चाहिये तथा सच्चे दिल से उन्हें निकाल बाहर करने के लिये तेरी शक्ति का आवाहन करना चाहिये। यही यौगिक साधना की सच्ची प्रक्रिया है।

इसके बाद हमे यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि इस संसार में तेरी क्या इच्छा है और फिर सचाई के साथ तेरी सेवा मे अपने आपको लगा देना चाहिये और उसमें सदा तेरी ही प्रेरणा तथा पथ प्रदर्शन प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। हमें केवल उसी विशुद्ध आनन्द मे डूबे रहना चाहिये जो तेरे प्रति सच्ची प्रीति और भक्ति रखने से उत्पन्न होता है। उस दिव्य आनन्द का आस्वादन करने के लिये ऊपर से स्वयं देवगण हमारे अन्दर उतर आवेंगे और दिव्य जीवन प्राप्त करने मे हमे सहायता प्रदान करेंगे। यही योग प्रणाली है जो हमें अवश्य ही सर्वोच्च सिद्धि प्रदान करेगी।

श्रीअरविन्द-निकेतन

श्रीअरविन्द के कार्य मे रुचि रखने वाले सज्जनों को यह समाचार प्रसन्नता-दायक होगा कि यहाँ देहली के पास 'श्रीअरविन्द निकेतन' नाम की एक छोटी सी सस्था स्थापित हुई है। यह 'अदिति' नामक पुस्तिका या पत्रिका (Bulletin) इसी श्रीअरविन्द निकेतन की तरफ से प्रकाशित की जा रही है, इस निकेतन की तरफ से होने वाली प्रवृत्तियों में से यह एक है। इसलिए इस निकेतन का कुछ परिचय पाठकों को देना उचित होगा।

स्थान

यह अभी बिल्कुल प्रारम्भिक रूप मे है। इसको भौतिक रूप देने में मुख्य हाथ देहली के एक व्यापारी सज्जन श्री सुरेन्द्रनाथजी जौहर का है। वे अभी तक कांग्रेस के भी मुख्य कार्यकर्त्ता रहे हैं, पर पिछले तीन वर्षों से वे धीरे धीरे श्रीअरविन्द की तरफ आकृष्ट हो रहे थे, इस बीच मे वे चार पाच बार पांडिचेरी भी जा चुके हैं और अब उन्होंने अपने आपको श्रीअरविन्द के कार्य के लिए सौंप दिया है। उनकी जो एक कोठी और जमीन देहली से करीब सात मील दूर कुतुबमीनार के पास अधचिनी ग्राम के पड़ोस मे है वही श्रीअरविन्द निकेतन का मुख्य स्थान है। और इस सस्था का देहली शहर मे प्रतिनिधित्व करने वाला जो केन्द्र है वह नई देहली के कनाट सर्कस मे 'स्टेट्समैन' के दफ्तर के सामने, 'हिन्दुस्तान' के कार्यालय के पास, एस० एन० सडरसन कम्पनी से सनद्ध है। यह कम्पनी भी श्री सुरेन्द्रनाथ जी की है। यहीं का डाक का सक्षिप्त पता 'डाकपेटी ८४' है। यह एक विभाग पूरी तरह 'श्रीअरविन्द निकेतन' का है। इसी मे शहर से सम्बन्ध रखने वाले श्रीअरविन्द निकेतन के उपविभाग हैं। यह सब तो स्थान के बारे मे हुआ।

१—साहित्य-प्रकाशन

इस श्रीअरविन्द निकेतन द्वारा पाच प्रकार का कार्य जारी करने का विचार है। उनका कुछ-कुछ प्रारम्भ भी हो गया है। इनमे पहिला कार्य है हिन्दी मे श्रीअरविन्द-साहित्य का प्रकाशन। अभी तक प्रकाशित हुई श्रीअरविन्द की हिन्दी

पुस्तकें मुख्यतया मद्रास में दक्षिण हिन्दी प्रचार-मुद्रणालय में छपी हैं। इन सबके प्रकाशन में श्रीमान मदनगोपाल जी गाडोदिया ने जो अब पांडिचेरी में रहते हैं बहुत परिश्रम, त्याग और सेवा की है। उनकी इच्छा से ही अब यह कार्य यहां उत्तर भारत में, देहली में इस श्रीअरविन्द निकेतन द्वारा होगा। वहां का पुस्तक भण्डार सब धीरे धीरे यहीं आ जायगा। आगे की पुस्तकें अब यहीं से छपेंगी और प्रकाशित होंगी।

२—अदिति

इसके साथ ही यहां से अदिति पत्रिका का प्रकाशन होगा, जो कि साधारण पत्रिका (Bulletin) या पुस्तिका रूप में प्रारम्भ हो गया है। विचार तो यह था और है कि अवस्थाओं के अनुकूल हो जाने पर यह मासिक रूप में प्रकाशित हो। परन्तु आजकल की कागज आदि की कठिनाई के कारण उस विचार को अभी स्थगित रखना पड़ा है। अतः अभी हम वर्ष में चार बार श्रीअरविन्द के दर्शन के अवसरों पर—अर्थात २१ फर्वरी, २४ अप्रैल, १५ अगस्त तथा २४ नवम्बर को—एक प्रकार से त्रैमासिक के से रूप में अदिति की पत्रिकायें पाठकों को भेंट किया करेंगे, जैसे कि पहली यह पत्रिका की जा रही है। यह विचार हमें बंगाल में जो श्रीअरविन्द-कार्य एक समुदाय द्वारा किया जा रहा है वहां से सूझा है। वहां 'श्रीअरविन्द-पाठमन्दिर' नाम से एक छोटा सा संगठन है। वे भी कोई मासिक या त्रैमासिक पत्र न निकालकर श्रीअरविन्द पाठमन्दिर की वर्त्तिकायें (Bulletins) निकालते हैं। हम यहां इस मन्दिर के सञ्चालकों का, तथा विशेषतया इसके प्रमुख श्रीमान्य चारुचन्द्रदत्त जी का हार्दिक धन्यवाद भी करते हैं कि उन्होंने अपनी इन 'वर्त्तिकाओं' में से लेखों को 'अदिति' के लिए अनुवाद कर लेने की अनुमति प्रदान कर दी है। फलतः इस अंक में भी पाठक श्री हरिदास चौधरी का 'मां' नामक उत्तम लेख पढ़ेंगे।

इस तरह मासिक के स्थान पर पुस्तिका या पत्रिका (Bulletin) के रूप में निकालने से डाक का खर्च तो काफी ज्यादा होगा, पर अभी यह मजबूरी है। अवस्थायें अनुकूल होते ही हम इसे वाकायदा पत्रिका (त्रैमासिक या मासिक) का रूप दे देने का विचार रखते हैं।

३— साहित्य-विक्रय

श्रीअरविन्द के हिन्दी-साहित्य का तथा इन अदिति पत्रिकाओं का प्रकाशन ही नहीं किन्तु इनका विक्रयकेन्द्र भी यहा रहेगा। और केवल हिन्दी का साहित्य ही नहीं किन्तु श्रीअरविन्दसम्बन्धी सब भाषाओं का—अंग्रेजी, बगला, गुजराती आदि सभी भाषाओं का साहित्य यहाँ इस श्रीअरविन्द निकेतन मे विक्रयार्थ उपस्थित रहेगा। यह कार्य भी शुरु प्रारम्भ हो गया है। हिन्दी, अंग्रेजी, बगला की काफी पुस्तकें विक्रयार्थ निकेतन मे पहुच चुकी है। यह विक्रय विभाग शहर के केन्द्र में कनाट सर्कस के श्रीअरविन्द-निकेतन मे स्थापित है।

४—अध्ययनमण्डल तथा वाचनालय

इसके अतिरिक्त यह सोचा गया है कि श्रीअरविन्द के साहित्य को पढने, पढाने और समझाने का भी कुछ प्रबन्ध हो सके। इसके लिये श्रीअरविन्द निकेतन मे अध्ययन मण्डल (Study circle) तथा वाचनालय खोलने का भी आयोजन लगभग पूरा हो चुका है। अध्ययन मण्डल का प्रारम्भ इस रूप मे हो चुका है कि श्री डा० इन्द्रसेन जी ने अभी दरियागञ्ज मे अपने घर पर ही श्रीअरविन्द के साहित्य का एक अध्ययन मण्डल प्रारम्भ किया है जिसमें वे प्रति सप्ताह दो वार —बृहस्पति तथा रविवार को रात्रि के ८॥ से ९॥ तक—श्रीअरविन्द की पुस्तकों का आगन्तुकों को अध्ययन कराते हैं। पर श्रीअरविन्द वाचनालय तो कनाट सर्कस के श्रीअरविन्द निकेतन केन्द्र मे ही सामान्य रूप से चालू हो गया है। श्रीअरविन्दसाहित्य की एक एक प्रति रख दी गई है और जो भाई चाहें साय ७ से ९ वजे के बीच मे यहा जाकर वाचन कर सकते हैं।

५—आध्यात्मिक जीवन मे सहायता

पाचवा कार्य है श्रीअरविन्द की योगपद्धति के अनुसार जो लोग अपना जीवन व्यतीत करना चाहें उन्हें उसमे सहायता पहुचा सकना। यह कार्य अभी प्रारम्भ होने को है। कुछ महीनों बाद, सम्भवत मई-जून मास से, श्रीअरविन्द निकेतन में साधना करना चाहने वालों के रहने आदि की व्यवस्था की जा सकेगी ऐसी आशा है। यह व्यवस्था मुख्य श्रीअरविन्द-निकेतन मे जो कि देहली से ७ मील

दूर कुतुब मीनार के पास है की जायगी। यहा पर रहने वाले भाई परस्पर सत्सग, स्वाध्याय करते हुए, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए कुछ क्रियात्मक अनुभव पाकर श्रीअरविन्द के महान योग के लिये तैयार हो सकेंगे। ऐसी तैय्यारी के लिये सब अनुकूल परिस्थितिया उत्पन्न करना ही इस निकेतन का प्रयत्न होगा। अथवा यू कहना चाहिए कि श्रीअरविन्द के कार्य के लिये इधर उत्तर भारत की तरफ जो एक केन्द्र का अभाव कुछ काल से बहुत से लोगों को अनुभव हो रहा था, उसीकी अशत पूर्ति के लिये यह एक प्रयत्न है। अस्तु।

अभी इन पाच कार्यों को सम्मुख रख कर श्रीअरविन्द निकेतन स्थापित हो रहा है। इस पवित्र सस्था की स्थापना का समाचार पाठकों को सुनाते हुए हम नम्र भाव से परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे समर्पित भाव से किये जाने वाले हमारे इन प्रयत्नों में सदा सहायक हों। आशा है पाठक भी प्रभु से की गई हमारी इस प्रार्थना मे सम्मिलित होंगे।

'अदिति' नाम

कई मित्रों ने पूछा है कि 'अदिति का क्या मतलब है, यह नाम क्यों रखा है ?' अन्यों को भी ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह वस्तुत साधारण हिन्दी भाषा मे अप्रसिद्ध शब्द है। असल मे यह एक वैदिक शब्द है। हम यह सूचित कर चुके हैं कि पत्रिका का यह वैदिक नाम स्वय श्रीअरविन्द का पसन्द किया हुआ है। लौकिक सस्कृत मे 'अदिति' का अर्थ 'देवमाता' होता है। बस, 'अदिति' का अर्थ 'देवजननी' है इतना समझ लेना ही इस नाम के सौन्दर्य का आनन्द लेने को काफ़ी है। अदिति 'दिति' से उलटा है। 'दिति' राक्षसों की, असुरों की माता है। इसी लिये 'दैत्य' (दिति के पुत्र) राक्षसों का नाम है। 'अदिति' के पुत्र आदित्य होते हैं, सूर्य आदि देवता होते हैं। सो 'अदिति' देवों को उत्पन्न करने वाली देवजननी माता का नाम है।

श्रीअरविन्द के समष्टिगत और व्यष्टिगत योग का ध्येय देवजाति उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना है, यह हमारे पाठकों से अब छिपा न होगा। तो हम यह भी दृष्टि मे ला सकते हैं कि यह भगवान की शक्ति, भगवती आद्या शक्ति, देवजननी अदिति माता की ही कृपा और शक्ति है जिससे कि श्रीअरविन्द द्वारा देखा गया दिव्य जगत की उत्पत्ति का महान कार्य पूरा होना है। तो श्रीअरविन्द के सन्देश को सुनाने वाली पत्रिका का 'अदिति' से अधिक सुन्दर, सार्थक और समजस नाम और क्या हो सकता था।

इस प्रकरण में बस केवल एक और बात की तरफ पाठकों का ध्यान खींच कर इस विषय को अभी हम समाप्त करते हैं। क्योंकि इस पत्रिका के आदर्श मन्त्र भूत

'अनागसो अदितये स्याम'

इस वेद वचन पर हम अगली बार पाठकों की सेवा मे अपना एक लेख प्रस्तुत करने वाले हैं जिसके लिये कि इस पत्रिका मे गुञ्जायश नहीं रही है। तब अदिति शब्द की कुछ और सूक्ष्मता में जाकर भी व्याख्या हो जायगी। पर इतना सक्षेप रूप से

अभी कह सकते हैं कि 'दिति' शब्द संस्कृत में जिस धातु से बना है उसका अर्थ है 'टुकडे करना, खण्ड खण्ड करना, काटना'। सो यह हमारा वर्तमान अदिव्य, अविद्यायुक्त संसार, अधिक से अधिक खण्डित मानसिक प्रकाश से ही प्रकाशयुक्त होने वाला यह हमारा संसार, जिसमें हम प्रत्येक वस्तु को टुकडे-टुकडे, खण्डित, सीमित, परिमित रूप में ही देख पाते हैं दिति का संसार है। श्रीअरविन्द इसे अदिति के लिये जीतना चाहते हैं, इसे अदिति का लोक बनाना चाहते हैं, वह दिव्य, विद्यायुक्त लोक जिसमें अखण्ड, असीम दृष्टिगोचर और व्यवहारगोचर होता है, अत: जहां विशुद्ध असीम प्रकाश का राज्य है, जो कि मन को अतिक्रान्त कर ऊपर के अतिमानस 'विज्ञान' नामक तत्त्व की विशेषता है, और जिसको पाने की साधना ही श्रीअरविन्द की सब साधना है। यह अखण्डता, असीमता, अपरिमितताकृपिणी विज्ञानमयी अदिति माता ही है जो कि दिव्यत्व को जन्म दे सकती है। अखण्ड, असीमस्वभावा इस अदिति माता का राज्य हो जाने पर ही इस पृथ्वी का दुःख, दारिद्र्य, शोक मोह, क्लेश, भय, मरण-त्रास से वास्तविक त्राण हो सकता है। और कोई जगत के दुःख-पाप को दूर कर सकने का आत्यन्तिक सच्चा उपाय नहीं है। इसीलिये हम 'अदिति' माता की उपासना करते हैं।

मुखपृष्ठ पर जो 'अदिति' माता का चित्र दिया हुआ है उसमें यही चित्रित है कि अदिति माता अपनी पुनीत उपस्थिति द्वारा जगत में मनुष्यों को अभयवर प्रदान कर रही हैं। यह चित्र श्रीअरविन्द-आश्रम के एक कलाकार साधक का बनाया हुआ है।

—०—

लेखकोंका परिचय

१ श्री नलिनीकान्त जी—

आप श्रीअरविन्द के पहले के, बग भग के समय से, सहयोगी है, आज श्रीअरविन्द के योगाश्रम के मन्त्री और श्रीअरविन्द के 'निजी मन्त्री' भी हैं। प्रथम बार ही आपके किसी लेख को जिसने पढ़ा है वह आपकी उच्च विचारशीलता तथा सुलेखकता से प्रभावित हो जाता है। आपकी कई उत्तम पुस्तकें जैसे The Coming Race, Towards The Light अंग्रेजी में भी प्रकाशित हुई हैं जो कि श्रीअरविन्द-साहित्य मे उच्च कोटि की हैं। बगला मे तो आपके लेखों की प्यास सी रहती है और बगला साहित्य को आपके लेखों ने धनी किया है—यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

इस पत्रिका मे श्रीनलिनीकान्त जी का जो लेख छपा है उसका मुख्य अंश गत ७ दिसम्बर को देहली के अखिल भारतीय रेडियो से श्री डा० इन्द्रसेन जी द्वारा उद्घोषित भी किया गया था।

आशा है आपके लेखों का रसास्वादन हम पाठकों को निरन्तर करा सकेंगे।

२ श्री हरिदास चौधरी—

आप कलकत्ते के समीप चिटागाग कालेज मे दर्शन (फिलासफी) के प्रोफेसर हैं। एम० ए० हैं। श्रीअरविन्द के दर्शन के आप माने हुए मर्मज्ञ तथा उसके कुशल व्याख्याकार हैं। आपके लेख आकर्षक और प्रभावोत्पादक होते हैं।

३ डा० इन्द्रसेन जी—

आप देहली के हिन्दू कालेज मे दर्शन (फिलासफी) के प्रोफेसर हैं। एम० ए०, पी० एच० डी० हैं। कुछ वर्षों से श्रीअरविन्द के योग से आकृष्ट होकर

पाडिचेरी आश्रम से निकट सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं। देहली में जो श्रीअरविन्द निकेतन की स्थापना हुई है उसके वास्तविक प्रेरक और जन्मदाता आप ही हैं। आप इस समय इस निकेतन के मन्त्री हैं।

४ श्री अनिलबरणराय—

आप पहिले बँगाल के एक प्रसिद्ध कांग्रेस कार्यकर्त्ता रहे हैं। अब श्रीअरविन्दाश्रम के एक प्रमुख साधक हैं। आप बंगला के प्रसिद्ध लेखक हैं। गीता पर आपने बहुत लिखा है, गीता के तो आप विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी में आपकी Songs From The Soul तथा The Message Of The Gita प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

—०—

का सम्पूर्ण साहित्य

बनने पर पौने मूल्य में]

पुस्तके अप्राप्य है)

सागनान का पॉलिश किया हुआ सुन्दर शेल्फ भेंट मे]

नवजीवन माला

१ गीताबोध ~) २ मंगलप्रभात ~) ३ अनासक्तियोग =) ≡) ।) ४ सर्वोदय ~) ५ नवयुवको से दो बात ~) ६ हिन्दस्वराज ≡) ७ छूतछात की माया ~) ८ किसानो का सवाल =) ९ ग्रामसेवा =) १० खादी गादी की लडाई =) ११ मधुमक्खी पालन =) १२ गावो का आर्थिक सवाल ≡) १३ राष्ट्रीय गायन =) १४ खादी का महत्व ~)॥ १५ जब अग्रेज नही आय थे ≡)

सामयिक साहित्य माला

१ काग्रेस का इतिहास १९३५ ३९ ।~) २ दुनिया का रगमच =) ३ हम कहा है ? =) ४ युद्ध सकट और भारत ।) ५ सत्याग्रह क्या, कब, कसे ? ≡) ६ राष्ट्रीय पचायत ।)

बाल साहित्य माला

१ सीख की कहानियाँ =) २ कथा कहानी— १=) ३ शिवाजी चरित्र=) ४ देश प्रेम की कहानियाँ =) ५ सीख की कहानिया—२ =)

विविध पुस्तकें

१ पण्डित मोतीलाल नेहरू ।) २ जवाहर लाल नेहरू =) सप्तसरिता (काका कालेलकर) =)

सोल एजेन्सी की पुस्तकें

१ लोपामुद्रा १) २ रोटी का राग ।।) ३ चारा दाना =) ४ फ्रास की राज्य क्राति १।।) ५ गाधीवाद की रूपरेखा १) ६ सन् १९४० १) ७ मेरा देश ।) ८ पिता के पत्र पुत्री के नाम ।।) ९ आर्थिक सगठन ।।।) १० योग के चमत्कार १।) ११ रूपांतर ।।) १२ पौराणिक कथायें १।।) १३ अनोखा वलिदान ।।)

'मण्डल' की ये पुस्तके कहाँ मिलती है ?

निम्न स्थानो पर 'मण्डल' की पुस्तकें स्थाई ग्राहको को पौने मूल्य में मिला करगी।

सयुक्तप्रात—सस्ता साहित्य मण्डल, लखनऊ साहित्यनिकेतन, कानपुर, श्री गाधी आश्रम खादी भण्डार मुरादाबाद, इलाहाबाद, मेरठ, मुज्जफरनगर, काशी, मथुरा, बरेली, देहरादून, फैजाबाद, गोरखपुर, सहारनपुर, डिबाई, फर्रुखाबाद, कानपुर, लखनऊ, आगरा, अकबरपुर।

बिहार—चर्खासघ खादी भण्डार हाजीपुर, रांची, मधुबनी, बतिया हजारीबाग, लरियासराय, मुजफ्फरपुर गया, सीतामढ़ी, पटना, डाल्टन गंज, बगूसराय, मोतीहारी, भागलपुर।

मध्यप्रात—महाराष्ट्र चर्खा सघ खादी भण्डार नागपुर (सीताबर्डी) गोन्दिया, जबलपुर, रायपुर खण्डवा।

राजपूताना मध्यभारत—सस्ता साहित्य मडल इदौर, राजस्थान चर्खा संघ खादी भडार अजमेर, जयपुर जोधपुर बीकानेर, उदयपुर, मन्दसौर ग्वालियर, इन्दौर मुकुन्दगढ, नवलगढ़।

पजाब—गाधी खादी भडार लाहौर, भिवानी आदमपुर।

दिल्ली—सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस नई दिल्ली, तथा दरीबा कला, श्री गाधी आश्रम।

कलकत्ता—शुद्ध खादी भडार, हरिसन रोड।

जीवन-साहित्य

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।

अक्तूबर १९४०	सम्पादक	वर्ष पहला
नई दिल्ली	हरिभाऊ उपाध्याय	अंक तीसरा

आरती

देव, अगणित नर तुम्हारी कर रहे हैं आरती!
व्योम मण्डप यह तुम्हारा दीप-दीपित है,
विश्व-आँगन, स्वर्ग-जीवन-गीत-गुंजित है,
प्रकृति प्राण-प्रदीप में भर स्नेह, तूल सँवारती!

× × ×

पर उधर!—'विस्फोट', 'नरसंहार', 'कोलाहल'!
दृग स्तंभित, हृदय कम्पित, प्राण भी चञ्चल!!
पड़ रही इस घोष में हा! मन्द मानव-भारती!
इस प्रलय में देव, क्या बुझ जाय मगन आरती?

सुधीन्द्र

में दूसरा नहीं दिखाई देता। काका के सदृश प्रसन्न ज्ञान प्रसू लखनी परमात्मा ने किसे दी है? महात्माजी और 'गुरुदेव' की बात मैं यहाँ नहीं करता। वे हमारे साहित्य, संस्कृति, ज्ञान, तप के श्रेष्ठ नमूना है। मैं जब कभी विनोबा, काका या किशोरलाल भाई के पास बैठा हूँ तो उपनिषद् कालीन ऋषियों के वातावरण में अपनेको पाया है। यही अनुभव मुझे महर्षि भगवान्दास के नजदीक भी हुआ।

मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि जबतक जीवन की साधना नहीं की जायगी तबतक न हम मौलिक लेखक बन सकते हैं न कवि। जीवन की साधना सत्य की साधना का दूसरा नाम है। सत्य ही विचारने, सत्य ही ग्रहण करने, सत्य ही लिखने, सत्य ही पर डटे रहने और सत्य ही के प्रचार करने का नाम ही जीवन की साधना है। यही जीवन का तप है। जबतक हम किसी को प्रसन्न करने के लिए, किसी के ऑर्डर पर, पुरस्कार प्रशंसा की इच्छा से पढ़ते, सोचते और लिखते रहेंगे, तबतक हम कदापि स्वतंत्र और मौलिक लेखकों तथा विचारकों की कोटि में नहीं आ सकते। और जबतक हिन्दी में ऐसे लेखक बहुत संख्या में नहीं लिखने लग जाते, तबतक केवल मौलिक लेखों का ही आग्रह रखने से हमारी गिनती

"तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति"

में होने लगे तो आश्चर्य नहीं।

हरिभाऊ उपाध्याय

खादी और अर्थशास्त्र

[वालूभाई मेहता]

जो अर्थशास्त्र व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण का विघातक है, वह अनीतिमूलक अतएव पापयुक्त 'आसुरी' अर्थशास्त्र है।

पश्चिमीय अर्थशास्त्र का एक सिद्धांत है कि 'बाजार में जो सस्ता और सुन्दर अथवा मुलायम माल हो वही लिया जाय।" इस सिद्धांत का अनुसरण कर कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि 'हम मोटी झोटी महँगी खादी क्यों खरीदें? क्या अर्थशास्त्र की दृष्टि से खादी काम में लाना श्रेयस्कर है?

अर्थशास्त्र का धातु अर्थ है वह शास्त्र जो व्यक्ति के अर्थ—स्वार्थ—की ओर न देखकर राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाता है। इसका आशय यह है कि व्यक्तिगत दृष्टि से एकाध वस्तु महँगी पड़ती हो, तो भी राष्ट्र के आत्यन्तिक कल्याण की दृष्टि से उस व्यक्ति के लिए उस वस्तु का खरीदना एक पवित्र कर्तव्य होता है।

इसलिए, एकबारगी देखने से खादी व्यक्तिगत दृष्टि में महँगी प्रतीत होने पर भी वास्तविक अर्थात नीतिमूलक अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसमें राष्ट्र का कल्याण ही है। इसीलिए तो "खादी के सिवा अपने उद्धार का और कोई उपाय नहीं है।' यह कहा जाता है कि खादी महँगी पड़ती है लेकिन अपने बाल बच्चों का पालन-पोषण करना खर्चीला होने पर भी हम इसलिए उन्हें मार नहीं डालते। यह बात ठीक है कि अगर हम अपने बच्चों को मार डालें तो हम कम खर्च में अपना काम चला सकेंगे, लेकिन ऐसा करना हम अधम मानते हैं और इसलिए ऐसा करते नहीं हैं। इसी तरह करोड़ों लोगों को अन्न-जल देनेवाली खादी छोड़कर कदाचित् हम कम खर्च में काम चला सकें लेकिन ऐसा करना ठीक नहीं है।'

['सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित होनेवाली 'खादी-मीमांसा' से]

सम्राट् मरुत्त

[रामनरेश त्रिपाठी]

चन्द्रवंश में करन्धम नाम का एक राजा था। उसका पुत्र अवीक्षित बड़ा वीर और चरित्रवान था। एक बार विदिशा के राजा विशाल की कन्या का स्वयंवर था। अवीक्षित ने स्वयंवर-सभा में पहुँचकर कन्या का हरण करना चाहा, पर सभा में उपस्थित राजाओं ने उसे घेरकर पकड़ लिया और बाँध दिया। यह समाचार जब करन्धम को मिला, तब वह पुत्र को बन्धन-मुक्त करने के लिए विदिशा गया। वह स्वयं एक अच्छा योद्धा था। उसने स्वयंवर में उपस्थित समस्त राजाओं को परास्त करके पुत्र को बन्धन-मुक्त किया।

राजा विशाल ने अपनी कन्या का विवाह अवीक्षित से करने की इच्छा प्रकट की। इसपर अवीक्षित ने कहा—मेरे मन में सभा में पराजित होने का दुःख है। ऐसी दशा में मैं विवाह नहीं करूँगा। राजा विशाल ने अपनी कन्या को दूसरा वर चुन लेने के लिए आदेश किया। पर कन्या ने कहा—मैं राजकुमार अवीक्षित के सिवा और किसीके साथ विवाह नहीं करूँगी। वे शक्तिशाली होने के साथ उत्तम पुरुषों का हृदय भी रखते हैं।

पिता को चिंतित और अवीक्षित को राजी करने में असमर्थ देखकर कन्या ने कहा—हे पिता! जिनका मन मन से वरण किया है, वह यदि पाणिग्रहण के लिए तैयार नहीं हैं तो इस जन्म में उनके सिवा मेरा दूसरा कोई पति नहीं हो सकता। मुझे तो तप करने की आज्ञा दीजिए।

राजा विशाल कोई उत्तर नहीं दे सके और कन्या पिता को प्रणाम करके तप करने के लिए वन में चली गई।

तपस्या से उसका शरीर दिनोंदिन क्षीण होने लगा। चारों ओर उसके घोर तप की चर्चा होने लगी। देवताओं ने भी सुना। उन्होंने कन्या के पास अपना दूत भेजा। दूत ने आकर उसे देवताओं का यह संदेश दिया कि राजकुमारी! मनुष्य का यह शरीर दुर्लभ है। तुम इसे मत त्यागो। तुम्हारे इस शरीर से एक चक्रवर्ती पुत्र होगा, जो शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके समस्त पृथ्वीमंडल पर राज्य करेगा।

कन्या ने पूछा—स्वामी के बिना मुझे वह पुत्र कैसे प्राप्त होगा? मैं तो अवीक्षित के सिवा और किसीसे विवाह करूँगी नहीं, मैंने उनसे बहुत अनुनय विनय की और मेरे और उनके पिता ने भी उन्हें बारम्बार समझाया-बुझाया, पर वे किसी तरह राजी नहीं हुए।

देवदूत ने कहा—मैं केवल इतना ही कहने आया हूँ कि इस शरीर की रक्षा करना, आत्म-हत्या का पाप अपने ऊपर न चढ़ने देना। इस शरीर से अवश्य एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा।

दूत संदेशा सुनाकर चला गया। राजकुमारी वह असमंजस में पड़ी कि उसे क्या करना चाहिए।

उधर तो वन में उक्त घटना घट रही थी, इधर अवीक्षित की माता ने पुत्र को बुलाकर कहा कि मैं एक अनुष्ठान करना चाहती हूँ, तुम मेरी सहायता करना।

अवीक्षित ने कहा—माता! धन मेरे पिता का है, उसपर मेरा कुछ अधिकार नहीं है यह शरीर तुम्हारा है, जो मेरे अधिकार में है। इससे जो सेवा हो सके, मैं करने को तैयार हूँ।

अवीक्षित का यह उत्तर करन्धम ने सुना तो वह उसके पास गया और बोला—बेटा! मैं तुमसे कुछ माँगने आया हूँ।

अवीक्षित ने हाथ जोड़कर कहा—पिता! वह कौन-सी वस्तु है जो मैं नहीं दे सकता? आप संकोच छोड़कर आज्ञा दें।

राजा करन्धम ने कहा—मैं अपनी गोद में अपने पौत्र को खेलते देखना चाहता हूँ। मेरा मनोरथ पूरा करो।

अवीक्षित ने नम्रतापूर्वक कहा—पिता! मैं आपका एकमात्र पुत्र हूँ, अभी तक ब्रह्मचारी हूँ।

म अविवाहित हूँ, तब आपका मनोरथ कैसे पूरा होगा ?

राजा करधम ने कहा—तुमने मुझे वचन दिया है। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बनो और विवाह करके मेरा मनोरथ पूरा करो।

अवीक्षित राजी हो गया।

एक दिन वह शिकार खेलने को निकला। नगर से बहुत दूर घने वन में जाकर उसने किसी स्त्री के रोने की आवाज सुनी और वह शब्द के सहारे उसके निकट पहुँचा। उसने पूछा—तुम कौन हो ? और क्यों रोती हो ? स्त्री ने कहा—मैं महाराज करधम के पुत्र तेजस्वी अवीक्षित की भार्या हूँ। मुझे एक राक्षस यहाँ उठा लाया है।

पहले तो अवीक्षित को सन्देह हुआ कि यह कोई मायाविनी हो और मुझे छलना चाहती हो। पर तुरन्त विचार किया कि कोई हो मैं पुरुष होकर एक स्त्री को दुख में पड़ी हुई छोड़कर कैसे जा सकता हूँ ? उसने खोज की तो उसे ज्ञात हुआ कि दनु के पुत्र दृढकेश असुर ने उसका अपहरण किया है। उसने दृढकेश से घोर युद्ध करके उसे मार डाला।

इसके बाद तुलय नाम का गन्धर्व अपने सहचरों के साथ वहाँ पहुँचा और उसने अवीक्षित से कहा—यह मेरी कन्या मालिनी है। अगस्त्य मुनि के शाप से यह राजा विशाल की कन्या होकर जन्मी है, तुम इसका पाणिग्रहण करो। इसके गर्भ से एक चक्रवर्ती पुत्र होगा।

अवीक्षित ने उस कन्या से विवाह कर लिया। कुछ दिनों के उपरान्त उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक का नाम मरुत्त रक्खा गया।

राजा करधम ने एक दिन अवीक्षित से कहा—पुत्र ! मैं अब बहुत वृद्ध हो गया। तुम राज-पाट सँभालो। अब मैं वन जाऊँगा। अवीक्षित ने कहा—पिताजी ! आज तक मेरे मन में स्वयंवर-सभा में पराजित होने की लज्जा नहीं गई है अतएव मैं राजा होना नहीं चाहता। मन की शुद्धि के लिए मैं स्वयं वन में जाकर तप करने का विचार कर रहा हूँ। आप किसी अन्य को राज्य सौंप दें।

राजा करधम ने कहा—पिता-पुत्र में क्या अन्तर है ? मैंने ही तो तुम्हारा बन्धन खोला था।

इसपर पुत्र ने कहा—किसी भी अन्य की सहायता से बन्धन-मुक्त होने में मैं बहुत लज्जा अनुभव कर रहा हूँ। मुझमें पौरुष होता तो मैं स्वयं बन्धन-मुक्त हो जाता। पौरुष के बिना राज्य शासन कैसे चलेगा ? इतनी आयु होने पर भी मैं पिता के उपार्जित धन का उपभोग करता हूँ, मुझे धिक्कार है !

जब बहुत समझाने पर भी अवीक्षित राज्य लेने पर राजी न हुए तब राजा करन्धम और अवीक्षित दोनों मरुत्त को राज्य सौंपकर वन को चले गये।

मरुत्त बड़ा प्रतापी राजा हुआ। वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था। उसने कई यज्ञ किये और देवराज तक को परास्त किया।

उसके पितामह राजा करधम और्व-आश्रम में रहकर तपस्या करते थे। वहाँ नागों ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। एक दिन मरुत्त की पितामही ने एक तपस्वी द्वारा उसके पास यह सन्देश भेजा—तुम्हारे पितामह और पूर्वजों के समय से अनोखा अत्याचार तुम्हारे शासन काल में हो रहा है ! जान पड़ता है कि तुम्हें अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रह गया है। तुम विषय-वासना के वशीभूत होकर इंद्रियों के क्षणिक सुख में ऐसे लिप्त हो गये हो कि प्रजा के सुख-दुख का तुम्हें पता ही नहीं है। पाताल से आकर नागों ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा है। वे जलाशयों में मल-मूत्र त्यागकर उन्हें भ्रष्ट कर देते हैं, यज्ञ में अस्थि आदि डालकर उसे अशुद्ध कर देते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने सात ऋषि कुमारों को मार भी डाला है। ऋषि-गण उन्हें दण्ड देने में समर्थ हैं पर ऐसा होने से राजा के गौरव को क्षति पहुँचती है। तुम सावधान हो।

सम्राट् मरुत्त शाप से काँप उठा। उन्होंने धनुष उठाया और शीघ्र और्व-आश्रम में जाकर माता ऋषिकुमारों को मरा हुआ देखा। राजा

ने नागों के पास संदेशा भेजा कि मैं तुमको ऐसा दण्ड दूंगा कि तुम्हारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी को याद रहेगा।

मरुत्त ने सम्वर्तक अस्त्र से नागों का संहार करना प्रारम्भ किया। नाग लोग बहुत भयभीत हुए। वे मरुत्त की माता मालिनी की शरण में गये, जो तपस्वी अवीक्षित के साथ वन में रहती थी। मालिनी ने अवीक्षित से नागों की रक्षा के लिए कहा। सब समाचार सुनकर अवीक्षित ने कहा—नागों का अत्याचार असह्य है। मरुत्त का क्रोध सहज में शांत नहीं होगा।

अब नाग लोग अवीक्षित की शरण में पहुँचे और शरणागत होकर प्राण-रक्षा के लिए बारबार विनय करने लगे। अवीक्षित ने मालिनी से कहा—कल्याणी, तुम्हारे और नागों के अनुरोध से मैं मरुत्त के पास जाता हूँ। क्षत्रिय के लिए यह शोभा की बात नहीं है कि वह शरणार्थी को विमुख लौटने दे।

अवीक्षित ने मरुत्त के पास जाकर कहा—पुत्र! क्रोध के वशीभूत न हो और इन नागों का अपराध क्षमा करो। मरुत्त ने पिता को प्रणाम करके कहा—आप मुझे मेरे कर्तव्य से च्युत न करें। इन नागों ने असह्य अपराध किया है। इन्होंने मेरे शासनकाल में सात निरपराध ऋषिकुमारों को मार डाला है। इन्होंने कितने ही जलाशय नष्ट कर डाले, यज्ञ विध्वंस किये और मेरी प्रजा को कष्ट पहुँचाया है। इसीसे मैं उनके वध के लिए उद्यत हुआ हूँ।

अवीक्षित ने कहा—यह सच है कि इन्होंने गुरुतर अपराध किया है पर ये काफी दंड पा चुके, अब इन्हें क्षमा करो। मरुत्त ने कहा—राज्य का शासन मेरे हाथ में सौंपते समय पितामह ने और आपने भी मुझे आज्ञा दिया था कि मैं यथाशक्ति राजधर्म का पालन सावधानी के साथ करूँ। यदि मैं इन अपराधियों को दण्ड नहीं देता हूँ, तो मेरा धर्म नष्ट होता है और मैं नरक का अधिकारी बनता हूँ। अतएव मेरा निवेदन है कि आप मुझे धर्म-पालन से विरत न करें।

अवीक्षित ने तीसरी बार कहा—इन नागों ने मेरी शरण ली है। शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है, तुम मुझ पर दया करो और अब अस्त्र चलाना बन्द करो।

मरुत्त ने कहा—दुष्टों का दमन करना और शिष्टों का पालन करना राजा का धर्म है। जब तक मैं राजा हूँ, तब तक मैं राज-धर्म का पालन दृढ़तापूर्वक करूँगा।

इस पर क्रुद्ध होकर, शरणागत की रक्षा के लिए, अवीक्षित ने कालास्त्र उठा कर कहा—मैंने कई बार कहा, पर तुमने मेरी उपेक्षा ही की। तुम्हीं अस्त्र चलाना नहीं जानते, मैं भी जानता हूँ। तुम पिता का कहना नहीं मानते, तुमको लज्जा आनी चाहिए।

मरुत्त ने कहा—मैंने संवर्तक अस्त्र दुष्टों और अत्याचारियों का वध करने के लिए उठाया है, आपके लिए नहीं। मैं आपका पुत्र हूँ, आज तक मैं आपही की आज्ञा का पालन करता आ रहा हूँ। आपने आज्ञा दी थी कि प्रजा का पुत्रवत् पालन करना। फिर आप मेरे साथ अन्याय क्यों कर रहे हैं?

अवीक्षित ने कहा—मैं भी शरणागत की रक्षा करके अपना कर्त्तव्य पालन करूँगा। या तो तुम अस्त्र से मुझे मारकर इन नागों का संहार करो, या मैं तुम्हें मारकर इनकी रक्षा करूँ। कर्तव्य-पालन का लक्ष्य दोनों तरफ है।

इस पर मरुत्त ने दृढ़तापूर्वक कहा—जब तक मैं राजा हूँ, तब तक प्रजापालन मेरा कर्तव्य है। प्रजापालन में राजा को गुरु, पिता, मित्र, बन्धु बान्धव कोई भी हो, जो विघ्न उपस्थित करे, उसका वध करना चाहिए। आप मुझे राज्य-च्युत करके राज्य-शासन अपने हाथ में ले लीजिए, तब मैं पुत्र की हैसियत से आपकी हर एक आज्ञा का पालन करूँगा, अन्यथा नहीं।

दोनों अस्त्र लेकर मरने-मारने को तैयार हो गये। ऋषि मुनियों को खबर लगी, वे दौड़ कर आये। उन्होंने मरुत्त से कहा—पिता पर अस्त्र चलाना धर्म नहीं।

मरुत्त ने कहा—दुष्टों का दमन करना और शिष्टों का पालन करना मेरा धर्म है। मैं धर्म नहीं छोड़ूँगा।

ऋषि-मुनि अवीक्षित के पास पहुँचे और उससे बोले—तुम्हारा यह पुत्र भारत के राजवंश का रत्न है, इस पर तुम अस्त्र न उठाओ।

अवीक्षित ने कहा—शरणागत की रक्षा क्षत्रिय का धर्म है। मैं धर्म नहीं छोड़ूँगा।

इस पर ऋषियों ने कहा—अगर नाग लोग ऋषि-कुमारों को जीवित कर दें, तो तुम दोनों का धर्म रह जायगा।

उसी समय अवीक्षित की माता वीरा वहाँ आ उपस्थित हुई। उसने कहा—मेरे ही उलाहने से मरुत्त नागों के नाश के लिए उद्यत हुआ है। यदि नाग लोग ऋषि-कुमारों को जीवित कर दें तो शरणागत नागों की रक्षा हो सकती है।

नागों ने दिव्य ओषधियों के प्रयोग से ऋषि कुमारों को जीवित कर दिया।

मरुत्त पिता के चरणों पर गिर पड़ा और हाथ जोड़ कर बोला—पिताजी! मेरा अपराध क्षमा कीजिएगा। मैंने आपकी ही आज्ञा का पालन किया था।

पिता ने पुत्र को छाती से लगा कर अनिर्वचनीय सुख अनुभव किया और उसे आशीर्वाद देकर अपने आश्रम को प्रस्थान किया।

ऋषि-मुनि पिता-पुत्र का यह सम्मिलन देख कर आनंदित हुए और दोनों को आशीर्वाद देकर अपने-अपने आश्रम को चले गये।

सम्राट् मरुत्त ने बड़ी आयु तक न्यायपूर्वक प्रजा का पालन किया और धार्मिक जीवन व्यतीत किया। मरुत्त के सात रानियाँ और अठारह पुत्र थे। पाँच रानियों के नाम ये हैं

१—विदर्भराज की कन्या प्रभावती,
२—सुवीर की कन्या सौवीरा,
३—कैकय की कन्या सैरिन्ध्री,
४—सिन्धु की कन्या वसुमती,
५—चेदि की कन्या सुशोभना।

जिनको यह कथा विस्तारपूर्वक जाननी हो, वे मार्कण्डेय पुराण से इसे प्राप्त कर सकते हैं। भागवत में भी इसका उल्लेख है।

क्रय-विक्रय का आदर्श

[दयाशंकर दुबे]

"देखो मोहन, यह वृद्ध आदमी जो धीरे धीरे टहलता हुआ जा रहा है, जानते हो, कौन है? ये सेठ रामधन हैं। अब इनकी अवस्था सत्तर वर्ष से ऊपर है। लेकिन जब ये चौदह वर्ष के थे, तो मंगलपुर से धानपुर भाग आये थे। कहते हैं, उस समय इनके पास फूटी कौड़ी भी न थी। साथ में केवल एक लोटा डोर था। ओढ़ने और बिछाने तक के लिए इनके पास कपड़े न थे।

मोहन ने आश्चर्य्य से कहा—अच्छा!

चाचा—और आज ये हमारे नगर के गौरव हैं।

मोहन—किन्तु यह तो केवल आर्थिक दृष्टि से उन्नति करने की बात हुई।

चाचा—पर आर्थिक दृष्टि से उन्नति करना कोई मामूली बात नहीं है। जो व्यक्ति अपनी ईमानदारी, मेहनत और असाधारण प्रतिभा की बदौलत इतनी उन्नति कर सकता है, अवश्य ही वह हमारी प्रशंसा का पात्र है।

मोहन—अच्छा तो चलाइए। मैं अब बीच में नहीं बोलूँगा।

चाचा—सबसे पहले इन्होंने एक हलवाई की दूकान पर मिठाई आदि बर्तन मलने का काम किया। कुछ दिनों के बाद इन्हें हलवाई की दूकान छोड़कर एक नये दूकानदार के यहाँ नौकरी मिल गई। उनको १०) मासिक वेतन मिलने लगा।

यह दूकान किसी एक चीज की नहीं बल्कि बहुतरी चीजों की थी। एक शब्द में कहूँ, तो कहना होगा कि उसके दूकानदार जनरल मर्चेण्ट थे।

किन्तु रामधन का अवलंब था यह जीवन ऐसा था जिसे हम अपने पैरों खड़ा होने योग्य बनने का पहला कदम कह सकते हैं। इस दशा में रामधन ने केवल तीन वर्ष नौकरी की। अब उसके पास लगभग दो सौ रुपये हो गये थे। रात दिन वह यह सोचा करता था कि क्या कभी कोई ऐसा दिन भी होगा, जब इसी तरह की एक दूकान उसकी भी होगी। काम करते करते वह इसी तरह के स्वप्न देखा करता।

रामधन सेवा के काम में बड़ा निपुण था। दूकान पर उसके सुपुर्द जो कुछ काम था, उसे तो वह पूरा करता ही था। साथ ही दूकानदार लाला जगतनारायण के घर पर अक्सर चला जाता और जगतबाबू के घर के अन्दर जाकर गृहस्थी सम्बन्धी आवश्यक सामान भी ले जाता। इसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे वह लालाजी के परिवार का एक विश्वासपात्र नौकर हो गया।

इसी तरह दो साल और बीत गये। अब रामधन को वेतन में १२) मिलते थे। ७) महीने की बचत वह अब उससे बराबर कर ही रहा था। इस तरह कुल मिलाकर अब उसके पास लगभग पाँच सौ रुपये हो गये थे, जो सेविंग बैंक में उसी के नाम से जमा थे।

उन्हीं दिनों जगतबाबू का एक मकान बन रहा था और उस मकान में उनका सारा रुपया लग चुका था। जाड़े के दिन थे, माल करीब करीब चुक गया था और नया माल मँगाने के लिए अब उनके पास और रुपये नहीं रह गये थे। रात बिस्तर में बैठे-बैठे वे इतने उदास थे कि चिन्ता भाव उनकी मुद्रा ने स्पष्ट झलकता था। दूकान बढ़ाकर जब वे घर चलने लगे, तो जगतबाबू ने कहा—कुछ रुपये की जरूरत आ पड़ी है। दूकान में माल इस वक्त कम है कि अगर एक हजार रुपये का और इन्तजाम न हुआ, तो दूकान उठा देनी पड़ेगी। उसके बाद क्या होगा, यही सोचता हूँ। चाहूँ तो मकान के आधार पर कर्ज मिल सकता है। पर यह बात है कितनी बेइज्जती की कि मकान पूरा बन भी न पाये और उसे गिरवी रखने की नौबत आ जाय! घर में जेवर मुश्किल से दो हजार का होगा। बीबी से उसे उतरवाता हूँ तो भी घर की शांति भंग होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता, रामधन। ऐसा जान पड़ता है, यह मकान मुझे खा जायगा!

रामधन से अब और सहन न हुआ। झट से वह बोल उठा—आपकी पूरी सेवा के लायक तो मैं अभी नहीं हुआ, लेकिन पाँच सौ रुपये तो जमा कर ही लिये हैं। आप चाहें तो कल ही निकाल लूँ।

जगतबाबू इस बात को सुनकर उछल पड़े। बोले—अच्छी बात है! रुपये तुम कल उठा लो। रह गये पाँच सौ सो इतने का प्रबन्ध मैं किसी तरह कर लूँगा।

दूसरे दिन रामधन ने ५००) निकालकर जगतबाबू के हाथ पर रख दिये। उधर जगतबाबू ने पाँच सौ रुपये बैंक से कर्ज ले लिये। इस तरह उस समय की उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो गई।

धीरे धीरे साल का अखीर आया और हानि लाभ का चिट्ठा बनने लगा। वर्ष के अन्त में जब खाता नया बनाया गया और बही का पूजन हो गया तो जगतबाबू ने रामधन से कहा—इस साल जितना लाभ हुआ उतना कभी नहीं हुआ था। सो इस साल की जो आमदनी हुई है उसमें तुम्हारे एक आने हिस्से की रकम दो सौ के लग भग होती है। पाँच सौ तुम्हारी जो पूँजी है, वह इसमें शामिल है। कुल मिलाकर ७००) होते हैं। ये रुपये या तो तुम मुझसे कल ले लो, या दूकान के हिस्से के रूप में जमा रक्खो।

उस दिन से रामधन जगतबाबू की दूकान पर एक आने का हिस्सेदार हो गया। लेकिन रामधन की उन्नति का यह इतिहास तो अभी

प्रारम्भ का ही ह। जगतबाबू एक दिन इस असार ससार को छोडकर चल्ते बने। और तब रह गये उनके वे बच्चे, जो अभी पढ ही रहे थ। कुछ आवारा दोस्ता ने उनके कान भर दिये। और उनका फल यह हुआ कि रामधन को उसका हिस्सा देकर उन्होंने उसे दूकान से अलग कर दिया।

तब रामधन ने अलग दूकान कर ली। उसके बाद उसकी दूकानदारी जो बराबर उन्नति करती गई, उसका भी एक रहस्य था।

मोहन—वह क्या ?

चाचा—बात यह ह कि उसने कभी भी अपने ग्राहकों को ठगने का प्रयत्न नही किया। ईमानदारी से काम करना ही उसकी सफलता की कुजी थी। कभी-कभी वस्तुओ के दाम अनापशनाप बढ जाया करते ह। दूकानदारो को यह मौका रहता ह कि व चाहें तो समय के अनुसार कुछ अधिक रुपया लाभ रूप में पदा कर लें, और चाह अपनी दूकान की साख और भी अधिक बैठा लें।

मोहन—लेकिन जब वस्तुओं का दाम बढ़ गया हो, तब उन बढी हुई कीमता पर माल न बचना भी कोई बुद्धिमानी तो ह नही।

चाचा—बात यह ह कि वस्तुओ का मूल्य बढ जाने पर भी जो दूकानदार उनका अधिक मूल्य नही बढाता थोडा ही लाभ लेकर सन्तोष कर लेता ह, उसके ग्राहको की सख्या अधिक बढ जाती है। और दूकानदारी का यह एक नियम-सा ह कि जो ग्राहक एक बार जम जाते हैं, व बिना विशष कारण के जल्दी नही उखडते। रामधन न एसा ही किया। एक तो उसने अन्य दुकानदारो की अपेक्षा वस्तुओ का मूल्य अधिक नहीं बढाया, दूसरे बढी हुई क़ीमतों स होनेवाले लाभ की रकम का विशेष कोष के रूप में जमा रक्खा। उसकी दूकान इस बात के लिए भी प्रसिद्ध थी कि एक तो उसमें माल विशुद्ध और नया मिलता था दूसरे भाव-ताव करने की आवश्यकता नही पडती थी, सब वस्तुओ का दाम निश्चित था। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह बच्चा ही हो, चला जाय दामो में कोई अन्तर न होगा। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद जब वस्तुओ का मूल्य बराबर घटने लगा, तब उसके अन्य साथी व्यवसायी तो घाटे में आकर समाप्त हो गये, किन्तु रामधन के व्यवसाय पर उसका कोई विशेष प्रभाव नही पडा।

मोहन—अच्छा, ठीक है। किन्तु यह प्रयोग उसे सूझा किस तरह ?

चाचा—बात यह ह कि रामधन अब इतना समर्थ हो गया था कि अर्थशास्त्र की बारीक बातो के मर्म को समझ सकता था। उसका अध्ययन बराबर जारी था। एक बार उसने किसी अर्थशास्त्री से वार्तालाप में क्रय विक्रय के आदर्श के सम्बन्ध में बहुतरी बातें जान ली थी। अवसर आने पर उसने उनका प्रयोग किया और उसे सफलता मिली। और इसी तरह से रामधन उन्नति करते करते आज दिन ऐसी ऊँची हैसियत को पहुँच गये ह।

मोहन—तो क्रय विक्रय का आदर्श आप यही मानते हैं न कि लाभ थोडा लिया जाय, ताकि विक्रय का परिमाण बढता रह ? वस्तुओं का मूल्य बढ जाने पर लाभ के एक अंश को विशेष कोष के रूप में सचित रक्खा जाय, जो उस समय काम आये, जब वस्तुओ का मूल्य घट रहा हो। वस्तुयें विशुद्ध और नई दी जायें और सबके लिए दाम एक हो।

चाचा—हाँ बस, सार रूप में तो यही ह।

चाचा भतीज ये बातें करते हुए जिस समय घूमकर लौट रह थे उसी समय रामधन भी उधर से आ निकले।

मोहन सोचने लगा—मनुष्य गुदड़ी का हीरा है। कौन जानता था कि एक अनाथ बालक एक दिन इतना बडा आदमी बन जायगा।

मेरी प्यारी किताब

[काका कालेलकर]

कोई भी शख्स सदा के लिये किसी अेक किताब को अपनी प्यारी किताब ठहरा सके, यह म मानता ही नही, और जिसके भाग्य म अनेक भाषाओं की आजादी आगअी हो, वह तो कभी न कह सकेगा कि यही अेक मेरी प्यारी किताब ह ।

'रिव्यू आफ रिव्यूज' के पहले सपादक स्टेड साहब ने अेक बार अिंगलण्ड के बडे-बडे लोगो से यह सवाल किया कि आपके जीवन पर किस किताब ने अधिक से अधिक असर डाला ह ? साथ ही अुस चतुर सम्पादक ने अेक शर्त भी रख दी, कि अपना अुत्तर अेक कार्ड पर ही लिख भेजिअगा । अगर कुदरत ने शुरू से ही यह नियम बना रक्खा होता कि हर लेखक को अपनी राम कहानी लिखते हुअे जो आनन्द प्राप्त होता है वही आनन्द अुतने ही अंश में, उसके पढनेवालों को भी प्राप्त होना रहे, तब तो वसी चतुराअी की जरूरत न होती, मगर लेखको और पाठको की दुनिया तो अलग-अलग है । और सपादकों को तो दोनो ही का ख्याल रखना लाजिमी ह । तभी तो स्टेड साहब की सी कडियाँ और जर्जीर अुन्हें पहननी पडती हैं ।

अब म जो जवाब देने बठा हूँ तो मुझे अिन बातों का ख्याल रखना ही चाहिअ । अगर सच-मच कह दूँ, तो कुदरत ही मेरी प्यारी से प्यारी पुस्तक ह । क्या ही अद्भुत किताब ! अुसे खोलने दर नहीं लगती, अुसे पढते कोअी दिक्कत नहीं होती । अुसके प्रकरण हम अपनी मरजी के मुताबिक छोटे-बडे बना सकते ह । अुम्र भर, दिन रात पढते चले जाओ, कभी कहीं बजारगी की बू तक अपनेको छू नहीं जाती । कुदरत की मूक वक्तृता की बराबरी अबतक कोई भी मानव भाषा नहीं कर सकी है ।

मगर अफसोस ! कुदरत प्रश्नकर्ता की दृष्टि से 'किताब ही नहीं ह ? वह तो मामूली किताब की बात पूछ रहा है मानो जो कागज पर लिखी या छापी जाती ह, 'किताब' के नाम म पुकारी और पहचानी जाती ह, और जिसका अक्षरो के द्वारा वाचकों से बोलचाल भी कर सकती है । वह तो सवाल करे असी किताब के बारे में, और म लग जाअूँ अपने प्यारे 'सृष्टि-शास्त्र' का वर्णन करने, तो वह बिलकुल भी मुनासिब न होगा । तो फिर जिन मानों को लेकर मुझसे सवाल किया गया ह, में भी अुन्हीं मानो को लेकर जवाब दे दूँ तो बेहतर । तो मैं यह कहूँगा कि भगवद्गीता ने जिन आद्य-ग्रथों से प्रेरणा पाअी और जो आद्य-ग्रंथ आजतक भी पुराने नही होने पाये हैं, वे अुपनिषद ही मेरी प्रिय से प्रिय किताब ह ।

अुपनिषदकारो ने अपने विचार जाहिर करते हुअे यह नही सोचा कि वे कच्चे हैं या पक्के, जसे स्फुरित हुअे वसा ही ताजा का ताजा उन्हे लिख दिया, अितना देखने की भी दम न लिया कि उनके वचन आपस में मेल खाते ह या नहीं ।

अुपनिषद वाले ऋषियों को अपने हृदयों पर विश्वास था—और वह अिस दरजे तक कि अुन्होंने लिखा है "हृदय ही मन ह, हृदय ही बुद्धि है हृदय ही आत्मा है, जो सत्य को जानना चाहते हो, तो वह भी हृदय ही के द्वारा ही समझो है, तुम जिस धर्मशास्त्र कहते हो सो भी तो महर्षियों के अंतःकरणो से निकली हुअी चीज ह ।' असे अिन आत्मविश्वासी और आस्तिक विचार वीरों के लेख मेरे हृदय को जो सन्तोष देते हैं वह कुछ अनोखा ही होता ह ।

मगर अब जो आप मुझसे पूछें कि "छोड़ो अिन पुराने ग्रंथो की बात ! यह तो बताओ आज-कल के लाखों में से किसकी किताब मुझे सबसे प्यारी है ?' तो मैं मजबूरन यही जवाब दूंगा कि "मेरी अपनी !" असा न करना मेरे वाचको और प्रकाशको पर अन्याय करना है

समान होगा। म वही लिखूगा जो मुझको भा जाय ? और जो मुझको खास तौर पर भा जाय, म अुसीके छापने या पढ़ने की तकलीफ लोगा को दूंगा ? मन यह कभी नही माना कि मेरा लेख और सबो म बढ़ चढकर हैं, पर अितना जरूर ह कि जो विचार, अनुभव और कल्पनायें मुझको विशेष आकषक मालूम हुअी, प्रिय लगी और वणनीय दीखी, मन अुन्हीको लिखा ह। लिहाजा, जिन वाचको की खातिर मैं यह जवाब लिख रहा हूँ, अुनके साथ अिमाफ करने के लिअ भी म यही कहूँगा कि अपनी ही किताबें प्रिय मानन पर म बिल्कुल मजबूर हूँ।

और जबतक उपनिषदा का पूरी तरह सन्तोषकारक अनुवाद म बना था कर न पाऊँ, तबतक मेरा यह जवाब अुनके लिअे तो एक बंद मुट्ठी ही के समान होगा कि जो अपनी मातृ भाषा के सिवा और कोअी जबान जानते ही नहीं। लिहाजा अिसका विस्तार भी करना फिजूल होगा।

'कुदरत' को अगर सकुचित अथ में न समझा जाय तो अुस किताब का वणन करते हुअ म आज तक थका ही नही। अिसकी वजह यह ह कि जब मनुष्य-समाज या साहित्य मेरे हृदय की ख्वाहिशें पूरी नहीं कर सकता, तब म कुदरत के पास दौड जाता हूँ—और वहां स कभी खाली हाथ नही लौटता।

सच्ची बात तो यह है कि कुदरत को म कभी जड न मान सका—अब वाचकगण इस मेरी प्रतिभा समझें या मेरा पागलपन। कुदरत मुझे बुलाती है मुझसे बातें करती ह, मुझ लाड करती है मुझ सिखलाती है। जब कभी मैं निराश होता हूँ, मुझको दिलासा देती है। और सबस बढ़कर तो यह कि मेरी उम्र का बोझा मुझसे छीन लेकर मुझको सनातन बाल्य बना देती ह।

कोअी अैसा न समझे कि मै मनुष्य-बस्ती से बेजार हुआ हूँ, यह न मान ल कि दरख्त और पत्ते फल और फूल, पशु और पक्षी, नदियाँ और सरोवर समुद्र और आकाश, तितलियाँ और जहाजा के चमकते चिट्ट पाल, बादल और चचल मन-तरगें—बस इतनी ही चीजा को मैं 'कुदरत' में शुमार करता हूँ। नहीं! गाँव-वासियो की अपने हाथो बाँधी हुअी झोपडिया और कलारसिको के शौक से बनाये हुअे प्रासाद, सतो का आय जीवन, और जीवनानन्द की प्राप्ति के लिए किय विलासियो के निष्फल प्रयत्न सबको म तो कुदरत की दृष्टि ही से निहारता हूँ। मेरी निगाह अिन सबको यथाथ रूप में ही देखती ह।

अभी चन्द रोज ही हुअे कि राष्ट्रभाषा प्रचार और वर्धा-योजना के सिलसिले में मुझको गुजरात में घूमने घामने का मौका मिला था। कभी रेलगाडी और कभी मोटरा में फिरता रहा कभी गाडी पर सवार, तो कभी किश्तिया पर। हर जगह बस कुदरत का आनन्द ही म देखता रहा। और खास करके अब की बार खेता के बीच और रास्ता की कोरनुमा बाडा पर मेरी निगाह पडी और ठहर गअी—और म अुनपर मुग्ध हो रहा। अब जबतक म यह बाड काव्य न लिख पाऊँगा, तबतक मुझको चैन न होगी। यह काव्य तो कब लिखूगा भगवान जाने! मगर अिस मौके को गनीमत समझकर वाचको से अक विनती जरूर कर लूगा कि आप पदल सफर करत हा या तेज-वाहना में दौडे चले जाते हो, अनेक अूँची-नीची सँकड़ी चौडी बाडा पर ध्यान जरूर दीजिअेगा अुनकी खूबियाँ पहचानने के लिअ। यदि आपके पास नजर न हो, तो कस्नुरी मुझसे माँग लीजिअ—मगर अिन बाडा के प्रकरण शुरू से अखीर तक पढ़ जरूर जाअिअे। आपको अिसस बहुत-कुछ जानने और सोचने का ममाला मिल जायगा। अिन बाड़ों में रहनेवाले—बाडवासी—साँप और चूहे परिन्दे और उनके बच्चे मकडियाँ और चींटियाँ—अिन सबों की दुनिया को अेक बार जो आप समझ गये, तो आप प्यार किय बिना न रहेंगे और आप कहेंगे—अहो! यह तो काई नअी ही यात्रा हमें नसीब हुआ ह! और गोता पायगा तो

दुनिया तो पड़ी है
के चक्कर में,
अरे, तू ?
हाँ मैं !
क्या कर रहा है
बैठा की तरह ?
उठ कमर कस कर
जल्दी ।

मालूम होता है इस स्थल पर सरस्वती देवी का काम पूरा हो गया और अपने राम की भँड़ास भी जाती रही। लेकिन अब एक और समस्या पैदा हो गई! भला इस कविता को समझेगा कौन? इसमें तो कई शब्दों की जगह भी छोड़ दी गई है। तुर्रा यह कि न तुक, न लय।

कहते हैं कि बॉस्वैल न होता तो शायद जॉनसन को कोई जानता भी नहीं। लेकिन अपना बास्वैल तो कोई दिखाई नहीं देता, जिससे हम कह दें कि "मन तुरा हाजी बगोयम तू मरा काजी बगो"। फिर बर्नार्ड शॉ का जो खयाल आया तो तबियत को जरा तसल्ली हुई। शॉ अपने नाटक की भूमिका में (जो नाटक से जरा कुछ बड़ी होती है) अपना इरादा साफ जाहिर कर देता है जिससे पढ़नेवाले ऊटपटाँग न समझ बैठें। तो फिर अपने राम भी इस कविता की भूमिका या टीका खुद ही क्यों न लिख मारें? इसमें किसी दूसरे का एहसान भी न होगा और अपना मतलब भी बन जायगा।

पहला सवाल यह हुआ कि कविता का नाम क्या रक्खें? बहुत सोच विचार के बाद 'लात' नाम पर आकर गाड़ी रुकी। इस कविता का मक़सद है लोगों को सचेत करना। और 'लात' से बढ़कर ज्यादा कारगर तरीका इस ज़माने के लोगों को जगाने का अभी तक दूसरा ईजाद नहीं हुआ है। लात नाम तो हिंसात्मक मालूम होता है पर भाव इसमें अहिंसा का है। यह इस तरह—एक बार भृगुजी को तीनों देवों की परीक्षा लेने की सूझी तो पहले वे पहुँचे ब्रह्माजी के पास और जमाई उनके एक 'लात'। ब्रह्माजी उनके शिष्टाचार के बारे में कुछ ज्ञान रखनेवाले थे कि भृगुजी वहाँ से खिसक आये। फिर शिवजी पर भी यही हथियार (इसे 'पैरियार' कहना ठीक होगा, क्योंकि लात पैर से लगाई जाती है) आजमाया। शिवजी की भ्रूभंगी से जाहिर हुआ कि वे कोई शाप न दे दें, इसलिए मुनि जी वहाँ से भी भागे। अब आये विष्णु भगवान के पास, जो क्षीर सागर में शेष-शय्या पर शयन कर रहे थे। भृगुजी ने उनकी छाती पर कस कर लात का जो प्रयोग किया तो विष्णु भगवान् चौंके, लेकिन फ़ौरन ही सम्हलकर मुस्कराये और भृगुजी के पैर को सहलाते हुए बोले—"मेरी छाती तो कठोर है, आपके पैर में चोट तो नहीं आई?" बस भृगुजी ने अपना फ़र्स्ट प्राइज़ फौरन विष्णु भगवान को दे डाला। कहते हैं उस लात का निशान आज तक विष्णु भगवान् के वक्षस्थल पर मौजूद है। हो या न हो, अपने राम ने तो सोचा कि जिस तरह भृगुजी की लात ने तीनों देवों का भेद जाहिर कर दिया उसी तरह शायद अपने राम की "लात" भी मनुष्यों का भेद स्पष्ट कर दे। यानी इसको पढ़कर जिसके दिल में हिंसा की वृत्ति पैदा हो वह थर्ड क्लास आदमी और जो हमारी कलम (क्योंकि यह "लात" उसीसे प्रकट हुई है) चूमने को दौड़ा आवे वह सच्चा अहिंसक—फ़र्स्ट क्लास आदमी। तो यह कविता एक कसौटी है जो बतला देगी कि पढ़नेवाला मन-वचन-काय से अहिंसक है या नहीं।

अब इसकी टीका को लीजिए। कहा है—'दुनिया तो पड़ी है के चक्कर में।' किसके चक्कर में भला? यहाँ जरा खाली जगह की व्यापकता पर गौर कीजिए। मान लीजिए कोई कहे—ज़माने के मुताबिक़—कि दुनिया तो पड़ी है 'हिटलर के चक्कर में', तो देखिए 'हिटलर' यहाँ कैसी आसानी से आ बैठा, मानो मकाम वाकिया ही हो। हिटलर के हवाई जहाज़ वगैरा में इंजन के पहिये वगैरा सब गोल—यानी चक्कर उसकी बातों में चक्कर और यह गु

भी घनचक्कर। 'रोटी का राग' वाले कहें, हमें हिटलर विटलर से कोई सरोकार नहीं, तो ठीक है, आप समझ लीजिए 'दुनिया तो पडी ह रोटी के चक्कर में'। अपनी कविता तो कामधनु ह, हिटलर न सही, रोटी ही सही। और तारीफ यह कि रोटी भी गोल, यानी चक्करदार! लकिन कुछ लोगों का खयाल है कि आजकल जो कुछ हो रहा है वह सब रुपये का चक्कर ह। बहुत अच्छा, 'दुनिया तो पडी है रुपये के चक्कर में'। रुपया भी तो आखिर गोल-गोल चक्कर की ही शक्ल का ह। और फिर रुपये का चक्कर भी कसा, कि कहीं रुकने का नाम ही नहीं!

एक और मजा देखिए। अगर छायावादियो की तरह कह उठ, 'दुनिया तो पडी ह अनन्त क चक्कर म, तो भी बिल्कुल ठीक। उर्दू शायरो को खुश करना हो तो 'जुल्फो का चक्कर' भी कह सकते हैं। देखा आपने इस 'चक्कर' शब्द का प्रताप और इसे कविता में उपयोग करने की सूझ! कवित्व प्रतिभा इस मौलिकता के सामने क्या झख मारगी? चक्कर क्या हुआ हज़रत मूसा का सोटा हुआ कि जो चाहो बन जाय। मगर उसे इस्तमाल भी तो हजरत मूसा ही कर सकते थे। दूसरे के हाथ में गया कि फिर वही मोटा का सोटा। मतलब यह कि खाली जगह जो छोडी गई, उसपर आप अपनी रुचि के मुताबिक लफ्ज बठा लीजिए और कविता का आनन्द उठाइए।

अब 'तू और 'म' पर ज़रा गौर कीजिए। 'तू' शब्द लठमार तो जरूर ह, लकिन कितना अपनापन झलकता ह इसम! राजा भोज को एक बार किसी अपराधी न 'तू' सम्बोधन किया तो वह नाराज हुआ, लेकिन जब उस अपराधी ने 'तू' शब्द की महिमा बताई तो राजा भोज न उस रिहाई के अलावा इनाम भी दे डाला। अगर आज कोई राजा भोज की तरह कविता समझनेवाला हो तो इस 'तू' के लिए अपने राम को मडल नहा तो कम-से-कम सार्टिफिकेट तो जरूर दे डाल। कवि धरापे के साथ पूछता ह "अरे तू?", तो कोई (समझनवाला) कह उठता है "हाँ, म। म यानी असली म, कोई दूसरा नहीं। एसा म नहीं जिसमें सारी दुनिया समाई हो, या जिस 'अन्य पुरुष' के जरिये व्यक्त किया जाता हो। जस, बजाय यह कहने क कि 'हम बड विद्वान ह, हमारी कोई कद्र नहीं करता', आजकल लोग कहते ह 'दुनिया में विद्वानो की कोई क़द्र ही नहीं'। तो हमारा 'म' बिल्कुल बलौस ह, यह समझ लना चाहिए। तो उसी 'म' स कवि पूछता है, कि "अरे तू, क्या कर रहा ह बठा की तरह?"

' की तरह'। किसकी तरह? यह व्याख्या बहुत गूढ है। इसके सम्बन्ध म और इस कविता की व्युत्पत्ति और 'वाद' और बतुकेपन क बार म फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

कला और कविता

[टाल्सटाय]

"जबतक म खुद अपनी जिन्दगी नहीं बिताता था, तबतक कविता और कला में जीवन की छाया या विचार पाकर मुझे खुशी होती थी, कला के आईने में जीवन के दर्शन करना अच्छा लगता था। लेकिन जब मने जीवन का तात्पर्य जानने की कोशिश की तब यह आईना मरे लिए अनावश्यक फालतू बहूदा और दुखदायी हो गया, इसलिए अब मुझ इसस शांति नहीं मिलती थी।

जब अपनी अन्तरात्मा की गहराई में म विश्वास करता था कि जीवन का कुछ अर्थ ह, तब दृश्य देखने में सुहावना लगता था—जीवन में प्रकाश के हास्यजनक, दुखान्त करुण, सुन्दर और भयंकर खेलो से मेरा मनोरंजन होता था। पर जब मैं जान गया कि जिन्दगी बमानी और भयंकर ह, तब आईने में प्रकाश के खेल मेरा दिल न बहला सकते थे।'

[सस्ता-साहित्य-मंडल से प्रकाशित होनेवाली 'मेरी मुक्ति की कहानी से']

पत्रकार से

[वियोगी हरि]

पत्रकारो ! नये नये समाचारों के तुम न केवल प्रचारक हो, बल्कि उत्पादक भी हो। तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क और अस्थिर लेखनी की सृजन शक्ति कमाल की है। प्रशांत वातावरण का तो तुम उपहास और घृणा की नजर से देखते हो, अतः उसमें सनसनी पैदा करने के लिए तुम सदा व्याकुल रहते हो।

लोगों पर तुमने कुछ अजब मोहिनी डाल रखी है। अखबारों के उपासक तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क की नई-नई कृतियों का दर्शन जबतक नहीं कर लेते, तबतक उन्हें अपना जीवन और जगत सूना और नीरस लगता है। अखबार वाहक का जरा-सी भी देर कभी हो गई तो उपासकों की व्याकुलता कुछ-कुछ वैसी ही देखने में आती है, जैसी धूम्र पान करने वालों की सबेरे-सबेरे बीड़ी सिगरेट न मिलने पर होती है। बड़े-बड़े शहरों में वे ब्राह्ममुहूर्त से ही पत्र उपासना करने बैठ जाते हैं। सबसे पहले वे तुम्हारे बड़े-बड़े शीर्षक सूत्रों का दर्शन करते हैं। देखते हैं—कहाँ लोग आपस में लड़ मरे, कहाँ आज भीषण दंगा हुआ, कहाँ रेलगाड़ियाँ लड़ी, कहाँ जहाज डूबा, कहाँ अग्नि-काण्ड हुआ, कहाँ कैसी उथल-पुथल हुई।

तुम खोज-खोजकर देते भी ऐसे ही अमंगल समाचार हो। तुम पत्रकारों की दृष्टि में अशुभ या अमंगल ही सृष्टि का आदि है, और अमंगल ही अन्त। बर्बर-युग में पुराने लोग ब्राह्ममुहूर्त में मंगल-उपासना करते थे। आज के लोग तुम्हारे प्यार प्रयास से अमंगल की आराधना करने लगे हैं। तुमने उनके इन्द्रिप्रिय मानस में यह गजब की क्रांति की है।

तुम चाहते हो कि जगत में सदा उथल-पुथल ही होती रहे, मंगली प्रतिदिन कोरनी ही रहे। स्थिरता या शान्ति का तुमने मृत्यु का नाम दे रखा है, और अस्थिरता या अशान्ति को जीवन का।

तुमने लोगों की बुद्धि को कुछ ऐसा खरीद लिया है कि उसपर दूसरा कोई रंग ही नहीं चढ़ता। अखबार की बात ही को वे 'ब्रह्म-वाक्य' मानते हैं। रात को मूसलधार वर्षा क्यों न हुई हो, पर दैनिक पत्र के प्रभात-संस्करण में वर्षा का उल्लेख न हो, तो गीला आँगन देखकर वे शायद यही कहेंगे कि हमारी आँखें ही हमें धोखा दे रही हैं!

अधिकांश को तुम अपने कौशल से इस भ्रम में डाले रहते हो कि तुम किसी खास उद्देश्य या आदर्श को लेकर अखबार निकालते हो। कम से कम तुम दावा तो कुछ ऐसा ही करते हो। तुम्हारे वास्तविक उद्देश्य का ठीक-ठीक पता कितने पढ़ने वालों को लगता है? विज्ञापन के मार्गदर्शक का ज्ञान थोड़े से ही पाठकों को होगा।

दुर्भाग्य से या तुम्हारे सौभाग्य से तुम्हारे अखबार की एक एक पंक्ति प्रामाण्य समझकर पढ़ी जाती है। परन्तु पढ़नेवालों की बेचारी बुद्धि तब कैसे निर्णय करे, जबकि एक कालम में तो ब्रह्मचर्य और संयम की स्तुति देखने में आती है, और वहीं ठीक उसके सामने कामोत्तेजक दवाइयों का अश्लील विज्ञापन छपा रहता है? जहाँ एक तरफ गुड़ की महिमा का गान गाते हैं, वहाँ दूसरी तरफ चीनी के विज्ञापन में गुड़ का बुरी तरह मजाक उड़ाया जाता है—सब बेचारे वाचक किसे त्यागें, और किसे ग्रहण करें? एक में तो दातुन का गुण गाया जाता है, और विज्ञापन में माजन की झाड़ू में दाँत बुहारने की सिफारिश की जाती है! एक जगह ग्रामीण चमारों की दुर्गति का उल्लेख रहता है, तो दूसरी जगह 'बाटा' के जूतों का विज्ञापन देखकर श्रद्धालु पाठकों की बुद्धि चक्कर में पड़ जाय, तो आश्चर्य ही क्या?

और चाय का तो तुम पत्रकारों ने वह आध्यात्मिक स्थान दे दिया है, जो ईरान के उमर खय्याम ने अंगूरी शराब को दिया था।

तुम्हारे अखबारों का उदर कितना बड़ा है! कैसे ही सड़े गले विज्ञापन हों, अन्याय के का

विचार किये बग़ैर अपने विशाल उदर को व भरते ही रहते हैं। सिनेमा का विज्ञापन तो उनका मुख्य आहार है। संस्कृति और चारित्र्य का विनाशक सिनेमा तुम्हारे अखबारों की नसों में रक्त संचार करता है, और अखबार सिनेमा को जीवन दान देते हैं। कई अखबारों को देखकर तो ऐसा लगता है कि उनका जन्म मानो चित्रपटों और गंदी दवाइयों के प्रचार के लिए ही हुआ है।

लोगों को तुम धड़ल्ले के साथ विनाश-पथ की ओर लिये जा रहे हो, पर तुमने उन्हें कुछ ऐसा सम्मोहित कर रक्खा है कि उन्हें इसका पता भी नहीं। वे तो समझते हैं कि तुम ज्ञान विज्ञान के प्रचारक और स्वर्गीय संदेशों के अपूर्व वाहक हो।

और जब तुम कोई नया पत्र निकालना चाहते हो, तब उसके उद्देशों का जो सब्ज़बाग़ दिखाते हो, वह देखते ही बनता है। तुम्हारे बहुत बड़े दावे होते हैं। तुम धरा धाम पर स्वर्ग का राज्य उतार देने का दावा करते हो। तुम मान लेते हो कि समाज में जैसे जीवन नहीं रहा, और तुम उसमें अपने पत्र द्वारा जीवन डाल दोगे। लोग तुम्हारी आकाश-वाटिका पर मोहित हो जाते हैं। और उनके मोह पर तुम खुश होते हो! इस विश्व प्रवंचना पर तुम्हें कभी आत्मग्लानि भी नहीं होती!!

तुम्हें हमेशा दूर की ही सूझती है, तुम्हारा ध्यान दूर दूर के देशों का ही होता है, तुम्हारा सब कुछ विराट-ही विराट होता है। पास की चीज़ तुम्हें नज़र ही नहीं आती। छोटी छोटी बातों पर तुम कभी ध्यान ही नहीं देते। कारण, चिंता तुम्हें समूचे राष्ट्र और विश्व के व्यापक कल्याण की है!

इसलिए तुम ओटावा पैक्ट या भारत और जापान के व्यापारिक समझौते की बारीकियों पर बहस करते नहीं थकते। पर इन छोटी छोटी बातों का तुम्हें शायद पता भी न हो कि तुम्हारे चूल्हे में जो लकड़ियाँ जलती हैं वे बाजार से क्या भाव आई हैं और भिंडी आजकल आलू के भाव से सस्ती है कि महँगी!

दूर दूर के शहरों की गलीज़ बस्तियों पर दुनिया का ध्यान खींचने के लिए तुम बढ़िया-से बढ़िया सम्पादकीय टिप्पणी लिखते हो, पर सम्पादकीय कमरे के सामने जो कचरे का ढेर लगा रहता है, और पिछवाड़े में जो डोमों की नरक-तुल्य बस्ती है, वहाँ तुम्हारी सूक्ष्म दृष्टि कभी जाती ही नहीं!

पत्रकारो! इतना तमाम विष फैलाये बग़ैर क्या किसी दूसरे साधन से तुम उपार्जन नहीं कर सकते? तुम अपना और अपने पत्रों का अस्तित्व कायम रखने के लिए जगत में विष-बीज बोते कभी थकते भी नहीं? क़ौम-क़ौम के बीच, राष्ट्र राष्ट्र के बीच तुम द्वेष और विग्रह नगण्य स्वार्थ की खातिर खड़े कर देते हो—उपार्जन का यह तरीक़ा तुम्हें आखिर क्यों प्रिय है?

गली-कूचों या नालियों में लोग गन्दगी देखते हैं, तो म्युनिसिपलिटियों से शिकायत करते हैं, पर तुम जो रोज़ रोज़ लोगों के दिलों और दिमाग़ों में गंदगी फैला रहे हो, इसकी शिकायत लोग किसके आगे ले जायें?

तुम भले ही अखबार निकालो पर इसके पहले क्या तुम्हारे जीवित अनुभव और मूक साधना ने तुम्हें इतना ज्यादा व्याकुल कर दिया है कि तुम्हारे विचारों का लाभ उठाये बग़ैर दुनिया का काम चल ही नहीं सकता?

जिन जगहों में तुम्हारे अखबार नहीं जाते, वहाँ क्या घोर अँधेरा छाया रहता है? वहाँ दूर दुनिया की बातों से लोग भले ही बेखबर रहें, पर वे अपने नजदीकवालों को तो भली भाँति पहचानते हैं। वे अपने पड़ोसियों को ठीक-ठीक पहचानते हैं, क्योंकि उनकी आँखों पर तुम्हारा अखबार भ्रम का पर्दा नहीं डालता। उनकी आँखें उनकी 'अपनी' होती हैं, 'अखबारी' नहीं।

इसलिए कहता हूँ कि ज़रा एक बार प्रयोग करके देख तो लो—दस साल के लिए अपने तमाम अखबारों को विश्राम दे दो, फिर देखो तुम्हारे अखबारी ज्ञान की छाया न पड़ने से जगत् के कल्याण का स्रोत और खुलता है या रुक जाता है?

इंग्लिस्तान और भारत का आपसी सम्पर्क

२

[श्रीप्रकाश]

वर्तमान शिक्षा प्रणाली

इंगलण्ड की भारत को दूसरी देन हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य की जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है और इस भाषा के प्रचार से हमारे देश की एकता स्थापित होने में जो लाभ हुआ है, उसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ। परन्तु भाषा का प्रचार एक बात है और शिक्षा प्रणाली दूसरी ही बात है। हमारे देश में जो शिक्षा प्रणाली इंगलण्ड ने कायम की, उसका एक उद्देश्य तो यह अवश्य था ही कि भारतीयों से अंग्रेजों को भारत के शासन के संचालन में सहायता मिले। यह मैं पीछे कह आया हूँ। साथ ही साथ उनके मन में यह भी हो सकता था—मेकाले ने यह कहा भी है—कि पश्चिमी सभ्यता का सम्पर्क जब अंग्रेजी-साहित्य द्वारा इस प्राचीन जाति से होगा तो वह अपनी हानिकर रूढ़ियों में से बाहर निकल कर सभ्य जातियों की पंक्ति में बैठने योग्य हो जायगी। आरम्भ में अंग्रेजों ने हमारी परम्परा नहीं समझी थी, और न यही जाना था कि हमारी भी बड़ी भारी सभ्यता रही है।

राजा का प्रभाव प्रजा पर बहुत पड़ता ही है। यह शिक्षा केवल थोड़े ही लोगों तक मर्यादित नहीं रही, जो राजा की नौकरी का पेशा उठा सकते थे। यह शिक्षा फैलने लगी और साधारणतः प्राणीमात्र शिक्षा किसी पेशे में योग्यता प्राप्त करने के लिये ही लेते हैं। इस कारण सरकारी नौकरी के लिए बहुत लोग इच्छुक होने लगे और ऐसी जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्विता पैदा हो गई कि हमारा सारा आर्थिक संघटन ही अस्त व्यस्त हो गया। सब लोग अपने पर कामों को छोड़-छोड़कर उन्हें हेय और अपमानजनक भी मान कर उनका तिरस्कार करके सरकारी नौकरी के पीछे दौड़े। सरकारी नौकरी का महत्त्व और गौरव भी बहुत बढ़ गया। हमारा सब गैरसरकारी काम खराब हो गया। सरकारी नौकरी के अतिरिक्त सरकार से सम्बन्ध और सम्पर्क रखनेवाला पेशा वकालत का रहा। इसमें भी लोगों की भरमार हो गई। ये दोनों ही पेशे गैरसरकारी काम के उन्नत होने पर ही निर्भर होते हैं, क्योंकि ये पेशे सम्पत्ति पैदा नहीं करते, सम्पत्ति का व्यय मात्र करते हैं। प्राकृतिक साधनों के सदुपयोग से ही सम्पत्ति पैदा होती है। सच्ची सम्पत्ति कृषि, खान, बिजली, हवा, पानी आदि में ही रहती है। नई शिक्षा के कारण उनका ह्रास होने लगा। उसकी तरफ से लोगों का मन हट गया। पुराने जमाने में शिक्षित से विद्वान भी कृषि आदि का अपना पुश्तैनी काम नहीं छोड़ते थे और विद्या को विद्या के ही लिए उपार्जन करते थे। उसे बेचकर पैसा पैदा करने की आकांक्षा नहीं रखते थे। उदर-पालन के लिए उनकी जीविका दूसरी ही रहती थी। पर इस शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि प्राकृतिक कार्यों से लोग हट गये और दूसरा काम करने लगे। इसमें पैसा भी अधिक मिलने लगा जिससे उसका आकर्षण बढ़ा। अंग्रेजी शिक्षित लोग नये पेशों में भरने लगे। इस प्रकार से हमारी बहुत बड़ी हानि यह हुई कि हमारे देश का सब रोजगार चला गया। हम दूसरों के मुहताज हो गये। हमारा धन चला गया। हमारा आर्थिक ह्रास हो गया। हम धनी होने के बदले दरिद्र हो गये।

जातियों का पार्थक्य

इंगलैंड और भारत के सम्पर्क का एक और बड़ा दुष्परिणाम हुआ है। हमारे देश में पुराने आक्रमणकारियों की तरह अंग्रेज हमारे बीच में नहीं बसे। वे अपने को सदा अलग रखते रहे। पहले जितनी जातियाँ हमारे यहाँ आईं वे

हमारे बीच में बस गइ। व हमसे मिलकर एक हो गई। परस्पर का प्रभाव पड़ा। एक यदि दूसरे से कुछ बुरी बातें सीख जाता था, तो कुछ अच्छी बातें भी सीख जाता था। अंग्रेजो को केवल हमने विजेता के ही रूप में देखा, अर्थात उन्हें हमने अधिकार के स्थानो पर ही दूर से देखा। उन्हें अपने बीच में साधारण नरनारियो की तरह नही देखा, जिससे कि हम उनके व्यक्तिगत गुणो को अपना सकें। जिस प्रकार से वे नागरिक कर्तव्यो और अधिकारो का पालन करते ह, नियंत्रण का जीवन बसर करते है घर के भीतर और घर के बाहर निश्चित नियमो के अनुसार ही रहते ह, बच्चो के लालन पालन का विशेष ध्यान रखते ह, समय को व्यर्थ नहीं बिताते, तत्तीव्र से काम करते हैं,—यह सब हम उनसे नही सीख सके। यह सब तो घनिष्ठ पारस्परिक सम्पर्क से ही सीखा जा सकता है। हमने उनकी अकड देखी, उनकी शान देखी। थोडे में, हमने उनका रुद्ररूप ही देखा पर उनका मानुषिक आचरण और प्रतिदिन का साधारण जीवन नही देखा। उनके सम्बन्ध में हमारे मन में भय या घृणा का ही भाव रहा प्रेम और सहानुभूति का भाव नही आ सका।

उन्होंने भी हमें साधारणत एसे ही रूपो में देखा, जिसमें हम अपने जीवन का खराब पहलू ही उनके सामने उपस्थित कर सके। अदालतो में उन्होंने हमें मुजरिमो के रूप में अर्थात् चोर डाकू और नाना प्रकार के समाज विरोधी कार्यों में अभियुक्त के रूप में देखा। दफ्तरो में विनीत मातहतो या नौकरी के लिये दरख्वास्त देने वालो के रूप में देखा। अपने घरो पर खुशामदियो और सिफारिश करनेवालो के रूप में हमें देखा। एसी अवस्था में उन्होंने हमारा अच्छा रूप देखा ही नहीं। फिर हमारे लिए उनके मन में आदर और सम्मान हो ही कैसे सकता है? एक तो विजेता का विजित जातियो के सम्बन्ध में यो ही खराब ख्याल रहता है दूसरे जब वे उनमें से निकृष्ट लोगो को ही देखते ह तो उनकी धारणा और दृढ़ हो जाती ह। साधारणत सामाजिक क्षेत्र में भिन्न भिन्न गैर-सरकारी पेशो म, जीवन निर्वाह करते हुए एक दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेते हुए हमने एक-दूसरे को नही देखा। कुछ अंग्रेज पादरी जो अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने और सामाजिक सेवा के लिए हमारे बीच बसे उन्होंने भी हममें से प्रायः ऐसे ही लोगो को देखा जो हमारे देश के अतिशय दीन, दुखी और दरिद्र थे, जिनके कारण उनका रहन-सहन बहुत ही निकृष्ट था और जिनका विचार भी कुछ ऐसा था कि देश के सम्प्रदायो और धार्मिक आदर्शों को भी इन अंग्रेज पादरियो ने निकृष्ट रूप में ही देखा।

दुःखद परिणाम

यदि मुझे किसी बात का अधिक खेद है तो इसका कि इंग्लैंड और भारत के सम्पर्क में यह नही हो सका कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेज अगल-बगल बसें। मुझे संदेह नहीं है कि यदि ऐसा होता तो हमारे लिये अंग्रेजो के मन में बहुत कुछ सहानुभूति उत्पन्न हो सकती और हम भी उनके गुणो को सीखकर अपना मार्ग कर सकते, श्रेणी दर-श्रेणी हम परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते और दो सौ वर्षों के बाद भी जिस प्रकार से हम एक दूसरे के प्रति अजनबी हो रहे ह, ऐसी दशा न रहती। शायद ही कभी संसार के इतिहास में दो जातियो का इतना निकटस्थ सम्बन्ध होते हुए भी एक का दूसरे के जीवन पर इतना कम प्रभाव पड़ा हो, जितना कि इंग्लैंड और भारत के सम्पर्क से अंग्रेजो और हिन्दुस्तानियो पर पड़ा है।

हम पीछे कह आये ह कि वर्तमान कानून की प्रथा देश में प्रचलित करने का कुप्रभाव यह हुआ कि कई प्रकार से हमारा नैतिक अधःपतन हो गया। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कारण हम वकील दलाल मात्र रह गये। हमने अपना परम्परागत रोजगार खो दिया और नये रोजगारो को निकालने और बढ़ाने लायक भी नहीं रह गये, जिससे हमारा आर्थिक अधःपतन हो गया। अंग्रेजो और हिन्दुस्तानियो के एक दूसरे के पास न बसने

के कारण और एक दूसरे के सामाजिक जीवन में सम्बन्ध न रखने के कारण हम भारतीय अंग्रेजों का कोई गुण नहीं सीख सके और उनकी तरफ से सशंक ही बने रहे। जिस रूप में उन्होंने हमें देखा उनके मन में हमारे प्रति घृणा ही बनी रह गई।

एक और कुप्रभाव

एक और भीषण कुप्रभाव भी हमारे देश में इस सम्पर्क का हुआ। राजा का असर प्रजा पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। जो विजित जाति के धनी मानी होते हैं, वे स्वभावतः राजा के अनुरूप रहने लगते हैं। हमारे यहाँ की भी बड़े लोग इस प्रकार से रहने की चेष्टा करने लगे, जिस प्रकार से उनकी समझ में अंग्रेज रहते हैं। सामाजिक सम्बन्ध न रहने के कारण वास्तविक हाल तो वे जान नहीं सके, इस कारण ऊपर से ये नकल मात्र कर सके। यह क्रम बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी कर्मचारियों से आरम्भ हुआ। पहले तो बहुत थोड़े-से उच्च हिन्दुस्तानी सरकारी कर्मचारी होते थे। उनका भाव अर्धांश का ही था। वे अपने ही लोगों के बीच में रहते थे। पर कर्मचारियों की संख्या बढ़ने लगी और राजनीतिक दबाव के कारण अंग्रेजों और हिन्दुस्तानी कर्मचारियों का कुछ दूर-दूर परस्पर मेल भी होने लगा। इससे ये अंग्रेजी ढंग से रहने भी लगे, और उच्च हिन्दुस्तानी कर्मचारियों की अलग जाति-सी बन गई। उनकी देखादेखी उनके हिन्दुस्तानी मित्रगण भी उनकी नकल करने लगे।

इस प्रकार से अंग्रेजी जीवन के एक खराब अंग को हमारे उच्च श्रेणी के लोग अपनाने लगे जिससे उनकी बहुत-सी बुरी आदतें पड़ीं। उनका आना-जाना खर्च भी बेहद हो गया। अन्ततः गल्ला उगाने वाले ग्रामीणों पर ही पड़ता है क्योंकि मूल में उन्हीं के यहाँ से सब धन आता है। ये लोग अपना गाम धाम छोड़कर ऐसी जगहों में बसने भी लगे जहाँ अंग्रेजों की बस्ती है। इस तरह से उनका सम्पर्क अपने भाइयों से दिन प्रति दिन कम होता गया। यह भयावह स्थिति हमारे आधुनिक जीवन की विशेषता-सी हो रही है। हमारे देश में कुछ प्रतिष्ठित प्रभावशाली लोगों का एक अलग वर्ग बन गया है जिनका खान-पान, वस्त्र भूषा, रहन-सहन देखने में अंग्रेजों का सा मालूम होता है। उन्हें अपने देश के भाइयों के आचार विचारों से बहुत कम सहानुभूति होती है। ये अपने जीवन का साधन विदेशी प्रकारों में और यथासम्भव विदेशियों के बीच में खोजते हैं। ये देश पर एक अजीब भार रूप हो गये हैं। वास्तव में ऐसे लोगों को देश के भिन्न भिन्न अंगों का नेतृत्व लेना चाहिए, पर वे दूसरे की नकल में ही ऐसे लिप्त हैं कि वे उसके लिए बेकार हो गये हैं। वे अपने समाज से पृथक् हो गये और अंग्रेजी समाज में निकट रूप से भरती होने में असमर्थ बने रहे। ये लोग चाहे अपने मन में, अपने सम्बन्ध में कुछ भी विचार रखें, पर वे वास्तव में दया के पात्र हैं। उनके द्वारा पर्याप्त हानि भी भारतीय समाज को हो रही है।

गुण-दोषों की विवेचना

गुण दोषों की इस प्रकार से विवेचना करने पर यह कुछ ही रह जाता है कि दो विशाल जातियों, दो महती परम्पराओं, दो गौरवयुक्त सभ्यताओं का दो सौ वर्षों तक लगातार सम्पर्क रहते हुए भी परिणाम केवल इतना ही हुआ। आज जब संसार क्रान्ति के युग से गुजर रहा है जब यूरोपीय युद्ध ने पश्चिमी सभ्यता की कुरीतों दे रक्खी है, जब चारों तरफ से अस्तव्यस्तता की ही स्थिति दीख पड़ रही है, जब सब लोग बेचैन हो रहे हैं, जब कितने ही लोग अनुभव कर रहे हैं कि हमारा ही जीवन भयमय है, जब विश्व का भी आगे की गति ठीक प्रकार से नहीं दीख पड़ रही है, उस समय मुझ जैसे आदमी का जिसे अपने गुरु की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों के कारण अपने देश की पुरानी बातों का समझने और उनके सम्मान से रहने का और उनके अनुसार रहने की भावना जन्म से ही रहा है, और इस ही जिसका अंग्रेजों से भी काफी सम्पर्क रहा है

जिसे उनके साथ उठने, बठने, पढ़ने लिखने, रहने आदि का भी अवसर मिला ह और जिनके साहित्य और इतिहास को दखने और अध्ययन करने तथा उनकी प्रचलित सभ्यता से पर्याप्त सम्पर्क रखने का मौका मिला ह, उसके लिए आज की स्थिति वडी ही शोचनीय ह ।

मुझे तो इसका पूरा विश्वास ह कि यदि थोड़ी बुद्धिमानी से काम लिया जाता, यदि थोड़ी सहानुभूति रक्खी जाती तो इसमें कोई सन्देह नही कि इग्लैण्ड और भारत का सम्पर्क एक-दूसरे के लिए वास्तव में लाभदायक होता और हमारे देश की दासता की बेडी कभी की बेकार कट ही न गई होती पर वास्तव में पारस्परिक सहयोग के साथ स्वतन्त्र रहकर ये दोनो जातियाँ ससार में एक नया युग खड़ा कर सकतीं। विचारवान इतिहासकारो के लिए यह बड दुख का विषय रह जायगा कि इतना बड़ा सुअवसर और सुयोग दोनो ही जातियो ने जान-बूझकर खो दिया और यह सम्बन्ध परिणाम की दृष्टि से दोनो म किसी के लिए भी गौरव और सम्मान का नहीं हुआ ।

मेरी झिझक [1]

[जवाहरलाल नेहरू]

म यो अक्सर कुछ-न कुछ लिखा करता हूँ और लिखने में दिलचस्पी भी ह । फिर यह झिझक कभी ? कभी कभी गाधीजी पर भी लिखा है । लेकिन जितना मने सोचा यह मजमून मेरे काबू के बाहर निकला । हाँ, यह आसान था कि म कुछ ऊपरी बाते जो दुनिया जानती ह दोहराऊँ । लेकिन उससे फायदा क्या ? अक्सर उनकी बात मेरी समझ में नहा आइ, कुछ बातो म उनसे मतभेद भी हुआ । एक जमाने से उनका साथ रहा, उनकी निगरानी में काम किया, उनका छाया मेरे ऊपर पड़ा, मेरे खयाल बदले और रहन का ढग भी बदला । जिन्दगी ने एक करवट ली, दिल उड़ा, कुछ-कुछ ऊँचा हुआ, आखो में रोशनी आई, नये रास्ते देख और उन रास्तो पर लाखो और करोड़ों के साथ हमकदम होकर चला । क्या म ऐसे शख्स के निस्बत लिखूँ जो कि हिन्दुस्तान का और मेरा एक जुज हो गया और जिसने कि जमाने को अपना बनाया । हम जो इस जमाने में बढ़े और उसके असर में पले हम कसे उसका अदाजा करें ? हमारे रग और रगे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड ह ।

जहाँ जहाँ में हिन्दुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरप का कोइ मुल्क हो या चीन या मिस्र और मक्का पहला सवाल मुझसे यही हुआ— गाधी कसे ह ? अब क्या करते ह ? हर जगह गाधीजी की शोहरत पहुँची थी । गरो के लिए गाधी हिन्दुस्तान था और हिदुस्तान गांधी । हमारे देश की इज्जत बढ़ी, हसियत बढ़ी । दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊँचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ फिर से अँधेरे में रोशनी आई । जो सवाल लाखो के दिल में थे और उनको परेशान करते थ उनके जवाबो की कुछ झलक नजर आई । आज उसपर अमल न हो, तो कल होगा, परसो होगा । जवाब में और भी जवाब मिलेंगे अँधेरे में रोशनी पड़ेगी पर वह बुनियाद पक्की ह, उसीपर इमारत खड़ी होगी ।

आजकल की दुनिया में लड़ाइ का तूफान फैल रहा है और हरएक के लिए मुसीबत का सामना और इम्तिहान का वक्त ह । हम क्या करे यह हर हिन्दुस्तानी के सामने सवाल ह । वक्त इसका जवाब देगा । लेकिन जो भी कुछ हम करे उसकी बुनियाद उन उसूलो पर हो जिनको हमने इस जमाने में सीखा । बड़े कामों में हम पड़े पहाड़ों की ऊँची चोटियो की तरफ़ निगाह डाली और लम्बे कदम उठाकर हम बढ़े, लेकिन सफ़र दूर का ह । इसके लिए हमारा भी ऊँचा होना ह और छोटी बातो में पड़कर अपने देश को छोटा नहा करना ह ।

[1] 'गांधी अभिनन्दन ग्रंथ' से

प्रस्तुत प्रश्न

अभ्र कप

"आप इस शीर्षक से घबरायें नहीं। इस शब्द का अर्थ जानते हों तो लेखक को अज्ञ मान लें, न समझ में आया हो तो लेख का आनन्द लें। मेरी तो हजारों किताबों की पढ़ाई पर इस शब्द ने पानी फेर दिया।

इस शब्द के पीछे एक मजेदार किस्सा बन गया है। जयपुर रियासत में निवाई स्टेशन से पाँच मील पर एक छोटा-सा गाँव वनस्थली है। वहाँ का राजस्थान-बालिका विद्यालय मैं कुछ दिन हुए देखने गया। उसके संस्थापक श्री हीरालालजी (बी० ए०) शास्त्री और उनकी प्राणस्वरूप उनकी धर्मपत्नी श्री रतनजी शास्त्री वहाँ लड़कियों का 'पीर, बवर्ची, भिश्ती, खर' सब कुछ बना देना चाहते हैं। 'वीरबाला' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका वहाँ से निकलती है। अध्यापक, अध्यापिकायें, लड़कियाँ सभी उसमें लिखते हैं। नये अंक के लिए लेख छपने जा रहे थे, देखे जाने को शास्त्रीजी के पास आये। बन्दा भी पास ही बैठा था। लिखने-पढ़ने से कुछ मुहब्बत समझकर शास्त्री जी ने कुछ लेख पढ़ने को दिये, जिससे मुझे वहाँ के अध्यापक अध्यापिका मण्डल की विचारधारा का पता लग जाय और लड़कियों के दिमाग पर भी पढ़ाई का कितना-कैसा असर पड़ा है, यह देख सकूँ। आखिर तो आदमी के भीतर जो होता है, वही तो क़लम से बाहर निकलता है, बशर्ते कि उसमें छिपाव न हो।

उन लेखों में एक आठवें दर्जे की जगवती लड़की का था। इसमें इस शीर्षकवाला 'अभ्र कप' शब्द प्रसाद के साथ विशेषण के रूप में लगा हुआ था। प्रसंग से समझ में आया कि ऊँचे से मतलब है और अभ्र के मानी बादल, पर कप का कुछ अर्थ न बैठा। शास्त्री जी ने कहा, लड़की पास है तो उससे पूछवाइए यह शब्द उसने कहाँ से लिया? मालूम हुआ विद्यालय में गई है। वहाँ लड़की को तलाश करने से पहले 'हिन्दी शब्द सागर' में 'अभ्र कप' की तलाश हुई। कहाँ का मिलना था। सिद्धान्त-कौमुदी का सहारा लिया, 'कप' हिंसा अर्थ में मिला। समझ गया शायद 'कम्प' हो, वह गति अर्थ में मिला। फिर 'शब्द सागर' में 'कम्प' देखा। कई शास्त्री और कई बी० ए०, एम० ए० मिलकर भी इसकी संगति न बैठी। मन ही मन कुढ़ रहे थे कि इस शब्द ने हम लोगों की पोल ही खोल दी। फिर लड़की से पूछने की ठहरी कि उसके दिमाग में यह 'अभ्र कप' कहाँ से आया कि इतने में एक अध्यापक ने एक संग्रहीत पाठ्य पुस्तक सामने ला धरी। एक कविता में 'अभ्र कप' प्रासाद सहित सुशोभित था। पर इससे शब्द की दुरूहता तो दूर नहीं हुई। कविता का लेखक कौन है? श्री मैथिलीशरणजी गुप्त। और कोई होता तो दो चार जली-कटी कहकर दिल का गुबार निकाल लेते पर गुप्तजी की शान में कुछ कहा का जबान खुली नहीं। और और धंधों में लग गये। पर मेरा मन ऊहापोह में लगा ही रहा।

आखिर आज यह जो साध्य लिख डाले हैं क्या? खुद लिखें और खुदा समझे। गुप्तजी तो सरल, समझ में आनेवाली चीज लिखनेवाले माने जाते थे। गुप्तजी की भारत भारती बड़े चाव से पढ़ी थी। जयद्रथ वध पर लट्टू था, मन ही मन उसकी कड़ियाँ गुनगुनाया करता था। 'रंग में भंग' तो दो चार पढ़ा गया आता है। 'विरहिणी ब्रजांगना' और 'मेघनाद-वध' तक यह पहुँचा और फिर तो पोथियाँ पढ़ना ही छूट गया और कविता तो खास तौर से। कभी भूले भटके पत्रों में पढ़ ली, कुछ समझ में आई, कुछ नहीं। गुप्त जी का साकेत निकला तो बड़ी तारीफ़ उसकी गांधीजी ने भी सराहा। लक्ष्यपाल का नाम पर हिम्मत न पड़ी, गम ही जग कवि का मन उड़ान ऊँची लगा है पर पाव में पानी तक देखा है। या पुस्तकें छूने की सनक नहीं गई थी, कविता पुस्तकें भी पूरी न सका तो चार पन्ने तो

प्राय बहुतों ने पढे होंगे । पर समझ में ही कम आइ, इसलिए रुचिकर नहीं हुइ । अजब शब्दावली और अजब भाव । समझ में नहीं आता कि स्वर्गीय है कि नारकीय । मित्रों में चर्चा तो होती ही रहती है । उलहना मिलता तुम रहस्यवादी कवियों का दाद नहीं देते । कैसे दें दाद कोई, कुछ जान हो न ? कोरी बकवास का क्या बने ? चीज़ हो तो अपने आप दाद दिला दे । न डिगने का इरादा करके बैठे हो तो भी हँसा दे रुला दे, कवि की भाषा में—रोम रोम को सपुलक कर दे । पर मन की बहक से टकों के लिए मान सम्मानार्थ, सिद्धि और शराब के नशे में लिखी चीज़ कम हिला दे दिल को ? कुछ हो उसके पीछे साधना, त्याग, तपस्या तो ठहरे चीज़ महान में । हैं न कविता तुलसीदास की जो बाल-वृद्ध युवा, नर-नारी सबको भाती और सुहाती हैं । टीकाकारों ने टीका करके अपने को कृतकृत्य किया है, नहीं तो या भी जन-साधारण उसे समझने समझाने में कहाँ दिक्कत महसूस करते थे ?

कभी कभी मन कहता है अपन की अक्ल कुछ सुथरी हो गई है, इसलिए आज की कविता समझ में नहीं आती । पर दुनिया में अगर सबसे मुश्किल कोई बात है तो अपने को 'कमसमझ' समझने की है । जहाँ कहीं अपन मन को किसी का पाता हूँ तो फिर मन में उठती है—नहीं इन कवियों का ही कसूर है ये लिखते ही ऊलजलूल है ।

पिछले दिनों की बात है । एक मित्र के साथ एक साहित्य विद्यालय में गया । २५ ३० विद्यार्थी रहे होंगे । सब बडी उम्र के । कई चीजों की चर्चा होती रही । अन्त में एक भाई ने 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' की चर्चा छेड दी । मन बखेड से बचने के लिए साफ कबूल कर लिया कि ऐसी कविताओं के लिए मैं नालायक हूँ । पर बातचीत जो आगे बढ़ी तो पता चला कि बेचारे विद्यार्थी भी उनसे परेशानहाल हैं । वहाँ सम्मेलनवालों ने उनके सिर यह बला डाल दी । बातों-बातों में मैंने यहाँ कि मैं अपने पर दुराग्रही होने का इल्जाम नहीं आने देना चाहता । यदि आपके अध्यापक महोदय कुछ चुनी हुई कविताओं का भाव मुझे समझा सके तो मैं उसका रस लेने को तैयार हूँ । अध्यापकजी गम्भीर मुद्रा बनाये बैठे थे, मुस्करा दिये । क्या मालूम था मुझे कि दूसरे दिन सचमुच पढाने पहुँच जायगे । बोले, मैं आपको दो चार अच्छी कवितायें सुनाना चाहता हूँ मतलब था समझाना । पूछा यामा है ? मौजूद थी । पंत का संग्रह ? वह भी । दिनकर ? सामने ही रक्खे थे । कई कवितायें रसपूर्वक सुनाइ-समझाईं । एकाध मन को भाई भी । पर ज्यादा तो ऐसी थी कि समझकर आलोचक दृष्टि से पढ़ने पर बाद को खुद उन्हें फीकी लगी । अपनी जान में तो उन्होंने आसमान से बात करनेवाली चीजें चुनी थी । मैंने उन्हें कहा, भाई साहब अगर सचमुच इनमें कोई माकूलियत है, तो लेखकों को टीका के साथ ये चीजें जनता को देने की दया करनी होगी । वर्ना लोग अपनी बुद्धि पर तरस खाने लगेंगे या इन भाई-बहनों की । और आम रिवाज के अनुसार तो अपनी बुद्धि पर कौन तरस खाता है ?

[हम अपने एक जिन्दादिल मित्र के इस लेख के सर्वांश से तो सहमत नहीं हैं पर इसे छापने इस इरादे से हैं कि हमारे कवि मित्र जरा देखें कि लोग उन्हें कैसा देखते-समझते हैं ? किसी की निन्दा स्तुति से गरज नहीं है । जवाब में कोई कवि किसी नामी रहस्यपूर्ण कविता की टीका लिखकर भेजेंगे तो अवश्य छापी जा सकेगी ।

—सम्पादक]

भारतीय संस्कृति का खजाना

जी० मा० के लिए एक पौराणिक गाथा, जो कि इसी अंक में जा रही है, भेजते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं—

'हमारे पुराण ललित कथाओं के भाण्डार हैं । खेद की बात है कि एक तो संस्कृत भाषा में होने के कारण, दूसरे पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से अपनी अनमोल विभूतियों पर अश्रद्धा बढ़ जाने होने के कारण इस देश के शिक्षित कहे जानेवाले लोग भी उनमें मिलनेवाले लाभों से वंचित रह

जाते हैं। यदि कोई संस्था ऐसी खडी होती जो केवल पुराणों का हिन्दी-अनुवाद सस्ते दामों पर प्रकाशित करती, तो मेरा दृढ विश्वास है कि वह विदेशी नाटकों, उपन्यासों और जीवन-चरितों को हिन्दी में प्रकाशित करके जिस लोक-सेवा की कल्पना किये हुए है जनता का उससे कहीं अधिक सच्चा कल्याण वह आँखों के सामने होता हुआ देखती, क्योंकि पुराण हमारे हैं और उनमें हमारे उन पूर्वजों की यशोगाथाओं का संग्रह है, जिनसे हमारा रक्त-सम्बन्ध है। वे हमें स्वभावतः प्रिय हैं और उनका प्रभाव केवल हमारे मस्तिष्क ही पर नहीं, हृदय पर भी पडता है।

अधिकांश अंग्रेजी-दाँ लोग यह कहकर पुराणों का उपहास करते हैं कि उनमें मिथ्या बातों का बाहुल्य है जो असंभव और अलौकिक भी है। पर वे ही लोग 'अरेबियन नाइट्स' को पढ़कर आनन्द अनुभव करते हैं और पुराणों को उतने सम्मान का भी अधिकारी नहीं मानते। यदि वे मनोरंजन के लिए ही पुराणों को पढ़ते, तो भी उनको अलौकिक कथाओं के साथ ऐसी कथायें भी पढ़ने को मिलतीं, जो उनके जीवन के अन्धकारमय भाग में प्रकाश उत्पन्न करतीं और इतिहास की कसौटी पर भी खरी उतरतीं।

पाँच छः वर्ष पहले तक पुराणों के प्रति मेरी भी श्रद्धा कुछ ऐसी ही-वैसी थी। पर जब मैं रामचरितमानस की टीका लिख चुकने के बाद उसकी भूमिका लिखने की तैयारी में था, मैंने यह निश्चय किया कि लाओ, इसी समय अपने पूर्वजों के साहित्य का भी अधिक से अधिक जितना पढ़ सकूँ, पढ़ लूँ। इस निश्चय के अनुसार मैंने काव्यों के साथ अधिकांश पुराणों को भी पढ़ डाला। मुझे जो आनन्द मिला वह वर्णनातीत है। पुराण स्वयं अपने पाठकों की त्रुटियों को पहचानते हैं और उनकी शंकाओं का निर्मूलन करते चलते हैं। इससे उनके प्रति मेरे मन में जो थोड़ी-बहुत अश्रद्धा थी, वह तो निर्मूल हो ही गई, साथ ही उनमें मुझे इतिहास की इतनी सामग्री मिली कि जिसका समावेश किये बिना भारत का इतिहास कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। पुराण तो हमारे वह भाण्डार हैं, जिनमें छोटी-से-छोटी चीज से लेकर बड़ी-से बड़ी चीज तक एक स्थान पर जमा करके रख दी गई है। हम उनके एकमात्र अधिकारी हैं, पर हम उनकी उपेक्षा कर रहे। यह हमारा अभाग्य है।

पर जबतक उनके और हमारे बीच में भाषा का परदा है, तबतक न हम उन्हें देख पाते हैं, और न पहचान सकते हैं। इससे यह आवश्यक है कि कोई एक सहृदय धनी व्यक्ति, जैसे सेठ घनश्यामदास बिड़ला या मारवाड़ियों तथा गुजरातियों में से अन्य कोई सेठ, या हमारे राजा महाराजा, या कोई संस्था जैसे गीता प्रेस या सस्ता साहित्य मण्डल, केवल इसी एक काम में तत्पर होकर पुराणों को शब्दशः हिन्दी में अनूदित करा डालें और प्रकाशित करें। इसका परिणाम हिन्दू संस्कृति को पुष्ट करने में क्या होगा, यह देखने की बात होगी, हमारी वर्तमान भाषा पर तो इसका प्रभाव पड़ेगा ही। आज जो हमारे लेखक, कवि, कहानी और उपन्यासकार विदेशी लेखकों की कृतियों से 'प्लॉट' उड़ाया करते हैं, उनको अपने ही घर में 'प्लॉटों' का एक ऐसा खजाना मिल जायगा, जो विदेशी लेखकों में चकाचौंध उत्पन्न कर देगा।"

सहृदय पाठक देखें कि क्या हमारे साहित्यकारों को ऐसी गाथाओं की ओर, जो हमारी संस्कृति की अजर-अमर निधि हैं ध्यान और समय नहीं देना चाहिए। जो हमारे साहित्य का गौरव बढ़ायें? —सम्पादक

अश्लीलता क्या है?

श्री सुधीन्द्र का 'हिन्दी के कवि किधर?' और श्री मास्टर का 'स्वानुभूति और स्वाधीनता का रेचन?' पढ़कर मेरे हृदय में कुछ विचार उत्पन्न हुए, उन्हें प्रकट कर रहा हूँ।

संसार के साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि किसी भी नवीन प्रगति पर पुराने समालोचक, नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं और

उन नवीन लेखकों की भावहीनता, उच्छृंखलता और अश्लीलता पर कटाक्ष करते हैं। कीट्स की 'एंडीमियान' के बारे में भी ये ही भाव प्रकट किये गये थे। और अंग्रेजी की आधुनिक कविता 'Victorian hypocrisy' को फोड़कर निकली तब वे भी इस लांछन से अछूत न रहे। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी यही लाछन लगाया गया था।

अभीतक यह पता नहीं लग पाया है कि अश्लील क्या है? कुछ समय पहले जो रचनायें अश्लील मानी जाती थीं, वे आज अत्यन्त कलापूर्ण मानी जाने लगी हैं। 'नाना' "मादम बावरी' 'स्टडीज इन दी साइकालाजी आफ सक्स' को आज कोई भी अश्लील नहीं मानता। हाँ यह अवश्य माना जाता है कि अपरिपक्व मस्तिष्कों के लिए वे नहीं हैं। पर उन्हें जीवन से अलग कर देना बहुत अधिक हानिकारक होगा। 'उरोज' "अवसन' 'मधुराधर चुम्बन' आदि शब्दों को देखकर ही अश्लीलता की छाप उस कृति पर लगा देना कहाँ तक उचित है? अश्लीलता की अभी तक जो परिभाषायें हुई हैं उनमें से सबसे मान्य व उचित परिभाषा उस न्यायाधीश की है, जिसने जेम्स जोयेस की कृति "यूलसिस' को सुन्दर और कलापूर्ण बताते हुए कहा है कि अश्लील वह है जो कि निम्न कोटि के भावों को जाग्रत करे। निम्न कोटि के भावों के अन्तर्गत प्रेम और शारीरिक प्रेम की भावनायें नहीं आतीं, पर आते हैं Unnatural perverse sexual ideas (अस्वाभाविक अप्राकृतिक काम भाव)। इस दृष्टि से देखा जाय तो।

"पियें अभी मधुराधर चुम्बन,
गात-गात गूँथें आलिंगन
सुने अभी अभिलाषी अन्तर,
मृदुल उरोजों का मृदु कंपन।"

बहुत कलापूर्ण पंक्तियाँ हैं। भावातिरेक अत्यन्त सुन्दर है। वियोग में जब प्रेमी भावातिरेक में प्रिया से एक हो जाता है, और उसका वर्णन कवि करता है, तो वह सुन्दर एवं योग्य है—पर उसी भावातिरेक को संयोग के अन्तर्गत अश्लील क्यों कहा जाय? उनकी इच्छा है कि भावों का वर्णन हो, भावातिरेक का वर्णन हो पर अवयवों की कल्पना तथा वर्णन न हो। संयोग में अवयवों की कल्पना और उनका सामीप्य तो भावों को उत्पन्न करने व उन्हें चरम सीमा तक पहुँचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, उनके बिना भावातिरेक का वर्णन करना असंभव है। जो कवि इसे भूल जाता है वह अधूरा है—और समय उसे भूलने में समय न लगायेगा। उपर्युक्त कविता में "उरोज" के स्थान पर 'हृदय' रख दिया जाय तो पंक्ति इस प्रकार हो जावेगी—

"सुने अभी अभिलाषी अन्तर
मृदुल हृदय का मृदु कंपन।"

और 'अश्लीलता का दोष' भाग जायगा। भला किसी भी अंग का नाम लेने से क्या होता है? मैं तो सन्त आगस्ताइन के समान कहूँगा—'What God has not been ashamed to create I shall not be ashamed to name' (जिसको ईश्वर निर्माण करने में नहीं शरमाया उसका नाम लेने में मैं भी नहीं शरमाऊँगा) यह सिद्ध हो चुका है कि नग्नता अश्लीलता नहीं। अश्लीलता अस्वाभाविक अप्राकृतिक काम भावना को जाग्रत करनेवाली है। और इन दोनों लेखों के अन्तर्गत दिये हुए उदाहरणों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कि अस्वाभाविक अप्राकृतिक काम भावनाओं को जाग्रत करे।

इन्दौर] —राजेन्द्रकुमार

प्रकाशकों का कर्त्तव्य

'नी०-सा०' के प्रथमांक का 'हिन्दी के कवि किधर' और द्वितीयांक में प्रकाशित 'स्वानुभूति' और मनोवेगों का रेचन?' नामक लेख आज की काव्य धारा का दिशा प्रदर्शन हैं। पर सवेग पर क्या इस प्रकार की नुकीली व पैनी छुरियाँ इस प्रवृत्ति को समूल नष्ट करने में समर्थ होंगी?

कवि तो अपने 'मूड' में आकर कविता करता है भावावेश में उसे स्वयं ही पता नहीं रहता कि म

गया अनुभव कर रहा हूँ और फिर उस तो गोस्वामी तुलसीदास के

'निज कवित्त केहि लाग न नीका
सरस होय अथवा अति फीका'

के अनुसार अपनी कृति में अभूतपूर्व आनन्द मिला ही करेगा, दूसरों की दृष्टि में चाहे उसका कोई मूल्य हो या न हो।

कवि की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसकी कविता जनता के सामने आये, जिससे वह भी उसके रस में प्लावित हो कुछ 'सुख' का अनुभव करे। पर उसकी यह इच्छा पूर्ण करता कौन है? प्रकाशक ही न?

कवियों को यदि दोषी माना जाय तो प्रकाशकों को उनसे भी ज्यादा दोषी क्यों न समझा जाय? उन्होंने तो उनकी प्रशंसा की और निरन्तर उनका विज्ञापन किया। स्पष्ट शब्दों में कहें तो उन्होंने उस साहित्यकार को प्रोत्साहन तथा पुरस्कार दिया। और फिर आज भी इस शृंगार धारा को रोकना ही है, तो वह कविताओं के उदाहरण देने से नहीं रुक सकती। उदाहरणों से तो दिन दूना रात चौगुना प्रचार बढ़ेगा। उनसे अपरिचित भी परिचित होंगे और भी वह निकलेंगे। मेरी राय में प्रकाशकों के हाथ में ही इस धारा को रोकने की सच्ची कुंजी है।

ऐसी परिस्थिति में प्रकाशकों को सावधान होना चाहिए। यदि कवि अपने कर्तव्य को भूल गया है तो क्या प्रकाशक को भी इधर उधर भटक जाना चाहिए? यदि वह भटकता है तो बहुत बड़ी गलती करता है क्योंकि प्रकाशक कवि और पाठकों में मध्यस्थ है। उसकी भूल से पाठकों को कितना नुकसान होगा उसकी कोई सीमा है? इसलिए प्रकाशकों का कर्तव्य है कि वे अश्लील शृंगार के विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित न करें। इसके लिए उन्हें यदि, पाठकों के हित में, कवियों या लेखकों को नाराज भी करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। वे जो कुछ भी प्रकाशित करें उसकी योग्य अनुभवी व विद्वानों से जरूर सम्मति ले लें। यदि प्रकाशित पुस्तकें विद्वानों की दृष्टि से समाज जीवन के लिए हानिकारक और पतनकारी ठहरती हैं तो वे लौटा दी जायँ और उनको अपनी स्पष्ट राय दे दी जाय। हमारी समझ में इस सुझाव को कोई भी हितचिंतक अस्वीकार न करेगा। —प्र० पाण्डेय

कोकशास्त्र

दो देवियाँ आईं। कहने लगीं—'कोकशास्त्र दो।' मेरे मन में बिजली सी दौड़ गई। सहम गया मैं!

दोनों पंजाबिन थीं, अक्सर अच्छी पुस्तकें खरीदने आया करती थीं। उम्र में क्रमशः ३६ और २८ की होंगी। सुन्दर तो थीं ही। अपटुडेट—आधुनिक सभ्यता से लबरेज। मोटर में बैठकर आई थीं, इसलिये भले और पैसेवाले घर की मालूम होती थीं।

मैंने सोचा कैसे इन्हें 'कोकशास्त्र' दूँ? हृदय में न जाने कैसी गुमसुमी-सी छा गई। पर वे दोनों नहीं मानीं। आग्रहपूर्वक उन्होंने वे ही शब्द दुहराये—'कोकशास्त्र दीजिए।' एक जगह का कोकशास्त्र उठाकर मैंने उन्हें दे दिया। पर, उसमें वह चित्र न मिले। गंदे आसनों का वर्णन नहीं मिला। कहने लगीं—"गुप्त कोकशास्त्र चाहिए।" मैंने कहा—"गुप्त-उप्त मैं कुछ नहीं रखता। यही है।" पर वे ऐसे माननेवाली कब थीं? पीछे पड़ गईं—"आपके पास है। शर्म छुपाइए मत। डरिए मत"।

मन में जितना भी संकोच, शर्म और भिझक इस नाते था, वह सब मैंने दर्शाया। पर वे उनकी कायल न थीं। संकोच को सुनकर बरबस ही मेरी शर्म को उन्होंने छीन लिया। मुझे भी व्यापार करने से वास्ता था। ऐसी पुस्तकों में लाभ क्या कुछ कम होता है? मैंने जो गुप्त कोकशास्त्र था उसे बहाना बना-बनाकर निकालकर उनके आगे रख दिया। उन्होंने उसे खोला। एक-एक पन्ना गौर से देखने लगीं। सब सचित्र था। मग्न हुईं और मैंने देखा कि उनके मन पर से भाव कुछ बदल रहे हैं। गुर्रा रही न रह है।

मैं लज्जा के मारे गड़ा जा रहा था। ग्लानि मेरे हृदय में नाच रही थी। मन भीषण असमंजस में पड़ा हुआ था कि क्या यही जीवन है ?

मैं उनके चेहरे का नतमस्तक पर जिज्ञासा भाव से तिरछी निगाह से देखता जाता था और मुझे ऐसा लगा कि उस समय उन्होंने लाज सकोच को छोड़ दिया था। पर मुझ शर्म सता रही थी। दिल कह रहा था कि "यदि तुझ शर्म है तो तू आँख बंद कर ले या फिर इन देवियों के सामने से हट जा'—पर 'लोभ पाप का मूल है'। चाँदी ताँबे के टुकड़े किसे अच्छे नहीं लगते ?

उन्होंने मुझसे पूछा— 'ऐसी पुस्तकें और भी है ?" मैं दब सा गया। क्या उत्तर दूँ ? कुछ पसीने में भीगता सा भी जाता था। चाहा कि कह दूँ—"मेरे पास कुछ नहीं है।' पर फिर भी लोभ ही सवार निकला। और मैंने ऐसी वैसी गंदी से-गंदी और अत्यन्त उत्तेजक १०-२० पुस्तकें उनके आगे पटक दीं। प्रत्येक की तारीफ भी करने लगा। जो जितनी ज्यादा उत्तेजक होती, उसका विषय उतनी ही स्पष्टता से पर जरा दबे भाव से कुछ-कुछ समझाता। आखिर उन्होंने करीब २१ रु० की पुस्तकें लीं, जिनमें क़रीब १५ रु० मुझ फायदे के मिले होंगे।

ऊपर लिखी घटना से मुझ सदा एक बात का खयाल बना रहता है। काशी में होनेवाले पिछले 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के अवसर पर पुस्तक-व्यवसायी सम्मेलन में मैंने अपने ये विचार आंशिकरूप से जाहिर भी किये थे। क्या हिंदी के प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं का ध्यान इस ओर नहीं खेंचा जा सकता ? पुस्तक प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता की जिम्मेदारी मैं किसी भी एक समय लेखक और संपादक से कम नहीं समझता। उसे साहित्यिकों की श्रेणी में ही लेना चाहता हूँ। क्योंकि बिना साहित्यिक हुए, कोई भी समय प्रकाशक या पुस्तक विक्रेता अपने धंधे में सफलतापूर्वक कमाई नहीं कर सकता। और साहित्यिक का उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वह 'सत्य, शिव सुन्दरम्' के भाव को सदा लक्ष्य में रक्खे।

राष्ट्र की आत्मा प्रत्येक बाल बच्चे पर निर्भर है। हमारी मातायें, पुत्रियाँ और बहिनें जगद्धारिणी शक्तियाँ हैं। उनके यौवन को वे यों क्यों गवाँ दें ? उन्हें ठीक मार्ग निर्देश किया जाय ताकि वे भावी के युगनिर्माता निर्माण कर सकें। जब मैं देखता हूँ,—भले घर की औरतें इस प्रकार गंदी और जलालतभरी किताबों को पढ़कर अपनी यौवनश्री को लजाती हैं, अपनी संतान पर उसका क्या असर होगा, यह वे नहीं देखतीं, तो बड़ा रंज होता है। यह हमारा दूषण हमें ही खा जायगा। राष्ट्र की आत्मा में घुन लग जायगा और वह नष्ट हो जायगी।

पुस्तक प्रकाशकों और विक्रेताओं ने अपने पाप को नहीं समझा है। थोड़े-से चाँदी के टुकड़ों के लिए वे अपने हृदय को बेचकर खा जाना चाहते हैं। पर यह नहीं देखते कि उनका नौनिहाल बच्चा उन्हीं की दूकान में से चुरा चुराकर और आँखें बचाकर ऐसी गंदी पुस्तकें पढ़ता है और अपने जीवन को गंदे उपायों से इस योग्य बना लेता है कि वह कहीं का नहीं रहता। सोचिए तो सही, जिस बच्चे को आप ऊँची शिक्षा देकर, अपना हृदय समझकर राष्ट्र का जवाहर बनाने की सोच रहे हैं, वहाँ आपके १००-५० रु० के सालाना लोभ ने उसके जीवन को नष्ट कर दिया है ! मुझे तो तब विचार आता है कि जब एक पुस्तक विक्रेता किसी स्कूल के विद्यार्थी को ऐसी किताबें पढ़ने का चुपके-चुपके चस्का लगाता है। पर यदि उससे कहा जाय कि "तुम अपने ही बच्चे को यह किताब पढ़ने को तो दो', तो वह बुरी तरह आपको खाने को दौड़ेगा।

पुस्तक विक्रेताओं के लिए इससे बढ़कर कलंक का टीका और क्या हो सकता है ? सुबह ईश्वर भजन कर आनेवाले और चर्खा कातकर खादी पहननेवाले साहित्यिक पुस्तक विक्रेताओं और प्रकाशकों ने भी गंदे कोकशास्त्र और अश्लील किताबें बेचने में अपनी शान को नहीं

सहयोगियों में से

बेगम सीता !!

बिहार में डॉ० सयद महमूद के नाम पर एक 'महमूद सीरीज' निकलती है। उसकी भाषा अजीब खिचडी है। प्रकाशक ने किसी से कह दिया कि महमूद साहब ऐसी ही हिंदी चाहते है। उसकी एक किताब में श्रीरामचन्द्रजी की कहानी है। उसके सिलसिले में काका कालेलकर ने 'सबकी बोली' में एक मजेदार घटना लिखी है। वे लिखते है कि उस कहानी में—

'वशिष्ठ को बादशाह दशरथ के बच्चा का अुस्ताद बताया गया। दशरथ बादशाह के तीन बेगमें थी, अैसा भी बताया गया। लोग बिगड गये। कहने लगे अगर दशरथ बादशाह है तो राम भी बादशाह हुअ और सीता भी बेगम बन जायगी। हिन्दू धर्म पर कितना बड़ा सकट आ गया! सारे देश में हंगामा मच गया कि सीता राम की बेगम बनाअी गअी। हिंदू मात्र को अिससे सदमा पहुचे, यह स्वाभाविक ही था।

जहाँ कहीं भी नया प्रयोग किया जाता है भूलें हो ही जाती है। अगर अुत्तर भारत के हिंदू लोगो को यह महमूदी छाप की हिंदुस्तानी आम तौर पर पसन्द होती, तो सिर्फ अेक पाठ पर वे अितना अतराज जाहिर न करते। किन्तु अुन्हे तो हिंदुस्तानी की बला ही टालनी थी। अिसलिअे अुन्होने अपना सारा विरोध अेक सूत्र में लाने के लिअे 'बेगम सीता' का नारा लगाना पसद किया।

लोगों ने मान लिया कि बेगम सीता डॉ० महमूद की ही सुझाअी हुअी चीज है। अुनका विरोध होने लगा। अितना होकर भी क्या बिहार के मुसलमान डा० महमूद से खुश थे? अुन्होने तो हल्ला मचाया ही कि डॉ० महमूद आर्यसमाजी हो गये है। वे मुसलमानो को गोमूत्र का तिलक लगाना चाहते है। डॉ० महमूद ने सोचा कि दोनो तरफ़ से गालियाँ बरस रही है। कहाँ तक लोगों को समझाता फिरूँ कि आप जैसा कहते हैं वैसा गुनाह मैंने किया ही नहीं। वे तो अन्त तक चुप ही रहे।

अिधर प्रकाशक ने हल्ला मचाया कि हमारी किसी भी किताब में बेगम सीता का नाम निशान हो तो बताअिअे। आज तक हमारे यहाँ युक्त प्रात के प्रकाशको की ही किताबें चलती थीं। अब बिहार का बाजार हमारे हाथ में आ गया है अिसलिअे युक्त प्रात के प्रकाशक हमसे जल रहे है, अिसलिअे बेगम सीता की बात अुन्होंने चलायी है। हम चुनौती देते है कि हमारी किसी भी किताब में बेगम सीता का कोअी जिक्र बता दे। देखा तो सचमुच कहीं भी बेगम सीता न थी।

अिधर के लोग कहने लगे, अजी वह थी। लेकिन, हमने शोर मचाया तब बाजार की सब प्रतियाँ वापस खींचकर जला दी गअीं, और अब कहने लगे कि असा कुछ नही था।

अब हिंदू-संस्कृति और अिसलामी तमद्दुन की बात अेक ओर रही, और युक्त प्रान्त और बिहार के परस्पर आक्रमण का झगडा शुरू हुआ। पाठक यह न समझें कि हिंदू मुस्लिम संस्कृति का झगडा शान्त हुआ। नहीं, वह तो बिहार और युक्तप्रान्त से बाहर निकलकर पंजाब और महाराष्ट्र तक जा पहुँचा। जहाँ कोई राष्ट्रभाषा का प्रचार करता है या हिंदुस्तानी का नाम लेता है, अुसके सामने 'बेगम सीता' की तोप आज भी दागी जाती है।

अित्तफाक से डॉ० महमूद साहब से मिलना हुआ। हमने कहा—डाक्टर साहब, आपने यह क्या किया? हमारा सारा काम आपने चौपट कर दिया। क्या आपको यह पसन्द है कि सीता देवी को हम बेगम सीता कहें? उन्होंने कहा—'मैने ये सब बातें सुनी है। लेकिन अभी तक यह किताब पढ़ी नहीं है, जिसमें वशिष्ठ 'मौलाना' बनाये गये हैं और सीता 'बेगम'। अगर मेरे देखने में वह आता, तो मैं फ़ौरन अुस पर

देना। मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है कि वसिष्ठ को मौलाना कहा जाय या सीताजी को बेगम कहा जाय।' मेरे मुंह से निकला "काश! आप तुरन्त अपनी ओर से अैसा ही अेक स्टेटमेण्ट ज़ाहिर कर देते। आपने चुप्पी पकड ली और अिससे हिन्दुस्तानी की हमारी सारी हलचल को धक्का पहुँचा। अब भी अगर हो सके, तो आप अेक स्टेटमेण्ट निकालें। और अगर आपको सीता को बेगम कहना ही पसन्द है, तो वैसा भी साफ साफ कहें। किन्तु यह आपकी चुप्पी अच्छी नहीं है।" वे कहने लगे, 'मैंने तो तुरन्त महात्माजी को अेक खत लिखा था कि मुझे यह सब पसन्द नहीं है।'

"महात्माजी को लिखने से क्या हुआ? आपको अपनी सफाअी महात्माजी को थोडे ही देनी थी? जैसी कुछ भूल हो गअी, तुरन्त अुसको स्वीकार कर लेने से मामला बिगडने से बच जाता है।'

खैर, गुजरात में किसी सभा में मुझसे भी पूछा गया कि क्या आप भी सीता को 'बेगम' कहना पसन्द करते हैं? मैंने कहा, 'मैं सीता को कैसे 'बेगम' कह सकता हूँ। किन्तु कोअी मुसलमान सीता के नाम को बेगम कहे तो मैं बिगड नहीं बढूँगा। क्या हम पिछले सौ डेढ़सौ बरसों से अंग्रेजी रीडरों में रोज़ Queen Sita पढते नहीं चले आ रहे हैं?

बस, मैं भी अुसी गुनाह में शरीक किया गया, और मेरे खिलाफ भी होहल्ला शुरू हो गया।

अब हम अिस दंगा-युग में अेकता के लिअे कोशिश कर रहे हैं सब बहुत सँभलकर चलना होगा। थोडी भी भूल हुअी तो बरसों की मेहनत बरबाद हो जायगी।"

साहित्य और हिंदू-मुस्लिम एकता

इस युग में भारत के सामने हिंदू मुस्लिम-एकता का प्रश्न बहुत जटिल है। क्या कला और साहित्य इस प्रश्न को सुलझा सकते हैं?

× × ×

साहित्यकार अपने दूसरे बन्धु राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री धर्मगुरु और समाज-सुधारक से हमारे अधिक नजदीक है। ये लोग तो पार्थिव रूप में मंच पर आकर जनता के मन और मस्तिष्क को अपील करते हैं। उनका विरोध भी होता है, पर कलाकार विरोध की भावना से अपना प्रकाशन की चिंताओं से मुक्त, अपने अपार आत्मा के आनन्द में मग्न, वहां निविड़ अन्तराल में ज्योति के अमर और अमिट चित्र खचता रहता है। वे आत्मा के चित्र हैं। आत्मा एक है तब वे मानवता के नाते सारी सृष्टि के लिए एक सा संदेश देते हैं। आत्मा का संदेश सत्य, शिव और सुन्दर का संदेश है।

× × ×

कलाकार चाहे तो इस प्रश्न को सुलझा सकता है। उसे प्रॉपेगण्डा करने की जरूरत नहीं है। उसे कोलाहल में आकर अपना स्वर ऊँचा करके मानव-एकता के गीत गाने की भी जरूरत नहीं है। उसे तो केवल जीवन के लिए कला की सृष्टि करने की जरूरत है। 'सबजनहिताय' या 'सर्वजन हिताय' एक ही बात है।

× × ×

मानव काल, प्रकृति, सभ्यता इन सब के भेदों के ऊपर उठकर दो देशों के साहित्यकारों की रचना में समता रह सकती है। इन सारे भेदों के रहते हुए भी जो सन्देश या कलाकार का कथन है, वह बहुत कुछ समान है, क्योंकि मानव मूलतः एक है। भले ही मरने के बाद वह अलग अलग स्वर्ग में अलग अलग परमात्मा के पास जाय, परन्तु जबतक जीता है उसकी छाती में एक ही प्रकार का हृदय स्पंदन करता रहता है। उन्हें समान भूख प्यास लगती है, वे सब इन्द्रियों से समान काम लेते हैं। भाषा प्रश्न की जटिलता बाधक नहीं है जटिलता तो यह साम्प्रदायिकता है। ऐसे अनेक कवि, लेखक और कलाकार हुए हैं जिन्होंने मानव मानव के बीच में दिवार गाई सोचने का प्रयत्न किया है। वास्तव में जो कलाकार कहलाने के योग्य नहीं है। हमें उनकी उपेक्षा करनी होगी। उनसे घृणा न नहीं करनी।

उपेक्षा ता उस निर्जीव कलाकार के स्थान पर जीवन प्राणमय साहित्य उपस्थित करने पर ही हा सकती ह। यही पर ता साहित्य-मदिर म आलोचक की जरूरत होती ह।

भारत में हिंदू मुसल्मान दोनो रहते ह परन्तु मुसलमानो में एक विचित्र प्रवृत्ति ह। वह अपने को भारतीय कहते शर्माते ह, परन्तु भारत के हिंदू हिन्दू ह और मुसलमान मुसल्मान ह। वे भारतीय या हिन्दुस्तानी ह ही नहा। अचरज ता यह ह कि भारत का मुसलमान यह कभी भी मानने को तयार नहीं कि तथागत बुद्ध उसके पूवज थे, यद्यपि उसकी नसा में बुद्ध और बौद्धा का रक्त बह रहा है। जिस प्रकार ताजमहल पर प्रत्यक भारतीय को गव करने का हक ह उसी प्रकार प्रत्येक हिंदुस्तानी को चाहे वह हिन्दू हा या मुसलमान, गगा की पवित्रता पर भी गव करने का हक ह और उन्हें हक ह प्राचीन भारतीय दशन और ज्यातिप पर नाज करने का। मिश्र के मुसलमान मिश्र की प्राचीन सभ्यता और पिरामिडस पर गव करते ह। रजाशाह पहलवी ने ईरान का प्राचीन सस्कृति का मान करन के लिए बम्बई से पारसी महापुरोहित को आमन्त्रित किया था। महमूद गजनवी के अनुरोध करने पर फिरदौसी ने महाकाव्य 'शाहनामा' लिखा था जिसकी प्रसिद्ध कहानी इस्लामी जमाने म पहले की ह।

यह एक छोटी सी बात ह पर इसी के मूल में प्रश्न ह। विरोध की इस भावना का मिटाने क लिए ऐसा साहित्य पदा होना चाहिए जो भारतीया का बुद्ध, शकर, अशोक और अकबर पर एक सा अभिमान करना सिखावे। जो महान मस्जिदा की मीनारो और सौन्दय स पूण मदिरा के कलशों को एक ही दृष्टि स देखन को विवश करे। यह कहा जा चुका है कि हिन्दू मुसलमान के झगड़ हिंदू की मुसल्मान के प्रति घृणा के कारण नहा ह। यह ता मानव की बबरता का प्रदशन है। इस दूर करने के लिए अवनक की विषमता का भूल जाना होगा। मानव मानव के हाथ का छुआ न खाव, यह कल्पना भी चौका दनवाली ह। पर एसा होता ह और अभिमान के साथ होता ह। हम इस बबरता सहते रहगे? अचरज तो यह ह कि जब स हमे इतिहास मिला ह इन बाता का विरोध होता रहता ह पर य बात मिट न सकी। कारण यही था कि उन आदोलना के मूल में मानवमात्र की एकता की भावना नहीं थी। जा एकता थी, वह दूसरी एकता का विराध करने के लिए थी। इसी कारण बबरता की मूल प्रवृत्ति नष्ट न हुई।

× × ×

अब कलाविद चित्रकार, गायक कवि, गल्प कार और निबन्ध लेखक इन सब को अपना दायित्व समझना होगा कि व स्रष्टा ह और यह कि उनकी तूलिका में समस्त मानव जाति क जीवन मरण का रहस्य भरा है। चित्र, कविता गल्प, उपन्यास नाटक सब जीवन के चित्र ह। व जीवन का प्रदशन करत ह और जीवन की आलोचना करते ह। कलाकार इनकी रचना करने में स्वतन्त्र ह। प्रोत्साहन भी उस अन्दर स लना ह, परन्तु यह उन्हें लोक कल्याण की भावना स मुक्त नहीं कर सकता।

× × ×

कलाकार के अतिरिक्त सम्पादक, समालोचक और प्रकाशक का दायित्व भी कम नहीं है। कलाकार नेत्र मूदकर तूलिका चला सकता ह। वह दिव्य चक्षुधारी और स्रष्टा ह परन्तु यदि इन लोगो न भी आँखें मीच ली, ता यह अपना ही सत्यानाश नहीं करेंगे बल्कि अपने साथ जनता का भी ले डूबेंगे। कलाकार लोक के प्रोत्साहन को इन्हीं के द्वारा प्राप्त कर सकता ह।

समालोचक साहित्य मन्दिर का पुजारी ह। उस मन्दिर में उन्हीं कला कृतियो को सजाना होगा जो जीवन शक्ति को बढ़ा सकें। प्रकाशक और सम्पादक को साहित्य मन्दिर की इन कृतियो को जनसाधारण क लिए सुलभ बना दना होगा। जिससे वे परस्पर की विषमता का छोडकर एकता का माग ग्रहण करें। सम्पादक को ता

जीवन-समस्यायें

[जब मनुष्य जीवन पर—जीवन सुधार व उन्नति पर—विचार करने लगता है और जीवन की साधना में प्रवृत्त होता है तब कई समस्यायें ऐसी आ उपस्थित होती हैं, जिनका हल मिलने तक वह बडी दुविधा और पशोपेश में रहता है, आगे का मार्ग नहीं सूझता। ऐसी कुछ समस्यायें मेरे पास आई हैं और पाठक चाहते हैं कि उन्हें सुलझाया जाय। उन्हें सहायता पहुँचाने की दृष्टि से यह स्तम्भ खोला गया है। ह० उ०]

(१) एक मित्र पूछते हैं—"मनुष्य को अपनी शक्ति और समय खुद के विकास में लगाना चाहिए अथवा 'समाज' के विकास में? यदि केवल खुद के विकास में ही आदमी तल्लीन रहे तो फिर सामाजिक और राजनैतिक बुराइयाँ कैसे दूर होंगी? यदि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तरह के विकास में मनुष्य को प्रयत्न करने की जरूरत हो, तो उसमें कितना समय व्यक्तिगत विकास में और कितना सामाजिक विकास में लगाया जावे? इस विषय का आप 'जी० सा० में उत्तर देने की कृपा करें।"

असल में व्यक्ति व समाज एक दूसरे से भिन्न या पृथक् नहीं हैं। व्यक्ति का विकास समाज—बिन्दु से सिन्धु—और समाज का केन्द्र या घटक व्यक्ति—सिन्धु के बिन्दु—है। समाज व्यक्ति की परिधि व व्यक्ति समाज का केन्द्र है। अतएव दोनों के स्वार्थ या हित या विकास एक-दूसरे से जुदा नहीं हैं। विकसित समाज में व्यक्ति का विकास बहुत आसानी से हो सकता है। इसी तरह विकसित व्यक्तियों के समूह का ही नाम विकसित समाज है। ज्यों ज्यों व्यक्ति का विकास होगा, त्यों-त्यों वह समाज बनता जायगा—उसके स्वार्थ व हित अधिकाधिक सामाजिक होते जायँगे। जब व्यक्ति अपने सुख-दुख को और अपने कुटुम्बियों के सुख दुख को एक-सा समझने लगता है, तब वह व्यक्ति न रहा, कुटुम्ब बन गया। इसी तरह जब वह समाज के सुख-दुख में अपने सुख-दुख की एकता का अनुभव करने लगता है तब वह सामाजिक मनुष्य या समाज बन गया। अतएव मनुष्य चाहे व्यक्ति के विकास से शुरू करे चाहे समाज के विकास से, यदि अपने इरादे में सच्चा व उद्योग में पक्का है तो दोनों का परिणाम एक ही होगा। पहले यदि समाज या देश-सेवा में लग गया तो वह देख लेगा कि अपने व्यक्तिगत गुणों या व शक्तियों का विकास हुए बिना वह समाज तथा देश की अच्छी तरह सेवा नहीं कर सकता। इसी तरह यदि व्यक्तिगत स्वार्थ से शुरू करेगा तो भी देख लेगा कि वह अपने कुटुम्बियों, पड़ोसियों आदि के सुख स्वार्थ या विकास का उद्योग बिना नहीं सध सकता।

किसमें कितना समय लगाया जाय, यह व्यक्ति की अपनी परिस्थिति अर्थात देश, काल, पात्र के विचार पर अवलम्बित रहेगा। इसका कोई सामान्य नियम नहीं बनाया या बताया जा सकता।

(२) एक साथी ने अपने एक मित्र का पत्र भेजा है—"भाई इस साल मुझे काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। दो आदमियों ने मिलकर पिताजी पर लाठियों से हमला किया। वह सुबह तालाब पर कुल्ला कर रहे थे। उनके बदन पर करीब २०-२२ लाठियाँ लगीं, सिर पर २, बाकी हाथों और पैरों पर। मुकदमा चल रहा है। अब हम लोगों का इरादा बदला लेने का है। हम उन्हें बतला देंगे कि जैसे का फल कैसा होता है। साथी पूछते हैं— एक अहिंसक मना का रँगरूट होने के नाते मुझे क्या उत्तर देना चाहिए? नवयुवकों के नये खून में यह बात खास तौर से पाई जाती है कि वह अपने प्रिय पर अत्याचार होते देखकर अपने को काबू में नहीं रख सकता। पकी उम्र का कोई विचारवान

व्यक्ति उस स्थान पर हो तो शायद वह अपने आपको रोक भी सके। इस मानव स्वभाव को मद्देनजर रखकर आप इस प्रश्न का उत्तर दें।"

किसी पर भी अत्याचार हो तो प्रत्येक भले आदमी को वह असह्य होना चाहिए—चाहे वह हिंसावादी हो, या अहिंसावादी। प्रश्न-कर्ता अहिंसक सेना के रँगरूट हैं, इसलिए वे बदला लेने की तो सलाह दे ही नहीं सकते, भले ही उनके नवीन खून पर कितना ही जोर पड़े। जब एक बार सोच-समझकर हमने एक मार्ग पकड़ लिया, तो हमें ऐसी दुर्घटनाओं का रास्ता अपने सिद्धान्त और आदर्श के अनुकूल ही खोजना चाहिए। इसका मूल कारण ढूंढना चाहिए कि हमलाइयों ने ऐसा हमला क्यों किया? आक्रमित व्यक्ति क्या सचमुच ही कसूरवार है? फिर जब मुकद्दमा चल ही रहा है तो और बदला लेने की क्या जरूरत? मुकदमे में उन्हें उनके अपराध का दण्ड मिलेगा ही। बदला लेने से हमलाइयों को चोट भले ही पहुँचे आक्रमित व्यक्ति की चोट उससे कैसे अच्छी हो जायगी? यदि हम लाइयों को नसीहत देना हो, या उनका सुधार करना हो तो उसका सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि यदि आक्रमित व्यक्ति का कोई कुसूर पाया जाय तो पहले उसका परिमार्जन कराया जाय। इससे हमलाइयों को अपने कुकृत्य पर विचार करने और पछतावा होने का अवसर मिलेगा। यदि उन्होंने बेकुसूर पर ही यह वहशियाना हमला किया है तो उस गांववालों की सहानुभूति आक्रमित व्यक्ति की तरफ होनी और बढ़नी चाहिए। हमलाइयों के साथ गांव में तथा बिरादरी में लोग बिल्कुल असहयोग करें—इसका आन्दोलन व आयोजन होना चाहिए। इसमें हमारी भावना उन्हें दण्ड देने की नहीं बल्कि अपनी गलती या अत्याचार को महसूस कराने की होनी चाहिए। अहिंसात्मक मार्ग तो यही है। बदला लेने का उपाय कानून व अहिंसा दोनों की दृष्टि से विरुद्ध अतएव त्याज्य है।

(३) मैं राजस्थान के अहिंसक सेवकों की एक सूची तैयार कर रहा हूँ। उस सिलसिले में एक साथी कार्यकर्ता लिखते हैं—"सिर्फ आत्म-बल पर अपने जान माल की रक्षा कर सकनेवाला आज कोई व्यक्ति मुझे यहां नहीं दीखता। ज्यादा से ज्यादा २-४ आदमी अपना नाम मुझे लिखा भी दें तो वह कोई ठोस चीज नहीं होगी। सूची तैयार करके भिन्न भिन्न दलों में लोगों को बाँटने के बजाय सिर्फ कांग्रेस की नीति लोगों को समझाकर अधिक तादाद में उन्हें कांग्रेस के साथ रखना अधिक श्रेयस्कर होगा। सूची तैयार कराना हो तो कांग्रेस से ही इसका एलान कराना चाहिए।"

ऐसा मालूम होता है कि सारी स्थिति मित्र की समझ में अच्छी तरह नहीं आई है। नैतिक दबाव के अलावा किसी तरह का दबाव अहिंसा मार्ग में जायज नहीं है। अहिंसक सेवकों की सूची तो कांग्रेस की प्रतिस्पर्द्धा या कांग्रेस में फूट डालने के विचार से नहीं बनाई जा रही है। कांग्रेस आज एक हद से आगे अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए तैयार नहीं है। अतएव जो लोग आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें उसका अवसर मिले और वे कांग्रेस का और आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर सकें—इसके लिए यह प्रयास है। जो कांग्रेस की मर्यादा से आगे नहीं जा सकते उन्हें कांग्रेस की मर्यादा में ही चलना है। जो आगे जाना चाहते हैं, वे अहिंसा के मामले में कांग्रेस की मर्यादा या अनुशासन में कैसे रह सकेंगे? ऐसी दशा में कांग्रेस से ऐसी सूचना निकालने की बात ही अप्रासंगिक है।

ह० उ०

कसौटी पर

त्रिवेणी स्नान[1]—इस बार की बीमारी ने मुझे त्रिवेणी स्नान करा दिया। 'नहुष' 'ग्राम्या', 'रोटी का राग' में डूबने उतराने का आनन्द मिला। 'रोटी का राग' बहुत पहले गाया जा चुका है, 'नहुष' व 'ग्राम्या' ने हाल ही दर्शन दिये हैं। जब 'रोटी का राग' शुरू हुआ तब मैंने सुना था कि हिन्दी के कवि-संसार ने नाक भौं सिकोड़ी थी। कुछ कवियों ने उसका मजाक भी उड़ाया था। अबकी जब 'ग्राम्या' का स्तनपान किया तो मन ने कहा—पंतजी ने बड़ा त्याग करके ग्रामों और ग्रामीणों की सुध ली है। पन्तजी हिन्दी के एक कवि सम्प्रदाय के गुरुवर्ग में हैं। सुना है कि जबसे उन्होंने ग्राम जीवन की ओर अपनी प्रतिभा मोड़ी है तब से उनके शिष्यों या साथी-वृन्द में यह कानाफूसी होने लगी है कि पन्तजी रहस्यवाद या छायावाद की बड़ी हानि कर रहे हैं। यदि यह सच है तो मैं कहूँगा कि पंतजी का यह त्याग ऐन मौके पर हुआ है और 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' के द्वारा वे नवीन युग का पथदर्शन कर रहे हैं। मैं अपने मन से यह कह ही रहा था कि पंतजी हिन्दी के सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने जनता की ओर मुँह मोड़ा है, कि मुझे सहसा 'रोटी का राग' याद आ गया। उसे पढ़ा तो मालूम हुआ कि उसमें हृदय को पकड़ लेने की अच्छी शक्ति है। मैं समझता था रूखी-सूखी रोटियाँ ही होंगी पर मुझे उसमें रस की धारा मिली—अधर रस की नहीं, करुण रस की। श्रीमन्नारायणजी अपने इन वेदनामय गीतों के द्वारा वाचकों के मन में किसानों, श्रमिकों अछूतों के प्रति समवेदना का स्रोत बहाने में सफल हुए हैं। यह 'रोटी का राग' वास्तव में दलित पीड़ितों की दर्दभरी चीख है जो पाठकों के दिल को द्रवित किये बिना नहीं रह सकती।

कवि अपने परम्परागत पथ पर चल रहा था, सहसा उसके शोधक मन में पृच्छा हुई—

> "क्या होगा गाकर 'अनन्त' का
> नीरव और 'मदिर' संगीत?"
> 'क्यों 'पागल' बनकर मैं घूमूँ
> भूल सकल मानव संसार?"

उसकी युग-समवेदना के अन्तस्तल से उत्तर मिला—

> 'साधारण जीवन के सुख-दुख
> गाऊँ सब आडम्बर त्याग,
> सम्पति विद्या हीन जनों का
> करुणामय रोटी का राग।"

कहते हैं—कविता का जन्म वेदना से होता है। वेदना ही की कहानी हुई वह आपके-हमारे दिलों में वेदना के स्रोत उमड़ाती है। 'रोटी का राग' इस मानी में सचमुच कविता है और अग्रवालजी ने इस दिशा में पहल की है।

पहल चाहे श्रीमनजी ने की हो, पर पंतजी ने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के द्वारा हिन्दी कवि समाज में जो उद्‌बोधन और क्षोभ पैदा किया है उसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती। श्रीमनजी ने 'हृदय' से 'रोटी का राग' गाया है, तहाँ 'ग्राम्या' पंत जी के मस्तिष्क का आंदोलन है। 'ग्राम्या' के साथ श्रीसुमित्रानन्दन पंत गाँवों की ओर बढ़े हैं। युगांत और 'युगवाणी' के पश्चात उनकी काव्यधारा का यह क्रम स्वाभाविक ही था। 'ग्राम्या' का प्रणयन स्वानुभूति और कला के चिरन्तन सत्य अथवा प्रगतिशीलता के आराधक कवियों के लिए अच्छा दिशा-संकेत है।

सचमुच, जहाँ कवि मानवता के अमर तत्वों का अंकन करे, वहाँ यह भी इष्ट है कि कम-से-कम कुछ तो ऐसा लिखे जिसमें युग-युग की पीड़ित मानवता अपनी दर्दभरी पुकार सुन, अपने जीवन

---

[1] नहुष : श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), मू० ।=)

[2] ग्राम्या : श्रीसुमित्रानन्दन पंत, प्रकाशक भारती भवन, लीडर प्रेस, प्रयाग, मू० १))

[3] रोटी का राग : श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल, मू० ॥)

की आँखों देखें और अपनी नित्य समस्याओं को सुलझन पावें। हमारे कवि काल्पनिक जगत् में विहार करना अधिक चाहते हैं, दृश्य और वस्तु जगत की ओर देखना हेय समझते हैं। मैं तो कवि उसे कहूँगा, जिसकी लेखनी जग-जीवन के स्पंदन को व्यक्त करे, ठीक वैसे ही जैसे थर्मामीटर शरीर की गर्मी को। वस्तु-जगत् में रहकर केवल स्वप्निल लोक की-सी बात करना कविता और कला दोनों के साथ न्याय न करना है। कवि ने 'ग्राम्या' प्रस्तुत करके इस दिशा में प्रभावशाली नेतृत्व किया है। भले ही उनके इस नये 'टर्न' से छायावाद को गहरी क्षति पहुँची हो, पर वह जीवन के लिए, समाज और राष्ट्र के लिए और स्वयं काव्यकला के लिए आवश्यक था, यह मेरा निश्चित मत है।

'ग्राम्या' में एक ग्रामीण वातावरण है। उसमें भले ही 'ग्राम-जीवन' में मिलकर, उसके भीतर से न लिखी जाने के कारण जहाँ-तहाँ कृत्रिमता बोल उठती हो, फिर भी हमारे चिरउपेक्षित जीवन का एक चित्र वहाँ है जिसे हमारे कवि अब तक क्या इसीलिए नहीं खींचना चाहते थे कि——

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन

या इसलिए कि

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य यहाँ क्या,
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?

कवि ने ठीक ही कहा है कि——

बृहद् ग्रंथ मानव जीवन का
काल ध्वंस से कवलित
ग्राम आज है पृष्ठ जनों की
करुण कथा का जीवित।

यह सब होते हुए भी
मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत

एक जगह तो गहरी बात कवि कह गया है—

देख रहा हूँ अखिल विश्व को मैं ग्रामीण नयन से
सोच रहा हूँ जग पर, मानव जीवन पर जन मन से
रूढ़ि नहीं है, रीति नहीं है, जातिवर्ण केवल भ्रम
जन जन में है जीव, जीव जीवन में सब जग है सम

मैंने पाया कि 'ग्राम्या' में ग्रामश्री है, ग्रामीण सौन्दर्य है, ग्रामीण दृष्टि है, ग्रामीण सरलता है, ग्रामीण जीवन का स्पन्दन है, ग्रामीण संस्कृति का चित्रण है।

ग्राम-जीवन ने पन्तजी के हृदय को छुआ जरूर है, परन्तु, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इसमें 'बौद्धिक सहानुभूति' है। हृदय का अनुभव करना और मस्तिष्क का जानना दो तरह से विकास का, प्रौढ़ता का लक्षण है। 'ग्राम्या' में शब्द चित्रों और सहानुभूति के साथ ही तर्क, विवेचन भी है। इसलिए वह रसलोलुप पाठकों को चाहे शुष्क, नीरस लगे परन्तु जिज्ञासु और चिन्तनशील पाठक के मन में यह अवश्य हलचल मचा देगी। युग के प्रयाण की घोषणा और अधिकार के साथ उन्होंने सुनाया है।

मैंने इधर उधर देखा है कि पन्तजी की इन कुछ वास्तव रचनाओं का उपहास किया गया है। मेरी राय यह है कि कला की वस्तु को उसके हाथ में बैठ कर देखना चाहिए। कलाकृति को आप 'जँची' 'नहीं जँची' कह सकते हैं, पर चीरफाड़ तो अरसिकता ही नहीं दिखाता है। कला, कविता, सौंदर्य रस अनुभव करने और आनन्द लेने की चीजें हैं; विचार, ज्ञान अन्वेषण, निरूपण, विवेचन की वस्तु हैं। इसलिए मैं अक्सर कहा करता हूँ कि कविता, कला की समालोचना कैसी? बुद्धिगम्य वस्तु की आलोचना तो हो सकती है, अनुभवगम्य की कोई क्या आलोचना करेगा? जब महाराजकुमार श्री रघुबीरसिंहजी ने अपना 'शेष स्मृतियाँ' मुझे भेजी तो लिखा था कि यह संपादक की टेबल पर चीर फाड़ करने के लिए नहीं है। मन उनकी स्थिति का ठीक समझा। [illegible] कोई अनाड़ी और अपढ़ कवि तो है नहीं जो 'पाप [illegible]' [illegible]

लिखने बैठ जायें। बल्कि समर्थ लेखक व कवि का एक यह भी लक्षण है कि बहुत मामूली दैनिक और सहसा किसीकी निगाह में न आने वाले विषय पर भी उसकी पैनी दृष्टि पड़ती व गड़ती है और उसकी प्रतिभा उसमें सजीवता ला देती है।

इतना कहने का जी जरूर चाहता है कि यदि पन्तजी ग्राम जीवन के हार्द में डूबकर लिखते तो 'ग्राम्या' में पाठक को अपने साथ बरबस वहां ले जाने का गुण प्रचुर मात्रा में आ जाता।

अब 'नहुष'। मैथिलीशरणजी नपी-तुली साधु भाषा, समतोल भाव व पवित्र विचारों के समर्थ कवि हैं। हिन्दी के प्रथम पंक्ति के कवियों में उनका समादरणीय स्थान है। हिन्दी में राष्ट्रीय भावों के वही पहले कवि हैं। 'नहुष' इसी मँजे हुए कवि की नवीन कृति है। इसकी पृष्ठभूमि में नहुष की इन्द्रत्व प्राप्ति और स्वर्गभ्रष्ट होने का आख्यान है। मानव अपने तप और साधना से उच्चतम स्थिति पर पहुँचता है लेकिन अपनी कमजोरियों के कारण वहांसे गिर भी पड़ता है। फिर भी मानवीय प्रकृति और उदात्त वृत्ति उसे फिर फिर ऊँचे उठने की साधना में लगाती रहती है। यह गति, यह क्रम ही जीवन है और अंत में मनुष्य यदि पुरुषार्थी और ईश्वरपरायण है तो पूर्णता को जा पहुँचता है।

इन्द्रपद पा जाने पर भी नहुष आखिर मानव ही तो है और इसीलिए वह इन्द्र की वियोग विधुरा पत्नी शची के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसे अपनी 'इन्द्राणी' बनाना चाहता है।

शची का नारीसुलभ शील और स्वाभिमान नहुष के सन्देश पर कहे गये उसके इन शब्दों में अच्छी तरह बोल रहा है—

> 'सौंपा धन धाम तुम्हें और गुण-कर्म भी
> रख न सकेंगी हम अंत में क्या धर्म भी ?
> त्यागो शची-कांत बनने की पाप वासना,
> हर ले नरत्व भी न कामदेवोपासना !'

और समाज की निरंकुशता पर कैसा दर्द भरा उलहना है!'—

> सत्ता हाँ समाज की है, वह जो करे, करे,
> एक अबला का क्या, जिये, जिये, मरे, मरे।

और अन्त में तो

> जाकर नहुष से अकेली ही अड़ूगी मैं,
> लड़ न सकूंगी तो पदों पर पड़ूंगी मैं

में नारी की आत्मशक्ति और बेबसी दोनों समन्वित होकर करुणा उपजाते हैं।

उधर नहुष का भी मोहावरण हट जाता है—बादल फट जाने पर जैसे घाम निकल आया हो!—

> मानता हूँ, आड़ ही ली मैंने स्वाधिकार की,
> मूल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की।

परन्तु मानव की मनस्वी वृत्ति—कभी न हारने की वृत्ति नहुष में चमक उठती है—

> मानता हूँ और सब हार नहीं मानता
> अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता
> आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी
> लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
>
> × × ×
>
> गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी ?
> मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
> फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूंगा मैं,
> नर हूँ पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूंगा मैं।

यही नहुष का मंगल-सन्देश है।

अपनी मानसिक विपण्णता के क्षणों में भी गुप्तजी यह जीवन सन्देश देने में समर्थ हुए हैं, यह बात हिन्दी-साहित्य के लिए आशाप्रद है।

ह० उ०

प्रेम में भगवान् अनुवादक—श्री जैनेन्द्र कुमार, प्रकाशक—सस्ता-साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या २२८, मूल्य आठ आना।

प्रस्तुत पुस्तक टॉल्सटॉय की ग्यारह कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ जैसाकि अनुवादक ने अपने 'निवेदन' में कहा है, उनके समय, समाज या भूमि के बारे में जानकारी पहुँचाने के लिए उतनी नहीं, जितनी नैतिक समाधान व विचार से लिखी गई थीं।

संग्रह की प्रत्येक कहानी में कोई-न-कोई

की सुन्दर जिल्द और जकट पर के आकपक दुरगे चित्र और छपाई सफ़ाई तथा अनुवाद की उत्कृष्टता को देखते हुए उसका स्वल्प मूल्य ।II) रखना प्रकाशका की सद्वृत्ति का परिचायक ह।

आशा ह मूल पुस्तक की भाँति हिन्दी अनुवाद भी लोकप्रिय होगा और पाठका के सहयोग म माला के अगले प्रकाशन भी एसे ही सुन्दर और महिलोपयोगी हागे।

वीरबाला त्रैमासिक प्रो० प्रेमनारायण माथुर एम० ए० आदि वार्षिक मू० १II), एक प्रति ।I=)

वनस्थली (जयपुर राज्य) के राजस्थान बालिका विद्यालय की, जो बालिका शिक्षण में एक नमूना बन रहा ह यह त्रैमासिक पत्रिका ह। चौथे वर्ष का दूसरा, तीसरा और चौथा अक हमारे सामने ह।

पत्रिका में विद्यालय के संस्थापक, आचार्य तथा अध्यापक-वन्द के शिक्षण-जगत् के लिए उपयोगी लेख रहते ह। विद्यालय की मेधावी और उदीयमती बालिकाओं के भी कई लेख उसमें हमने पढ़े—स्त्री का आदर्श हिन्दू समाज में स्त्री शिक्षा, ग्राम्य जीवन के अनुभव, साम्प्रदायिक समस्या, आदर्श जीवन आदि। सबमें छात्राओं की विद्यालय में उपार्जित की हुई सस्कृति और शिक्षा की छाप स्पष्ट ह।

प्रो० प्रेमनारायण माथुर अर्थशास्त्र के सुयोग्य विद्वान ह। उनके गांधीवाद और समाजवाद, अर्थ रचना और सामाजिक हित अत्यन्त विद्वत्ता और सूक्ष्म गवेषणापूर्ण लेख हैं।

विद्यालय की शिक्षणनीति, शिक्षणप्रणाली और वहाँ की शिक्षण-क्षेत्र की प्रगति का यथार्थ रूप जानने के लिए वीरबाला का प्रत्येक अक पठनीय ह। मु०

मैं भूल न सकूँ संपादक—श्री जयन्त, प्रकाशक—विजय-पुस्तक भडार दिल्ली, पृष्ठ-संख्या १९८, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में सब श्री श्रीनाथसिंह, भगवतीदत्त शुक्ल, 'पहाड़ी', उषा मित्रा, श्रीमती होमवती भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'अचल', 'हरिऔध', काका कालेलकर आदि साहित्यकारों की कलम से लिखी हुई उनके जीवन की सबसे अधिक 'न भूल सकनेवाली साथ ही सबसे अधिक रोचक घटनाओं का सकलन ह।

हिन्दी में यह प्रयत्न नया ही ह और हम उसका स्वागत करते ह। घटनाओं के कथानकों में जहाँ लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की कुछ मनोरम झाँकियाँ मिलती ह, वहाँ उनकी हृदयग्राहिणी लेखन कला भी छुपी नहीं रहती। हमें कुछ घटनाएँ एसी लगी कि जो मानव जीवन पर स्थाई और गहरा असर डालनेवाली ह,।

पर ज्यादातर घटनाओं में हमें प्रेम ही सर्वत्र बोलता दिखाई दिया, अपने विविध रूपों में यही उसने हमें अपूर्व उल्लास से भर दिया और यही निराश भी किया। प्राय सारी घटनाएँ इसी एक ही दृष्टिकोण से लिखी और लिखवाई जान पडती ह। लेखकों को दृष्टिकोण की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए थी।

जो हो, संपादक श्री जयन्त ने हिन्दी के अच्छे अच्छे साहित्यिकों की चीजें जुटाई ह।

—वि० वि०

समालोचनार्थ प्राप्त—

गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, के प्रकाशन

जागरण (उपन्यास) लेखक—श्री ठाकुर श्रीनाथसिंह

जूनिया (उपन्यास) लेखक—श्री गोविन्द वल्लभ पन्त

तुम क्या हो? लेखक—श्री सर्वदानन्द वर्म्मा

दुलारे दोहावली (कविता) रचयिता—श्री दुलारेलाल भार्गव

नक्षत्र मण्डल (कहानियाँ) लेखक—विभिन्न यूरोपीय कथाकार

प्रत्यागत (उपन्यास) लेखक—श्री वृंदावन लाल वर्म्मा

प्रश्न (उपन्यास) लेखक—श्री सर्वदानन्द वर्म्मा

लगन (उपन्यास) लेखक—श्री वृन्दावन लाल वर्म्मा

करे ? नामक लेख लिखा। सर्वोदय और विशाल भारत ने उसपर अपने-अपने मत प्रकट किये। श्री वकटेशनारायण तिवारी ने गहरा रोप प्रकट किया और 'जागति' में श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित ने डा० सक्सेना की बातो का घोर विरोध करते हुए उनपर तथा सम्मेलन पर लोगो को धोखे में रखने, कार्यालय की अव्यवस्था तथा दूसरे गालमाल आदि के गम्भीर आक्षेप किये हैं। मामला बहुत बढ गया जान पडता है और शका होने लगी है कि यह साहित्यिक लडाई कबतक कागज, रुपये को खराब और वातावरण को क्षुब्ध करती रहेगी। इसका अन्त होना चाहिए। एक निष्पक्ष जाँच समिति द्वारा सारे मामले की जाँच क्या न हो जाय ?

पिछले मास से भाई श्री वात्स्यायन और 'मुक्त' के सयुक्त सपादन में पटना सिटी से आरती मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ है। ८० पृष्ठों की इस सर्वाग सुन्दर पत्रिका में हमें अच्छे कवियो और सुलेखको की रचनायें पढ़ने को मिली हैं। कविवर पन्त का 'राष्ट्र गान' जहाँ कइयो को मुग्ध कर देगा, वहाँ कइयो के लिए दुरूह भी होगा। राष्ट्रगान की भाषा और भाव को इतना क्लिष्ट नही होने देते तो अच्छा था। सुश्री महादेवी वर्मा का गीत और रामनरेशजी त्रिपाठी की 'ओ गाँव से आनेवाले बता !' का ग्रामीण चित्र, माचवेजी का शब्द चित्र और हजारीप्रसाद जी का 'रीति काव्य' हमें बहुत रुचे। 'आदि मानव की कला' लेख और 'मत अपनाओ' कवितायें भी सुन्दर हैं।

साधना का प्रकाशन तो नई घटना नहीं है, परन्तु पिछले मास से उसके सम्पादक श्री सत्येन्द्र हुए हैं जो एक जागरूक आलोचक हैं। सितम्बर के अंक में श्री प्रभाकर माचवे का लेख—'लिखू ? तो किसलिए—हिन्दी-लेखको को अवश्य पढ़ना चाहिए। उसके साथ 'जी० सा०' के इस अक का अग्रलेख भी पाठकगण अवश्य पढ़ें।

'साहित्य-सन्देश' के पिछले अक में श्री नगेन्द्र का 'हिन्दी कविता की नवीनतम प्रगति' लेख अच्छा है। विचार विमर्श स्तम्भ तो पूरा ही पठनीय है। उस अक में उग्रजी का आदर्श उपन्यास लेख भी है, जो समय से पूर्व ही प्रसूत हो गया ऐसे शिशु दीर्घजीवी नही होते, पर इसका उत्तर तो समय देगा। प्रभाकर माचवे ने 'हिन्दी का कथा साहित्य' शीर्षक समीक्षापूर्ण निबन्ध 'आरती' में लिखा है। वीणा के सितम्बर अक में गुंजन का दृष्टि कोण पढने को मिलता है और मिलता है गुलाबराय एम० ए० का हास्य रसपूर्ण 'राज दरबार में मैं' जो उनकी 'जीवन-कथा' का एक चित्र हैं।

'वीणा' का यह अक नरेन्द्र का 'आत्मबोध' लाया है इसलिए उसे और कवि को बधाई।

'सब की बोली' में प० जवाहरलाल नेहरू—ने 'दुनिया काम से चलती है' के द्वारा हमारे देश के नौजवानो को अच्छी सीख दी है। काकासाहब ने 'बगम सीता !!' में बिहार की बगम सीता वाले प्रकरण का गुप्त रहस्य खोल दिया है। पाठक उसे इस अक में भी देखेंगे। काका की 'रेल की दुनिया' से पूर्ण सहमत न होते हुए भी हमें वह प्रयत्न कुछ सोचने को मजबूर करता है।

'कमला' (सितम्बर) में श्री बनारसीदास जी द्वारा प्रकाशित 'श्रद्धेय गणेशजी के आठ पत्र' गणेशजी के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। लीलाकुमारी पन्त की कविता 'तुम्हारी' बहुत-ही अच्छी लगी। साहित्य स्तम्भ में चतुर्वेदीजी का 'हिन्दी-संस्थाओं की जांच और विवरण' एक अच्छा सुझाव है।

× × ×

पिछले दिनो श्रीमती सत्यवती मल्लिक की कहानियों का सग्रह 'दो फूल' नामक हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ने निकाला है। श्री भगवतीचरण वर्म्मा की नई कविताओ का सग्रह भी 'मानव' नाम से विशाल भारत बुक डिपो ने प्रकाशित किया है। कलकत्ता के मुसकान-मन्दिर ने भी अपनी पहली "मुसकान" "कुकडूकू" के नाम से प्रकट की है।

क्या और कैसे?

युगान्तरकारी

हाल ही कांग्रेस की महासमिति ने केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के ही लिए नहीं वरन् स्वराज्य संचालन में भी जो अहिंसा पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है और यह निश्चय प्रकट किया है कि विश्व-निःशस्त्रीकरण की योजना में कांग्रेस भरसक अपना जोर लगायगी यह अवश्य ही एक युगान्तरकारी प्रस्ताव है। इसके द्वारा कांग्रेस ने विश्व शान्ति और युद्धों को निर्मूल करने की दिशा में ऐसा दृढ़ कदम उठाया है जिसने नये इतिहास की-विश्व के नव निर्माण की नींव डाल दी है। जैसे-जैसे समय जायगा महात्माजी के इस नेतृत्व का महत्व और अहिंसा का चमत्कार प्रकाशील होगा, और संसार को प्रभावित किये बिना न रहेगा। निस्सन्देह इससे उन लोगों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है जो अपनेको अहिंसाभक्त कहते हैं। उन्हें तो अग्नि-परीक्षाओं में से ही गुजरना होगा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की समस्या

डॉ० बाबूराम सक्सेना के लेख पर कुछ आलोचनात्मक लेख देखने में आये हैं। उनसे चिन्ता पैदा हुई, तरह-तरह की आशंकायें मन में उठीं। लेकिन, हाल ही डॉ० बाबूराम सक्सेना का एक पत्र मिला है, जिससे चिन्ता और आशंका कुछ दूर हो रही है। 'जी० सा०' के 'साहित्यिक क्या करें?' नामक लेख के विषय में वह लिखते हैं—

"मैं उससे अक्षरशः सहमत हूँ। मैं स्वयं चाहता हूँ कि सम्मेलन को कांग्रेस की तरह गुरुत्व प्राप्त हो उसे जनता का 'सम्मान' मिले। तभी वह कोई पक्का काम कर सकेगा। अब मुझे इस दिशा में आशा की झलक दिखाई पड़ती है। × × × कल की कार्य-समिति में सम्मेलन ने निश्चय किया है कि एक छोटी सी प्रश्नावली निकालकर हिन्दी-साहित्यिकों से सम्मति मांगी जाय और फिर सम्मेलन किस दिशा में काम करे इस बात पर परामर्श देने के लिए एक परिषद् की आयोजना नवम्बर में की जाय।"

'युक-सोसायटी' के ढंग की समिति बनाने के सुझाव के बारे में वह लिखते हैं कि 'सम्मेलन एक त्रैमासिक आलोचनात्मक रिपोर्ट तैयार करे तथा युक-सोसाइटी के ढंग की एक परामर्शदायक समिति का संगठन करे, ये दोनों काम सम्मेलन कर सकेगा।'

मेरी राय में सम्मेलन की कार्य-समिति ने उचित दिशा में जरूरी कदम उठाया है। फिर मित्रों को सम्मेलन की व्यवस्था या कार्य-पद्धति से शिकायत है उन्हें, उचित है कि वे अब क्रियात्मक और रचनात्मक सहयोग देकर सम्मेलन को सुधारने और बलशाली बनाने का यत्न करें। इसमें पूरी सफलता तभी मिल सकेगी, जब सम्मेलन के आलोचकों में या वर्तमान सूत्रधारों में कोई ऐसा व्यक्ति आगे बढ़े, जिसमें संस्था की दृढ़ता, कार्यपटुता और व्यापक सहानुभूति हो।

संकीर्णता?

जीवन-साहित्य' के पहले अंक का स्वागत करते हुए 'हंस' में यह आपत्ता प्रकट की गई है कि 'जीवन-साहित्य' एक ही विचार धारा और वह भी गांधी विचार धारा के प्रचार का साधन न बने, क्योंकि यह संकीर्णता होगा। 'हंस' चाहता है कि 'जीवन साहित्य' 'उस विचार-धारा को भी समीक्षा के लिए जनता के सामने रक्खे जो संसार के एक बड़े देश में करोड़ों लोगों के जीवन को रूपान्तरित करने का प्रयत्न कर रही है और जिसको अपने प्रयत्न में किसी हद तक सफलता मिली है। हमारा तात्पर्य समाजवाद से है × × × वास्तव में हमें प्रकाश की चाह तथा उसका स्वागत करने की अभिलाषा होनी चाहिए फिर चाहे वह प्रकाश कहीं से आवे। अन्त, किसी गुण्डई के नाश का यही एक मार्ग है और इसी हमें साम्य का तथा समन्वय का पथ भी मिल सकता है।"

'हंस' का मत संकुचित और एकांगी नहीं है व्यापक और परिपूर्ण है हम उसका स्वागत करते

वाले जी० सा०' से संकीर्णता का भय किसी को न रखना चाहिए। चाहे गांधीवाद हो चाहे समाजवाद, चाहे फासिस्टवाद, 'जी० सा० सबको जीवन की कसौटी पर कसेगा और उसे जो ग्राह्य मालूम होगा, उसका समर्थन वह दृढ़ता से करेगा। विचार-क्षेत्र में मानव-जीवन से हम प्रेरणा पायेंगे लेकिन कर्म-क्षेत्र में हमें भारतीय जीवन की मर्यादा स्वीकार करनी होगी क्योंकि भाव या विचार क्षेत्र में हम जितने व्यापक रह सकते हैं कर्मक्षेत्र में उतने नहीं। भाव और विचार-जगत् में केवल हमारे मन-बुद्धि को ही काम करना पड़ता है, जिनकी गति अबाध है परन्तु, कर्म-क्षेत्र में हमें अपनी जड़ इन्द्रियों से काम लेना पड़ता है, जिनकी गति और शक्ति स्वभावतः बहुत मर्यादित है।

गांधीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, फासिस्टवाद—इनमें कुछ फर्क है, तभी तो ये अलग-अलग हैं। हमें अपने जीवन की उपयोगिता और आवश्यकता की दृष्टि से इनमें से किसी एक को चुनना होगा, सबको तो हम एक साथ नहीं अपना सकते। चर्चा और बहस हम सबकी कर सकते हैं पर अपने लिए हमें दिशा या मार्ग तो एक ही ग्रहण करना होगा। यदि ऐसा करना संकीर्णता है, तो इससे हमारा छुटकारा किसी तरह नहीं हो सकता। प्रकाश कहीं से आवे उसका तो स्वागत ही करना चाहिए पर हमारे जीवन की आवश्यकता के प्रकाश में उस प्रकाश की हमें जाँच तो करनी ही होगी न। यदि इस इस स्थिति को स्वीकार करता है, तो उसे जी० सा० के संकीर्ण बनने की आशंका न रखनी चाहिए।

मेंढकों की तौल ?

जी० सा०' बड़भागी है कि मित्र लोग बहुत बारीकी से उसे देखते हैं और छोटी से-छोटी त्रुटि की ओर प्रेम से ध्यान दिलाने का कष्ट करते हैं। जबतक 'जी० सा० की पीठ पर ऐसे क्रियाशील सहायक हैं तबतक अवश्य ही उसके उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की सम्भावना रहेगी। दूसरे अंक की मेरी एक टिप्पणी पर हिन्दी-संसार के एक अच्छे जानकार और आदरणीय मित्र लिखते हैं—

'जी० सा० के द्वितीय अंक को ध्यानपूर्वक धीरे धीरे पढ़ रहा हूँ। चबा चबा कर भोजन करने की आदत तो अभी तक नहीं डाल पाया, पर मानसिक भोजन के विषय में अब पहले की अपेक्षा अधिक सावधान हो गया हूँ।

"यद्दुराप दुराम्नाय' इत्यादि श्लोक बहुत फिट बैठा। सम्पूर्ण चीज़ को भगवान् व्यास ने कितने संक्षेप में कह दिया है।

'आप इधर कई वर्ष से साहित्य-क्षेत्र के निकट सम्पर्क में नहीं रहे। इस कारण आपका बाज बाज परामर्श अव्यावहारिक हो गया है। पृष्ठ ९४ पर जिस 'सम्पादक मण्डल' की स्थापना की सिफारिश आपने की है वह दर असल अव्यवहार्य है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पूर्ण अराजकता ('अराजकवाद नहीं अराजकता) विद्यमान है। कोई किसीकी नहीं सुनता। आप मेंढकों को कैसे तौलेंगे ? जबतक एक को तराजू पर रक्खेंगे तबतक दूसरा नीचे कूद जायगा। सर्वोत्तम उपाय यही है कि समानशील-व्यसनवाले साहित्यिकों तथा पत्रकारों का पारस्परिक संबंध दृढ़तर बनाया जाय। अवाञ्छनीयों की सर्वथा उपेक्षा कीजिए। उनके नाम का भी हवाला मत दीजिए। इस भयंकर अस्त्र का उपयोग तो कीजिए।

'भगवान महावीर ने २००० वर्ष पहले कहा था—

'माध्यस्थ भावो विपरीत वृत्तौ'। जिनसे अपना स्वभाव नहीं मिलता उनके प्रति माध्यस्थभाव रक्खो, न मित्रता न शत्रुता। यही सर्वोत्तम नीति भी है। पर आप जैसा सुनामित्र समझें करें।

निकट सम्पर्क न रहने की स्थिति को मैं स्वीकार करता हूँ। यह दुर्भाग्य की बात है कि हम शिक्षित, लोकप्रिय प्रख्यात समझे जानेवाले सम्पादकों की स्थिति की तुलना एक ज़िम्मेदार व्यक्ति को मेंढकों की तौल से करनी पड़े ! यदि सम्पादक बिना संगठन या अनुशासन

क्या और कैसे ?

युगान्तरकारी

हाल ही कांग्रेस की महासमिति ने केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के ही लिए नहीं, वरन् स्वराज्य संचालन में भी जो अहिंसा पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है और यह निश्चय प्रकट किया है कि विश्व निःशस्त्रीकरण की योजना में कांग्रेस भरसक अपना जोर लगावेगी, यह अवश्य ही एक युगान्तरकारी प्रस्ताव है। इसके द्वारा कांग्रेस ने विश्व शान्ति और युद्धों को निर्मूल करने की दिशा में ऐसा दृढ़ कदम उठाया है जिसने नये इतिहास की–विश्व के नव निर्माण की नींव डाल दी है। जसे-जैसे समय जायगा महात्माजी के इस नतत्व का महत्व और अहिंसा का चमत्कार शंकाशील लोगों को भी प्रभावित किये बिना न रहेगा। निस्सन्देह इससे उन लोगों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है जो अपनेको अहिंसाभक्त कहते हैं। उन्हें तो अग्नि-परीक्षाओं में से ही गुजरना होगा।

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की समस्या

डॉ० बाबूराम सक्सेना के लेख पर कुछ आलोचनात्मक लेख देखने में आये हैं। उनसे चिन्ता पैदा हुई, तरह-तरह की आशंकायें मन में उठीं। लेकिन हाल ही डॉ० बाबूराम सक्सेना का एक पत्र मिला है, जिससे चिन्ता और आशंका कुछ दूर हो रही है। 'जी० सा०' के साहित्यिक क्या करें ?' नामक लेख के विषय में यह लिखते हैं—

"मैं उससे अक्षरशः सहमत हूँ। मैं स्वयं चाहता हूँ कि सम्मेलन को कांग्रेस की तरह गुरुत्व प्राप्त हो, उसे जनता का 'सम्मान' मिले। तभी यह कोई पक्का काम कर सकेगा। अब मुझे इस दिशा में आशा की झलक दिखाई पड़ती है। × × × कल की कार्य-समिति में सम्मेलन ने निश्चय किया है कि एक छोटी सी प्रश्नावली निकालकर हिन्दी-साहित्यिकों से सम्मति माँगी जाय और फिर सम्मेलन किस दिशा में कार्य करे, इस बात पर परामर्श देने के लिए एक परिषद् की आयोजना नवम्बर में की जाय।"

'बुक-सोसायटी' के ढंग की समिति बनाने के सुझाव के बारे में वह लिखते हैं कि 'सम्मेलन एक त्रैमासिक आलोचनात्मक रिपोर्ट तैयार करे तथा बुक-सोसाइटी के ढंग की एक परामर्शदायक समिति का संगठन करे, ये दोनों काम सम्मेलन कर सकेगा।"

मेरी राय में सम्मेलन की कार्य-समिति ने उचित दिशा में जरूरी कदम उठाया है। जिन मित्रों को सम्मेलन की व्यवस्था से या कार्य पद्धति से शिकायत है उन्हें, उचित है कि वे भी क्रियात्मक और रचनात्मक सहयोग देकर सम्मेलन को सुधारने और बलशाली बनाने का यत्न करें। इसमें पूरी सफलता तभी मिल सकेगी, जब सम्मेलन के आलोचकों में या वर्तमान संचालकों में कोई ऐसा व्यक्ति आगे बढ़े, जिसमें संकल्प की दृढ़ता, कार्यपटुता और व्यापक सहानुभूति हो।

संकीर्णता ?

जीवन-साहित्य' के पहले अंक की समालोचना करते हुए 'हंस' में यह आशंका प्रकट की गई है कि 'जीवन-साहित्य' एक ही विचार धारा और वह भी गांधी विचार धारा के प्रचार का साधन न बने, क्योंकि यह संकीर्णता होगी। वह चाहता है कि 'जीवन-साहित्य' 'उस विचार धारा को भी समीक्षा के लिए जनता के सामने रक्खे जो संसार के एक बड़े देश में करोड़ों लोगों के जीवन को रूपान्तरित करने का प्रयत्न कर रही है और जिसको अपने प्रयत्न में किसी हद तक सफलता मिली है। हमारा तात्पर्य समाजवाद से है × × × वास्तव में हमें प्रकाश की चाह तथा उसका स्वागत करने की अभिलाषा होनी चाहिए, फिर चाहे वह प्रकाश कहीं से आये। सत्य, शिव सुन्दर के खोज का यही एक मार्ग है और यही हमें साम्य का तथा समन्वय का पथ भी बना सकता है।"

जीवन यदि संकुचित और एकांगी नहीं है, व्यापक और परिपूर्ण है, तो उसका दावा करने

वाले जी० सा०' से सकीर्णता का भय किसी को न रखना चाहिए। चाहे गाधीवाद हो चाहे समाजवाद, चाहे फासिस्टवाद, 'जी० सा० सबको जीवन की कसौटी पर कसेगा और उसे जो ग्राह्य मालूम होगा उसका समर्थन वह दृढता से करेगा। विचार-क्षेत्र मे मानव-जीवन से हम प्रेरणा पायेंगे, लेकिन कर्म-क्षेत्र में हमें भारतीय जीवन की मर्यादा स्वीकार करनी होगी क्योंकि भाव या विचार क्षेत्र में हम जितने व्यापक रह सकते है कर्मक्षेत्र में उतने नहीं। भाव और विचार-जगत् में केवल हमारे मन-बुद्धि को ही काम करना पडता है, जिनकी गति अबाध है परन्तु, कर्म क्षेत्र में हमें अपनी जड इन्द्रियो से काम लेना पडता है, जिनकी गति और शक्ति स्वभावत बहुत मर्यादित है।

गाधीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, फासिस्टवाद—इनमें कुछ फर्क है तभी तो ये अलग-अलग है। हमें अपने जीवन की उपयोगिता और आवश्यकता की दृष्टि से इनमें से किसी एक को चुनना होगा, सबको तो हम एक साथ नही अपना सकते। चर्चा और बहस हम सबकी कर सकते है पर अपने लिए हमें दिशा या मार्ग तो एक ही ग्रहण करना होगा। यदि ऐसा करना सकीर्णता है, तो इससे हमारा छुटकारा किसी तरह नही हो सकता। प्रकाश कहीसे आवे उसका तो स्वागत ही करना चाहिए, पर हमारे जीवन की आवश्यकता के प्रमाद में उस प्रकाश की हमें जाँच तो करनी ही होगी न। यदि 'हस' इस स्थिति को स्वीकार करता है, तो उसे जी० सा० के सकीर्ण बनने की आशका न रखनी चाहिए।

मेंढकों की तौल ?

जी० सा०' बडभागी है कि मित्र लोग बहुत बारीकी से उसे देखते है और छोटी-से-छोटी त्रुटि की ओर प्रेम से ध्यान दिलाने का कष्ट करते हैं। जबतक जी० सा० की पीठ पर ऐसे क्रियाशील सहायक है तबतक अवश्य ही उसके उन्नति के मार्ग पर बढने की सम्भावना रहेगी। दूसरे अक की मेरी एक टिप्पणी पर हिन्दी-ससार मे एक अच्छे जानकार और आदरणीय मित्र लिखते हैं—

'जी० सा० के द्वितीय अक का ध्यानपूर्वक धीरे धीरे पढ रहा हूँ। चबा चबा कर भोजन करने की आदत तो अभी तक नहीं डाल पाया, पर मानसिक भोजन के विषय में अब पहले की अपेक्षा अधिक सावधान हो गया हूँ।

"यद्दुरापं दुराम्नाय' इत्यादि श्लोक बहुत फिट बठा। सम्पूर्ण चीज को भगवान् व्यास ने कितने सक्षेप में कह दिया है!

'आप इधर कई वर्ष से साहित्य-क्षेत्र के निकट सम्पर्क में नही रहे। इस कारण आपका बाज बाज परामर्श अव्यावहारिक हो गया है। पृष्ठ ९४ पर जिस सम्पादक मण्डल की स्थापना की सिफारिश आपने की है वह दर असल अव्यवहार्य है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पूर्ण अराजकता ('अराजकवाद नहीं अराजकता) विद्यमान है। कोई किसीकी नहीं सुनता। आप मेंढको को कैसे तौलेंगे? जबतक एक को तराजू पर रक्खेंगे तबतक दूसरा नीचे कूद जायगा! सर्वोत्तम उपाय यही है कि समानशील-व्यसनवाले साहित्यिको तथा पत्रकारो का पारस्परिक सबध दृढ़तर बनाया जाय। अवाञ्छनीयो की सर्वथा उपेक्षा कीजिए। उनके नाम का भी हवाला मत दीजिए। इस भयकर अस्त्र का उपयोग तो कीजिए।

'भगवान महावीर ने २००० वर्ष पहले कहा था—

'माध्यस्थ भावो विपरीत वृत्तौ'। जिनमें अपना स्वभाव नही मिलता उनके प्रति माध्यस्थभाव रक्खे न मित्रता न शत्रुता। यही सर्वोत्तम नीति मी है। पर आप जसा मुनासिब समझें करें।

निकट सम्पर्क न रहने की स्थिति या कमी को मै स्वीकार करता हूँ। यह दुःख व दुर्भाग्य की बात है कि हम शिक्षित, एक-दूसरे प्रदेश मनस जानेवाले सपादकों की स्थिति की तुलना एक जिम्मेदार व्यक्ति का 'मेंढको की तौल' से करना पड़े! यदि सपादक किसी सगठन या अनुशासन

में नहीं आ सकते तो कहना होगा कि नमक ने ही खारीपन छोड दिया ! क्या सचमुच ऐसी निराश होजाने योग्य हालत हम लोगों की हो गई है ?

मित्र के दूसरे प्रस्ताव——समानगुणशीला के सम्बन्ध को दृढ़तर बनाना——का मै हृदय से समर्थन करता हूँ। यदि मेरा प्रस्ताव 'अव्याव हारिक' है तो फिर इस दूसरे प्रस्ताव से बढ़कर व्यावहारिक तजवीज नहीं हो सकती। काम करने का सही और कारगर तरीका यही हो सकता है।

जो अपने विरोधी हैं या अपनेसे दूर है, उनके प्रति माध्यस्थ वृत्ति या उपेक्षा भाव सफल जीवन का परम सूत्र है। अहिंसा की यह बहुत अच्छी व्यावहारिक शिक्षा है। 'जी० सा०' को मित्र के दोनो सुझाव मंजूर है।

साहित्यिक संस्थाओं से

हमारा विचार है कि अगले अंक से साहित्यिक समाचारों की डायरी प्रति मास 'जी० सा०' में छपा करे। हमने अनेक संस्थाओं को पत्र लिखे है और याददिहानी भी की है कि वे अपनी संस्था की हलचलो के समाचार हमें भेजें। अब इस निवेदन के द्वारा भी हम हिन्दी की हरेक प्रचार-सभा, पुस्तकालय, वाचनालय साहित्य समिति आदि को सचेत करना चाहते है कि वे प्रति मास २० ता० तक हमें अवश्य समाचार भेज दिया करें। समाचार महत्वपूर्ण हो। कागज के एक तरफ़ सुवाच्य लिपि में लिखे गये हों और भरसक संक्षेप में हो। आशा है संस्थाओं के संचालकगण इस उपयोगी काय में हमारे साथ पूरा सहयोग करेंगे।

साहित्य प्रेमियों से

जी० सा० के पृष्ठों में जहां जगह खाली होती है वहां 'मण्डल की पुस्तकों से अच्छे चुने हुए जीवनोपयोगी उद्धरण हम देते रहते है। हम चाहते है कि ये उद्धरण मण्डल की पुस्तकों तक ही सीमित न रहें। हिंदी की दूसरी अच्छी और जीवनोपयोगी पुस्तकों में से भी हम उद्धरण देना चाहते हैं।

अपने आप तो इस प्रकार के उद्धरण अन्य पुस्तकों में से हम छाँटकर दिया ही करेंगे, पर पाठकों से भी प्रार्थना है कि अगर कोई अच्छा उद्धरण जो उनको 'जी० सा०' के लिए उपयोगी लगे उसे अच्छी तरह नकल करके पुस्तक का नाम तथा प्रकाशक के नाम और पृष्ठ संख्या सहित हमें भेज दिया करें तो हम उनके बड़े आभारी होंगे।

प्रकाशकों के बारे में

जी० सा० से स्नेह रखनेवाले और उसमें दिलचस्पी लेनेवाले एक माननीय मित्र लिखते हैं

"जी० सा० में हिंदी के छोटे-बड़े सभी प्रकाशकों के बारे में एक लेख आना चाहिए। बल्कि इस विषय पर तो एक विशेषांक भी बन सकता है। प्रकाशक का नाम, पता, काम शुरू करने का समय, अबतक के प्रकाशित ग्रंथों की सूची, हानि-लाभ और कुछ अनुभव। जो दुर्भाग्य वश उठ गये उनका और जो दुर्भाग्य से चल रहे है, उन सबका ब्योरा इसमें आना चाहिए।

इस सूचना का हम हृदय से स्वागत करते है। इस बारे में शीघ्र ही हम एक परिपत्र प्रकाशित करने का विचार करते है। इस बीच यह नोट जिन प्रकाशक-बंधु या विचारशील पाठक की निगाह से गुजरे उनसे निवेदन है कि इस बारे में उनके पास जो कुछ जानकारी या सामग्री हो उसे हमें भेजने की कृपा करें।

अभीष्ट विषय

जब 'जी० सा०' का निकालना तय हो गया तभी मैने संपादकीय प्रयोजन के लिए उन विषयों की एक सूची बनाई थी जिनपर 'जी० सा०' में लिखाये जाने की आवश्यकता मन महसूस करता थी। अब मैं उसे यहां प्रकाशित कर देना उचित समझता हूँ जिससे लेखक-बन्धुओं को अभीष्ट लेख लिखने में सुविधा हो। चूँकि जी० सा० में अभी पृष्ठ बहुत कम है लेख छोटे भेजने की प्रार्थना है। सूची इस प्रकार है —

१ दर्शन-साहित्य २ पुराण-साहित्य
३ साहित्यिक-साहित्य ४ कला-साहित्य
५ विज्ञान या शास्त्रीय-साहित्य

६ काम साहित्य	७ ललित साहित्य
८ बाल-साहित्य	९ स्त्री ,,
१० हरिजन साहित्य	११ सत्याग्रह ,,
१२ साम्यवादी ,,	१३ चिकित्सा ,,
१४ व्यापार-वाणिज्य ,,	१५ समालोचना ,,
१६ खेती-बागवानी ,,	१७ इञ्जीनियरी ,,
१८ यन्त्र-साहित्य	१९ खादीग्रामोद्योग ,,
२० शिक्षण साहित्य	२१ व्यायाम खेलकूद ,,
२२ सिनेमा ,,	२३ युद्ध ,,
२४ सामयिक ,	२५ शासन
२६ यात्रा ,,	२७ व्यंग विनोद ,,
२८ विज्ञापन ,,	२९ लेखन ,,
३० इतिहास ,,	३१ पुरातत्त्व ,,
३२ सौंदर्य ,	३३ स्वास्थ्य ,,
३४ शिकार ,,	३५ आहार ,,
३६ कला-कौशल ,,	३७ अहिंसा ,
३८ गोरक्षा ,,	३९ धार्मिक ,,
४० सन्तान निग्रह ,,	४१ गृह-व्यवस्था ,,
४२ समाज-व्यवस्था ,	४३ अन्तर्राष्ट्रीय ,
४४ नैतिक ,,	४५ उत्सव-त्योहार ,,
४६ योग ,,	४७ राजस्थानी ,,
४८ वैदिक साहित्य	४९ संत ,,
५० कानून ,,	५१ पत्र ,,

मुझे यह दुहराने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि लेख 'जीवन' को सामने रखके लिखे जायें।

सस्ती ख्याति

हमारे सार्वजनिक जीवन में सस्ती ख्याति की बीमारी जड़ पकड़ती जा रही है। तब 'साहित्य क्षेत्र' उससे वंचित कैसे रह सकता है? थोड़ा व्याख्यान देना आ गया, लच्छेदार भाषा में लेख लिखना सीख गये, एकाध बार जेल के दर्शन कर आये किसी सभा या जल्से में सभापति बन गये, किसी कारणवश इधर उधर तारीफ होने लगी, बस हम समझने लगते हैं कि हम प्रशंसा और ख्याति के पूरे अधिकारी हो गये। इस नाम के साथ फिर मान का भी भूत सिर पर चढ़ने लगता है। ऐसे सस्ती कार करने पर, उसमें काट छांट करने पर, भाषण का अवसर न देने पर, कमेटियों में न लेने पर, आदर-पूर्वक आव भगत या बातचीत तथा विज्ञापन या प्रशंसा न करने पर लोगों के नाराज होने के अवसर मुझे मिले हैं और मिलते रहते हैं। उचित बात और योग्य व्यक्ति की कद्र करना प्रत्येक जिम्मेदार आदमी का फर्ज है, परन्तु अपनी योग्यता या कीमत को बढ़ा चढ़ा कर आंकना या समझना और कम दाम मिलने पर नाराज होना, और आपे से बाहर हो जाना भी बड़ा दोष है, जिससे प्रत्येक उन्नतिशील व्यक्ति को बचने का यत्न करना चाहिए।

सेवा और सत्कार्य करना हमारे जिम्मे है, कद्र और प्रशंसा करना लोगों के जिम्मे है। हम अपने जिम्मे का काम छोड़कर लोगों की जिम्मेदारी को सिर पर लेने लगेंगे तो हमारी रही-सही पूँजी भी घट जायगी। यदि हम योग्य हैं, हमारा काम अच्छा है तो हमें यह विश्वास रखना चाहिए—और हमें विश्वास रहेगा ही—कि लोगों को आज नहीं तो कल हमारी कद्र करनी पड़ेगी। यदि हमारी आशा-अपेक्षा से कम दाम लोगों की तरफ़ से हमें मिलते हों, तो हमें खुद ही गहराई के साथ आत्मनिरीक्षण करना चाहिए, न कि लोगों को उसके लिए जिम्मेदार ठहरा कर उन्हें कोसना चाहिए। भला पारस या सोने के टुकड़े को कोई भी पनाले में पड़ा रहने देगा?

जैसे सस्ती चीज अन्त में महँगी पड़ती है वैसे ही सस्ती ख्याति भी अन्त में बड़ी महँगी साबित होती है। वह हमारे मन में एक मिथ्या महत्त्व का भाव पैदा कर देती है, जिसे निबाहने में हम अन्त को असमर्थ सिद्ध होते हैं और बदनाम हो नीचे गिरने की नौबत आती है। उस समय की निराशा, चिन्ता, व्याकुलता, बदनामी, हानि आदि से बचना हो तो सस्ती ख्याति से प्रत्येक साहित्य सेवक और जन-सेवक को सदैव बचना चाहिए।

ह० उ०

मण्डल की ओर से—

तीन नई पुस्तकें

'मण्डल' इस वर्ष कृषि, गोपालन और आरोग्य पर तीन मौलिक पुस्तकें लिखवाना चाहता है। २०×३० १६ पेजी पायका टाइप में छपे ३०० पृष्ठों की पुस्तक कृषि पर और २०० पृष्ठों की गोपालन और आरोग्य पर होनी चाहिए। कृषि की पुस्तक पर ५००) और आरोग्य और गोपालन की पुस्तकों पर ३०० ३००) पारिश्रमिक देना 'मण्डल' ने तय किया है। पाण्डुलिपि फुल्सकेप साइज के कागज पर एक तरफ लिखी और दोनों तरफ पूरा हाशिया छोड़कर अच्छे अक्षरों में लिखी होनी चाहिए। उपरोक्त पुस्तकों की पाण्डुलिपि 'मण्डल' के मंत्री के पास दिसम्बर के अन्त तक पहुँच जानी चाहिए।

इनकी जाँच के लिए 'मण्डल' उन-उन विषयों के अनुभवी तथा विद्वान् लोगों की एक कमिटी नियुक्त करेगा। कमिटी जो ग्रंथ पसन्द करेगी, उसे मण्डल छः महीने के अन्दर प्रकाशित करेगा। पारिश्रमिक का आधा रुपया पाण्डुलिपि पास हो जाने पर और आधा रुपया प्रकाशित हो जाने पर दिया जायगा। इन पुस्तकों का कॉपी-राइट 'मण्डल' के पास रहेगा। पर दूसरे संस्करण पर लेखक को कुछ रॉयल्टी देने की व्यवस्था पर भी विचार हो रहा है। पुस्तक की क़ीमत 'मण्डल' १) और ॥।) आना रक्खेगा।

इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करनी हो, तो 'मण्डल' के मंत्री को लिखना चाहिए।

नवीन प्रकाशन

बापू, खादी मीमांसा, मेरी मुक्ति की कहानी तथा समाजवाद पूँजीवाद इन तीन पुस्तकों की छपाई समाप्त हो गई है। ये अक्तूबर में प्रकाशित हो जायेंगी। नवम्बर के 'जीवन साहित्य' के अंक में हम मण्डल के स्थायी ग्राहकों को इनकी सूचना दे सकेंगे। इस बार जिन ग्राहकों के नाम काटे जाने की सूचना दी गई थी, वे अपने नाम नहीं कटवाना चाहते हों, तो पिछले अंक में तथा इस अंक में भेजे गये कार्ड को भरकर तुरन्त भेज दें।

स्थायी ग्राहकों को सूचना

जिन स्थायी ग्राहकों के नाम काट जाने की सूचना पिछले अंक में दी गई थी, उनमें से बहुत कम के उत्तर आये हैं। जिन्होंने उत्तर नहीं भेजे हैं, उनसे फिर प्रार्थना है कि कार्ड भर कर भेज देने की कृपा करें।

उनमें से कुछ को पिछले अंक में कार्ड नहीं भेजे जा सके। उनको इस अंक में जा रहे हैं। इन सबसे प्रार्थना है कि सब अपने-अपने कार्ड भरकर भेज दें।

'जीवन-साहित्य' के ग्राहक होनेवालों से

'मण्डल' के जिन ग्राहकों के पास 'जीवन साहित्य' के ग्राहक होने की सूचना गई थी उनके आशा से अधिक उत्तर आये हैं। फिर भी जिन लोगों ने कार्ड भरकर नहीं भेजा हो, वे भी शीघ्र ही भरकर भेज देने की कृपा करें।

गांधी-जयन्ति की रिआयत

इस अंक में अन्यत्र गांधी जयन्ति की रिआयत के नाम से जो विज्ञापन निकला है, उसके अनुसार मण्डल के प्रधान कार्यालय, दोनों शाखाओं, कानपुर की एजेन्सी तथा संयुक्त प्रांत, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रांत, राजपूताना—मध्यभारत कलकत्ता दिल्ली लाहौर आदि के चर्खा-संघ के खादी भण्डारों से कूपन भरकर देने पर रिआयती मूल्य में पुस्तकें मिलेंगी। यह ध्यान में रहे कि कूपन भरना आवश्यक होगा।

एक सुन्दर भेंट

इस महीने के अंत तक मण्डल से प्रकाशित होनेवाली सर्वोदय साहित्य माला तथा लोक साहित्य माला की पुस्तकों की संख्या १०० हो जावेगी। नवजीवन माला, सामयिक साहित्य माला, बाल साहित्य माला विविध प्रकाशन और बाल एजेंसी की पुस्तकें अलग हैं। इन सब की

सख्या मिलाकर कोई १३४ के होती है। इनमें ३२ पुस्तक अप्राप्य है। बाकी बची १०२ पुस्तकों का मूल्य ८०) के लगभग होता है। इन सारी पुस्तकों की पृष्ठ-सख्या लगभग २६००० होती है। यह सारा सेट एक साथ मँगानेवाले सज्जन या सस्था को हम ६०) में देंगे।

उसके साथ एक सुन्दर पालिश किया हुआ शेल्फ भी मुफ्त में देंगे, जिसमें ये पुस्तकें सजाकर रखी जा सकें। इनको भेजने का रेल किराया भी 'मण्डल' देगा। आशा है पाठक, या शिक्षण-सस्थायें और पुस्तकालय इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

—मत्री

सुहृदों की नज़र में

(२)

"आशा करता हूँ कि उसके सिद्धहस्त और यशस्वी सम्पादक के प्रयत्न से 'जीवन-साहित्य' की गणना उच्चकोटि के मासिक-पत्रों में होगी। अवश्य ही 'जीवन साहित्य' हिन्दी के सामयिक साहित्य में एक बहुमूल्य वृद्धि करके उसका मुख उज्वल करेगा।"

बिलासपुर स्टेट (पंजाब)] —रामचन्द्र वर्मा

" जीवन साहित्य बहुत अच्छा निकला है। लेख बहुत सुन्दर विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्धक हैं। अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण जीवन से बिदककर भागते हुए साहित्य की जीवन से गँठ जोडी करने में 'जीवन-साहित्य' सफल होगा। जिस विकास को कुछ लोग केवल परिवर्तन के रूप में देखने के आदी हो गये है, उसमें परिष्कार का भी समन्वित कर सकेगा, इसका मुझ विश्वास है। यह भी आशा बँधती है कि उसके द्वारा परिष्कार के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में दमन नीति का सूत्रपात न होगा और 'जीवन-साहित्य' की विस्तृत परिधि अखण्ड बनी रहेगी।

आपकी सफलता की कामना के साथ।'

लखनऊ] —पीताम्बरदत्त बडथ्वाल

'मुझ इसी प्रकार की पत्रिका पसन्द है। दो रुपये मूल्य रखकर इसे आपने और भी लोको पयोगी बनाने का सद्प्रयत्न किया है, इसके लिए बधाई।

'आशा है, जिस भावना धारा का नेतृत्व 'त्यागभूमि' करती रही है, उसका यह सुचारु पूर्ति करेगी। मैं इसका सहर्ष अभिनन्दन करता हूँ।'

बिन्दकी (यू० पी०)] —सोहनलाल द्विवेदी

'उसके पृष्ठों में एक निश्चित उद्देश्य भाव झलक रहा है, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का "पृथिवी-पुत्र' लेख तो हृदय में घर करने लायक है। हिन्दी के साहित्यकार को वास्तव में 'पृथिवी-पुत्र' ही का नमूना बनना है।"

उदयपुर] —जनार्दनराय

'पढकर अत्यानन्द हुआ शुद्ध एवम् सात्विक विचारों का आदान प्रदान करने के लिए हिन्दी-साहित्य में बहुत कम पत्रिकायें है। मुझ यह देखकर प्रसन्नता होती है कि आपके अध्ययन, मनन और अनुभव का निचोड पाठकों को प्रति मास मिला करेगा। आजके इस कठिन, घर्षणशील वातावरण में इसकी बहुत आवश्यकता है। मैं आपके इस सदुद्योग की पूरी सफलता चाहता हूँ।"

नागपुर] —अनन्तगोपाल शेवडे

"'जीवन-साहित्य बहुत अच्छा निकला है। बधाई।'

जबलपुर] —गोविन्ददास मालपाणी

"'जीवन-साहित्य कुछ अंश में त्यागभूमि' की पुनीत स्मृति दिलाता है। आपका प्रधान कार्य जिस उद्देश्य से चल रहा है उसीका यह सुन्दर प्रतीक है।'

वृन्दावन] —भगवानदास केला

'जीवन साहित्य का प्रथमांक मिला। हाथ में आते ही देख डाला। बड़ा ही गुरुत्विपूर्ण पत्र है। हाथ से छूटना कठिन होगया। एक-न एक बढ़िया लगा है। मुझे इस पत्र को देखकर बड़ा ही सुख हो रहा है। मैं इसकी मगल कामना करता हूँ।

—गणेशदत्त "इन्द्र'

"कृतज्ञ हूँ। हिंदी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करने का आपने आयोजन किया है। हमारे जीवन में ऐसे पत्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। मेरी शुभकामना आपके साथ है। यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो सके तो मुझे सहर्ष स्वीकार होगी।"

मेरठ] —कमलादेवी चौधरी

"हमें तो लगता है कि 'जीवन-साहित्य' 'सर्वोदय' का अनुपूरक भाई होगा। 'सर्वोदय' में जो साहित्य और जीवन-दृष्टि मर्यादा में नहीं आ सकता, वह 'जीवन-साहित्य' देगा और हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान उत्तम कक्षा के सामयिकों में बना लेगा।

सौराष्ट्र कार्यालय, राणपुर] —निरंजन शर्मा

"आपने सम्मति माँगी है। समझ में नहीं आता कि क्या सम्मति दूँ। Stereotyped प्रशंसात्मक वाक्य लिखने को जी नहीं चाहता। केवल इतना ही लिखूँगा कि पत्र मुझे बहुत ही पसन्द आया।

बीकानेर] —नरोत्तम स्वामी

"बधाई। 'मालव मयूर', 'त्यागभूमि' और इन दोनों का विकसित और परिमार्जित स्वरूप 'जीवन-साहित्य' द्वारा हिन्दी प्रेमियों को देखने को मिलेगा। उसका अपना ढंग तो अनोखा है ही—क्या कहना!'

बम्बई] —गोपालकृष्ण पौराणिक

"हिंदी-साहित्य के निर्माण और प्रकाशन की इतनी सुथरी और निष्पक्ष विवेचना मैंने किसी अन्य पत्र में नहीं देखी। 'अहम्भाव' से भरे हुए हिंदी के अधिकांश लेखकों और प्रकाशकों को ठीक रास्ते पर लाने के लिए इस पत्र की आवश्यकता थी।

"आशा है 'जीवन साहित्य' को आप और भी उपयोगी बनाने की चेष्टा करेंगे।

प्रयाग विश्वविद्यालय] —रामकुमार वर्मा

"'जीवन-साहित्य' देखकर प्रसन्नता हुई है। आशा है, उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होगी।"

प्रयाग] —दयाशंकर दुबे

"जी० सा० बड़ा अच्छा निकला है। ऐसे पत्र की बड़ी आवश्यकता थी।'

काशी] —चन्द्रभाल जौहरी

"इसके लिए क्या कहना होगा? आपका नाम ही उसके साथ पर्याप्त है और 'त्यागभूमि' आज भी हिन्दी में स्मरण की जाती है। जी० सा० अपने ढंग का एक है। मैं तो यही चाहता हूँ कि यह भी 'त्यागभूमि' जैसा ही सर्वांगसुन्दर, पुष्ट कलेवर हो। मैटर की माँग बनी रहती है कि कुछ और होता तो उत्तम होता।"

उज्जैन] —सूर्यनारायण व्यास

"'जीवन-साहित्य' की सफलता हृदय से चाहता हूँ। परमात्मा उसे चिरजीवी करें।'"

काशी] — अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

"'जीवन-साहित्य' को देखकर जी में इच्छा उत्पन्न होती है कि हम भी ऐसा पत्र निकालें और 'जीवन साहित्य' का उलटकर संसार को वस्तुतः 'साहित्य-जीवन' से युक्त कर दें। मैं आपके पत्र की उन्नति चाहता हूँ। और चाहता हूँ कि यह पत्र साहित्य-सेवियों और साहित्य-जीवियों दोनों के लिए सुविधा से उपयोग में आने योग्य हो।

अजमेर] —जयदेव शर्मा

"पढ़कर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी संसार को इसका पथ प्रदर्शन अत्यन्त उपयोगी है। 'जीवन साहित्य' के केवल दो अंकों से ही उसकी उपयोगिता हिन्दी संसार महसूस करने लगा है। ऐसे गुणसम्पूर्ण और सुन्दर भविष्य का सन्देश देनेवाले पत्र की बड़ी आवश्यकता थी। 'जीवन साहित्य' से जहाँ एक ओर हिंदी की अभिवृद्धि होगी, वहाँ दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से भी हिन्दी लेखकों तथा साहित्यिकों का भला होगा। इसमें तनिक सन्देह नहीं। 'सस्ता साहित्य-मण्डल' और आप ऐसे सुन्दर और सार्थक पत्र के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं।

प्रयाग] —ज्योति प्रसाद मिश्र

(असमाप्त)